ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-१३

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
सोलहवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(कलश २६४ से २७८ तक)
प्रवचन क्रमांक ५६४ से ५७९

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्रायः लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है – ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा – 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? – उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 – इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है - उसका यथार्थ ज्ञान अपने को-मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही - यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है - एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये ? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई - वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी-पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस

प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समयसार सिद्धि, भाग-13, ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के परिशिष्ट के कलश 264 से 278 पर पूज्य गुरुदेवश्री के सोलहवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 564 से 579 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

उल्लेखनीय है कि पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के प्रवचन शक्ति क्रमांक 11 तक ही उपलब्ध होने से ग्रन्थ के प्रवचन पूर्ति हेतु इन कलशों के प्रवचन सोलहवीं बार के प्रवचन से समायोजित करके ग्रन्थ की पूर्णता की गयी है।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तत: समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से

मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में

कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा

पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
५६४	०२-०१-१९७१	कलश-२६४	००१
५६५	०३-०१-१९७१	कलश-२६४-२६५	०१९
५६६	०४-०१-१९७१	कलश-२६५	०३९
५६७	०५-०१-१९७१	कलश-२६५	०५३
५६८	०६-०१-१९७१	कलश-२६५	०६८
५६९	०७-०१-१९७१	कलश-२६५	०८५
५७०	०८-०१-१९७१	कलश-२६६	१०४
५७१	०९-०१-१९७१	कलश-२६७	१२४
५७२	१०-०१-१९७१	कलश-२६८-२६९	१४१
५७३	११-०१-१९७१	कलश-२६९-२७०	१५९
५७४	१२-०१-१९७१	कलश-२७०-२७१	१७६
५७५	१३-०१-१९७१	कलश-२७१	१९२
५७६	१४-०१-१९७१	कलश-२७२-२७३	२०९
५७७	१५-०१-१९७१	कलश-२७४, २७५, २७६	२२८
५७८	१६-०१-१९७१	कलश-२७६, २७७, २७८	२४५
५७९	१७-०१-१९७१	कलश-२७८	२६६

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - १३)

परिशिष्ट अधिकार

यह प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किये गये समयसार के १६वीं बार के प्रवचनों से लिये गये हैं।

प्रवचन नं. ५६४, श्लोक-२६४ शनिवार, पोष शुक्ल ५
दिनांक - ०२-०१-१९७१

२६४ कलश। शक्तियाँ पूरी हुई। क्या कहा इसमें ? कि यह आत्मा जो है, आत्मा, वह शक्तिवान है और उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। वस्तु आत्मा है, वह इस शरीर, कर्म से भिन्न और पुण्य-पाप के विकल्प के राग से भी भिन्न वस्तु है। उस चीज़ में अनन्त-अनन्त संख्या से शक्तियाँ अर्थात् गुण रहे हुए हैं। उन अनन्त-अनन्त शक्तियों का भण्डार एकरूप आत्मा, उसे द्रव्य कहते हैं। ऐसी अनन्त शक्तियाँ हैं। एक-एक शक्ति में... जीवत्वशक्ति से चलते हुए ठेठ तक आया, स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति। अन्तिम शक्ति आयी न ?

यह आत्मा है, वह वस्तु है, उसकी शक्तियाँ पवित्र, वह भी अनादि अविनाशी गुण है और जिसे यह आत्मा स्वीकार में आया; अनादि से तो राग और पुण्य और शरीर तथा

अल्पज्ञपना, वह मैं हूँ, ऐसी रुचि है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह संसार में भटकने की दु:खदृष्टि है, चौरासी के परिभ्रमण में अवतार का वह कारण है। अंश जो आत्मा का एक अंश विकास है और उघाड़, इतना मैं; दया, दान, व्रत, के विकल्प हैं, वह मैं हूँ, और निमित्त संयोगी चीज़ है, वह मैं हूँ। जो इसमें (आत्मा में) नहीं, तीनों इसमें नहीं। समझ में आया? उसे इतने को अपना मानकर, अपना जो अनन्त शक्ति से भरपूर पवित्र स्वभाव, उसे आड़ मारकर, अनादर करके, ऐसे भाव को, पुण्य-पाप के भाव को या अल्पज्ञ अवस्था को या संयोग को अपना मानता है, वह दु:खी, दु:खदृष्टि, मिथ्यादृष्टि अज्ञान है। तब उसका वास्तविक स्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहा कि एक समय में आत्मा—वस्तु में अनन्त शक्तियाँ बसी हुई हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द। अन्तिम शक्ति स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति आयी।

वस्तु आत्मा है, वह आत्मा का अपना स्व है। उसमें आनन्द आदि गुण हैं, वे भी आत्मा का स्व है और उन गुण की परिणति, निर्दोष धर्म की अवस्था होना, वह भी स्व है। यह द्रव्य-गुण और पर्याय जो स्व, उनका वह स्वामी, उनका वह मालिक है, ऐसी आत्मा में एक शक्ति—गुण है। समझ में आया? यह राग और पुण्य के भाव को मेरा मानकर स्वामी हो, वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, वह जैन नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : कठिन लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन पड़े या न पड़े, ऐसा है, मार्ग यह है। नहीं तो करो निर्णय, लाओ न्याय, न्याय तो देखोगे न!

वस्तु के दो भाग, एक त्रिकाली भाग, उसका धर्म यह आत्मा भाववान। और एक अल्पज्ञदशा और राग, पुण्य-पाप और संयोग, यह दूसरा भाव। वह इस पहलू में तो अनादि से चढ़ा है। मिथ्यात्वभाव है, भाई! क्या हो? भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड, और एक-एक गुण की अचल अनन्त महिमा और उनका अनन्त प्रभाव। उसे भूलकर अनादि से जैन का साधु हुआ, नग्न मुनि हुआ परन्तु दृष्टि पर्याय, राग और निमित्त पर (रही)। वस्तु जो पूरी चिदानन्द भगवान, उसे दृष्टि में नहीं लिया। समझ में आया?

पंच महाव्रत पालन किये, करोड़ों-अरबों के दान किये, भाव—दान का भाव किया। सेठ! दान नहीं किया, हों! दान का भाव किया। पैसा-बैसा कोई दे नहीं सकता, ले नहीं सकता। वह तो जड़ है, ऐसे राग की मन्दता के शुभभाव अनन्त बार हुए हैं। वह

तो राग है। वह तो आत्मा के अमृतस्वरूप भगवान आत्मा, अमृत अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप जिसका है, उससे वह शुभराग विरुद्ध है। विरुद्ध का स्वीकार करके अनादि (से) अनन्त बार ऐसे मिथ्यात्वभाव सेवन किये। शास्त्र के पठन भी अनन्त बार किये। जिन दीक्षायें अनन्त बार लीं, अनन्त बार नग्न का साधु, आचार्य भी हुआ। शास्त्र का अवलोकन भी अनन्त बार किया। चेतनजी! उसमें आता है न? श्रीमद् में यह आता है।

मुमुक्षु : सन्त की अमृतवाणी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसमें आता है। पृष्ठ ८६, भाई को बताया था। ... नहीं? परसों या दो-तीन दिन पहले। पृष्ठ ८६ है। देखो! पृष्ठ ८६। अनादि काल से... परन्तु वह जो है, वह ७६ में होगा, नहीं? मन्द आग्रह आदि... अनन्त बार... यह बताया था, वह दूसरी गाथा थी। **'अनादि काल से जीव उल्टे मार्ग में चला है... उसे सच्चा मार्ग सूझा नहीं।** कि जिसने जप, तप, शास्त्र अध्ययन इत्यादि अनन्त बार किया है। जप, तप किये। श्रीमद् कहते हैं। भाई को पुस्तक दी? .... इसका सार निकाला हुआ है। जप, तप, शास्त्र इत्यादि अनन्त बार किये, तथापि जो कुछ भी अवश्य करनेयोग्य था, वह इसने नहीं किया।

मुमुक्षु : जो करनेयोग्य था, वह नहीं किया और जो नहीं करनेयोग्य था, वह किया, एकदम उल्टा।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकदम उल्टा। ... तुम्हारे कलकत्ता के। ... उनके पुत्र। वह जप बहुत करता है। वह वीर्यवाला व्यक्ति है। आहाहा! जो इसने नहीं किया, जो अवश्य करनेयोग्य था वह इसने नहीं किया कि जो प्रथम बतलाया है कि आत्मा आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य का इसमें अनुभव और दृष्टि कभी नहीं की और इसके बिना यह सब किया, समझ में आया? अनन्त काल हुआ, जीव को संसार में परिभ्रमण है और उस परिभ्रमण में इसने अनन्त ऐसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन किये ज्ञात होते हैं, तथापि जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध हो, ऐसा एक भी साधन हो सका हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। ऐसे जप, तप या वैराग्य अथवा दूसरे साधनों से मात्र संसार ही फला है। बोलो... यद्यपि अब तो इनको थोड़ा-थोड़ा गुजराती समझ में आता है । यह तो अब आया। ऐसा हुआ वह किस कारण से? यह बात अवश्य बारम्बार विचारनेयोग्य है।

मुमुक्षु : पर्यायबुद्धि...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लिखा है। इसने... अनन्त बार दीक्षा ली। ...

मुमुक्षु : ८१ पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो! ८३ में आया।

अनादि काल के परिभ्रमण में चौरासी के अवतार में अनन्त बार शास्त्र श्रवण किया।' शास्त्र श्रवण भी किया। कितने ही तो दुकान के कारण निवृत्त भी नहीं होते।

मुमुक्षु : थोड़ी देर शास्त्र श्रवण किया, वह पानी में जाये परन्तु क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त बार विद्याभ्यास... यह कहते हैं न?

मुमुक्षु : यह पठन नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पठन नहीं, यह कहते हैं। इसका पिता कहे, चल पढ़ने। अब पढ़े। ऐसे पठन अनन्त बार पढ़ा और कुछ याद नहीं रहा। यह पठन **अनन्त बार विद्याभ्यास...** शास्त्र अवलोकन, यह विद्याध्यास। एम.ए. ऐसी बड़ी-बड़ी डिग्री पूंछड़ा लगाया। ऐसा बड़ा अनन्त बार हुआ। महीने में पाँच-पाँच, दस-दस हजार का वेतन। अनन्त बार जिनदीक्षा (ली)। मुनि हुआ। क्या खबर? मुनि किसे कहना, इसका भान नहीं होता। प्रकाशदासजी! यह बताया था न? पृष्ठ ८३ है।

अनन्त बार जिनदीक्षा, अनन्त बार आचार्यपना,... बड़े साधु और आचार्य हुआ। **प्राप्त हुआ है। मात्र सत् मिला नहीं...** ज्ञानी, धर्मात्मा मिले नहीं और मिले हों तो सत् सुना नहीं। उन्हें क्या कहना है, यह सुना नहीं। **और सत् की श्रद्धा नहीं की।** अर्थात् क्या? सत् द्रव्यश्रुत त्रिकाली शुद्ध आनन्दधाम, वह सत् है। एक समय की अवस्था असत् है, राग असत् है, नास्ति है। ऐसा जो सत् त्रिकाली ज्ञायकभाव, उसकी श्रद्धा नहीं की। वह मिलने से उसे सुनने से, उसकी श्रद्धा करने से छूटने की बात का आत्मा से भनकार होगा... समझ में आया? आहाहा!

अनन्त बार शास्त्र अभ्यास, अनन्त बार विद्याध्यास, अनन्त बार दीक्षा और अनन्त बार आचार्य। जैन का पंच महाव्रतधारी बड़ा हजारों साधुओं का नायक (हुआ) परन्तु सत् जिसमें अमृत भरा है, ऐसा जो सत्। अमृत गुण है, वह सत् है और वस्तु भी है। वह सत्

त्रिकाली अविनाशी तत्त्व, उसका इसने आश्रय नहीं किया, शरण नहीं ली। उसे इसने यथार्थरूप से सुना नहीं। उसे इसने यथार्थरूप से शुद्ध चैतन्यस्वरूप ऐसी श्रद्धा नहीं की। समझ में आया? आहाहा! लोगों को तो भारी कठिन लगे।

ऐसा जो भगवान आत्मा, कहते हैं कि उसमें अन्तिम शक्ति वर्णन की। स्वभावमात्र स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति ऊपर है। अपना भाव अपना स्व और स्वयं उसका स्वामी, ऐसी सम्बन्धमयी शक्ति। समझ में आया? आहाहा! आत्मा को सम्बन्ध यदि हो। सं बं ध, उसे राग के साथ सम्बन्ध नहीं, एक समय की पर्याय के साथ भी पूर्ण सम्बन्ध नहीं। उसका एक शुद्ध द्रव्यस्वभाव, गुणस्वभाव और एक समय की निर्मल पर्याय / वीतरागी दशा, स्वयं वीतरागस्वरूप ही आत्मा है। निर्दोष स्वभाव का सागर आत्मा है। ऐसा आत्मा द्रव्य है, गुण है और उसकी निर्मल पर्याय... वीतरागी, हों! इन तीन का एकरूप, इन तीन का स्वपना, और ये तीन मेरे। ऐसा इसमें एक स्वस्वामीसम्बन्ध नाम का गुण है। समझ में आया? परन्तु राग तो मेरे सम्बन्ध में है, ऐसा मानना, यह स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, जब मुझे सम्बन्धमय है, ऐसा मानना—यह मिथ्याभ्रम अज्ञान में है। समझ में आया? यह भारी, भाई!

यह तो बाबा हो जाये, वह कहता है न हमारे? अमृतलाल धनबाद के। धनबाद के है न अमृतलाल। मोरबी के हैं। नहीं? मोरबी के हैं। धनबाद में रहते हैं। झरिया। पहले यहाँ रहते थे। वह कहे कि ऐसा? परन्तु बाबा ही है। सुन न! क्या कहते हैं यह? तुझे तेरे स्वभाव गुण और निर्मल पर्याय के साथ सम्बन्ध है। पण्डितजी! आहाहा! यह दया, दान, व्रत के विकल्प जो राग है, उनके साथ तुझे सम्बन्ध नहीं है। यह ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह हमारा सम्बन्धी है, यह हमारे अंगी हैं—ऐसा कहते हैं न? हमारे अंग हैं, हमारे अंग हैं। सब हमारे अंगी हैं। अच्छे मित्र-बित्र हों न, तो ऐसा बोले।

मुमुक्षु : आत्मज...

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मीय। धूल में भी आत्मीय नहीं। आत्मा के... ऐसा कहते हैं। यहाँ तो हमारी काठियावाड़ी भाषा में ऐसा कहते हैं कि यह सब हमारे अंगी हैं। पाँच अँगुली, भाई! हाथ शोभता है। एक अँगुली न हो तो शोभेगा? इसी प्रकार सब अच्छे कुटुम्ब, मित्र, हो और अंगी तो है। वे आवश्यकता पड़े, तब हमें खुद दें ऐसे हैं। मूर्ख है, कहते हैं। सुन!

मुमुक्षु : .....आकर खड़ा रहे न, नहीं तो कौन खड़ा रहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन खड़ा रहे ? बीमार पड़े और श्वास छूटे तो सब देखते रहें ऐसे बगुले की भाँति। भाई को क्या होता है ? भाई को नहीं होता, शरीर में होता है। परन्तु यह सब मानते हैं। आहाहा! अब तो बहुत अन्तिम स्थिति लगती है, हों! गुपचुप बोलते हैं, हों! डॉक्टर एकान्त में कह गया हो कि ध्यान रखना, जागते रहना। स्थिति जरा गम्भीर है। वह क्या भाषा कहलाती है ? सीरियस है। डॉक्टर ऐसा कहे कि सीरियस है, ध्यान रखना। अरे! परन्तु ध्यान रखकर तुम करोगे क्या ? वहाँ आवाज डालोगे क्या वहाँ ? किसका सम्बन्ध है तुझे ? आहाहा!

उसका स्वभाव आनन्दमूर्ति प्रभु! ज्ञान का सागर है। उसकी दृष्टि देने से ज्ञान की और आनन्द की दशा होती है, वह इसका स्व और यह उसका सम्बन्ध है। आहाहा! समझ में आया ? उसका स्वसम्बन्धशक्ति ऐसा गुण आत्मा में है। अनादि का गुण है। परन्तु उस गुण के सन्मुख इसने देखा नहीं। आहाहा! अन्तर्मुख में देखने से आत्मा में अन्तर्मुख में ऐसी अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। उन अनन्त शक्ति का भण्डार। **इत्यादिक...** शब्द पड़ा है अन्तिम। अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है। दूसरी बहुत अपने तब एक बार डाली थी। ३७ ली थी। ४७ और ३७ = ८४। इतनी शक्तियाँ लीं।

जैसे कि इसमें एक समकित शक्ति नहीं है, श्रद्धाशक्ति आयी नहीं। उसे सुख में मिला दी है। समझ में आया ? सुख नाम का जो गुण वर्णन किया न, उसमें उसे मिला दिया है। परन्तु आत्मा में श्रद्धा नाम का एक गुण है, जो समकित की पर्याय का परिणमन करनेवाला वह गुण है। धर्म की पहली वीतरागी समकित का परिणमन अवस्था, वह श्रद्धागुण के कारण होती है। आहाहा! भगवान आत्मा वस्तु, उसमें श्रद्धा नाम की एक शक्ति अर्थात् अविनाशी गुण, हों! उस श्रद्धागुण के कारण द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन की निर्मल अवस्था होती है, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय, श्रद्धागुण और द्रव्य, तीनों मिलकर प्रमाण आत्मा का विषय इतने में कहने में आता है। आहाहा! ऐसी धर्मकथा... समझ में आया ? वीतराग का धर्म तो ऐसा है, बापू! लोगों ने कल्पित करके अनेक प्रकार का माना है। अजैन को जैनरूप से माना है। आहाहा!

रजकण-रजकण यह परमाणु। 'रजकण तेरे भटकेंगे जैसे भटकती रेत।' जैसे रेत

उड़ती है, आँधी का तिनका उड़ता है, वैसे यह परमाणु उड़ जायेंगे। यह कहाँ तेरी चीज़ और यह कहाँ तुझमें है ? यह तो जगत के रजकण मिट्टी का गोबर का ढ़ेर है यह। मोढ़वुं समझते हो ? गोबर का काण्डा होता है न ? गोबर। ढ़ेर बनाते हैं न ? उसे यहाँ हमारी काठियावाड़ी भाषा में मोढवुं कहते हैं। इसी प्रकार यह रजकण का, धूल का ढ़ेर है। जहाँ अवस्था पूरी हुई, वहाँ एकदम-एकदम रजकण बिखर जायेंगे। ऐसे तुझमें अनन्त गुण हैं, वे कभी बिखरें, ऐसा है नहीं। आहाहा! उन अनन्त गुण का ढ़ेर आत्मा है। आहाहा!

धर्म इसके वस्तु के स्वभाव में पड़ा है। धर्म कहीं बाहर से नहीं आता। आहाहा! श्रद्धा नाम का गुण है, उस गुण का धारक आत्मा है। उस आत्मा का स्वीकार करने से श्रद्धागुण की पर्याय वर्तमान में समकितरूप परिणमे, इसलिए श्रद्धागुण, द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों में व्याप्त है। समझ में आया ? यह इत्यादि शब्द पड़ा है न ? यह समस्त शक्तियाँ उसमें आती है।

इसी तरह चारित्र नाम का गुण इनमें नहीं आया। सुख में समाहित कर दिया है। वह चारित्र नाम की शान्ति, स्थिरता, वीतरागता की शक्ति आत्मा में पड़ी है। चारित्र अर्थात् वीतरागी दशा। परन्तु चारित्र की वीतरागी दशा, वह चारित्रगुण जो त्रिकाल आत्मा में है, उसका धारक भगवान आत्मा है, ऐसा द्रव्य वस्तु... 'वस्तु वहोरजो रे...' उसमें आता है न ? 'दोसीडानी हाटे...' उस गीत में आता है, यह विवाह करे तब। क्या कुछ ऐसा आता है ? ऐसा कभी सुना होगा।

मुमुक्षु : वह आगे गया होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आगे गया होगा। अब नहीं होगा। यह तो ६० वर्ष पहले की बात है। 'वस्तु वहोरजो दोशीडाने हाटे...' वह वस्तु वहोरजो रे आत्मानी दुकानने हाटे। आत्मा में वस्तु है, अन्यत्र वस्तु है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? यह चारित्र नाम की एक आत्मा में शक्ति अर्थात् गुण है, कि जो गुण वीतरागभाव से स्थित है। समझ में आया ? ऐसा गुण और आत्मा गुणी तथा उस गुणी का स्वीकार होने से उस गुण का-चारित्रगुण का परिणमन अर्थात् अवस्था—वीतरागीदशारूप होना, इसका नाम चारित्र है। यह शरीर की क्रिया और पंच महाव्रत के विकल्प हैं, वे चारित्र नहीं हैं। समझ में आया ? यह चारित्रगुण द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों में व्यापक है। आहाहा! इत्यादि शब्द पड़ा है न ? उसमें बहुत

अधिक शक्तियाँ आती हैं। यह चारित्रगुण की पर्याय वीतरागरूप हो, वह अपना स्व है। बीच में पंच महाव्रत के विकल्प आवें, वह इसका स्व नहीं; उनका यह धर्मी स्वामी नहीं। इस राग का-पंच महाव्रत का मालिक आत्मा नहीं। इनका मालिक होने जाये तो मिथ्यादृष्टि होता है। आहाहा! भारी काम, भाई!

स्वयं भगवान आत्मा तीर्थंकर ने जो केवली ने प्रगट किया, परमेश्वर जिन्हें तीन काल का एक समय में ज्ञान है, ऐसे वीतराग परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जो अपनी शक्ति को पूर्ण प्रगट किया, उनकी वाणी में ऐसा आया, भगवान! तू आत्मा है न, प्रभु! तुझमें चारित्रशक्ति तो अनादि की है। उसकी व्यक्तता तूने प्रगट नहीं की। आहाहा!

शान्तरस का स्वरूप वह चारित्र है। आत्मा में शान्तरस है। उस शान्तरस का धारक शान्तिनाथ आत्मा स्वयं है। उस शान्ति का नाथ आत्मा है। इतना बड़ा आत्मा! हमारे भगवानजीभाई कहते थे। वे रामजीभाई के मित्र थे। वह कहते कि यह धोया हुआ मूले जैसा ऐसी महिमा करते हो तो गया कहाँ? भगवानजी वकील थे। ऐसे और ऐसे।... और कमा-खाये परन्तु ... गया कहाँ परन्तु? परन्तु तू ही है वहाँ। किन्तु इसे अपनी खबर नहीं। चारित्रगुण का धारक भगवान में अनादि अविनाशी गुण है। गुणरूप से, हों! और यह जो प्रगट वीतरागी पर्याय होती है, वह तो एक समय की अवस्था है।

चारित्रगुण अविनाशी, चारित्रगुण का धारक आत्मा अविनाशी और उसकी पर्याय है, वह एक समय की। ये तीनों मिलकर प्रमाण का विषय आत्मा गिनने में आता है। बीच में पंच महाव्रत के विकल्प, देह की क्रिया (हो), वह आत्मा नहीं, वह अनात्मा है। आहाहा! पंच महाव्रत के विकल्प तो आस्रवतत्त्व है, मैल है, दुःखरूप है। वे आत्मा नहीं। आत्मा तो सुखरूप आनन्द का सागर है। आहाहा! यह कहाँ! बाहर की वांथ भरता है, यहाँ से आनन्द मिलेगा... यहाँ से होगा... मिथ्याभ्रम में (पड़ा)। स्त्री में सुख है, पैसे में सुख है, धूल में शरीर अच्छा होवे तो सुख है, इज्जत में सुख है। बड़े मकान बनावे। हजीरा अर्थात् क्या? यह मकान। सेठ! बँगला। सेठ का बड़ा छह लाख का मकान है। उसको— शान्तिलाल खुशाल को गोवा में चालीस लाख का है। सुना है? भाई! पाणसणा के हैं। अपने दशाश्रीमाली बनिया है। चालीस लाख का मकान है। परन्तु धूल में क्या है? मकान चालीस लाख का, उसका या तेरा?

तेरा स्वरूप तो तुझमें आनन्द है, भाई! ऐसा मकान हो और झूले में झूलता हो, सोने के कड़ा हों... आहाहा! इसे कितना सुख लगे? ऐई! उसमें पाँच-पच्चीस अच्छे मेहमान आये हों और भाईसाहब झूले में बैठा हो, और स्त्री पुत्र को कहे जा... जा... तेरे बापूजी को बुला। यह अब मुझे पूड़ी और दूधपाक हो गये हैं। आहाहा! और वह खाने बैठे तब पंखा लेकर मक्खी उड़ाने बैठे। देखो! इसका सुख। यह मूढ़ अज्ञानी का सुख है। समझ में आया? ऐसा वहाँ नजर से देखा है, हों! कहाँ गये, भाई! जगजीवनभाई है या नहीं? आहाहा! वहाँ राणपुर में देखा था। नागरभाई खाने बैठे तो उनकी माँ पंखा ऐसे करे। नागर परषोत्तम, नहीं। यह नागरभाई, जगजीवनभाई के पिता। वहाँ राणपुर रहते थे न? नहीं वे... सब देखा है न यह तो (संवत्) १९७८ की बात है। ७८। ४७ वर्ष हुए। मक्खी न पड़े। आँख से न सूझे न इसलिए। कितना सुख! आहाहा! वहाँ तो जहर का दु:ख है। सुख तो भगवन आत्मा में है। वह आनन्द का धाम है, आनन्द का स्थान है। राग और आत्मा दोनों को भिन्न करने से... जैसे काशी में करवत रखते हैं न? उसे बैकुण्ठ हो, ऐसा वे लोग कहते हैं। धूल में भी नहीं होता परन्तु राग और आत्मा को वहाँ पृथक्—भिन्न करने से जो भेदज्ञान होता है और आनन्द आता है, इसका नाम काशी में करवत लेना कहलाता है। वह तो मरकर दुर्गति में चला जाये। समझ में आया?

अब अस्तित्व शक्तिरूप। थोड़ा-थोड़ा आ गया। अस्तित्व है। आत्मा में एक अभेद नाम का गुण है। वह इसमें नहीं आया। अभेद नाम का एक गुण है। यह पंचास्तिकाय और दूसरे कहीं है। और इसमें भी उतारा है, भाई! क्या कहलाता है? कलशटीका में थोड़े उतारे हैं। कलशटीका है न? उसके बाद उन भाई ने—बनारसीदास ने उतारे हैं। बनारसीविलास। २६४। उसमें नाम आते हैं। **अनेक निज शक्ति...** ऐसे शब्द हैं। अस्तित्व को वर्णन किया है, उसमें यह शब्द है। आत्मा में अस्तित्व नाम का गुण है। अस्तिपना—होनापना ऐसा एक गुण है। अस्तित्व—होनापना नाम का आत्मा में गुण है, कि जिस गुण की दृष्टि करने से उसकी पर्याय में उसकी निर्मल अवस्था का अस्तित्व रहे, ऐसा उसमें गुण है। समझ में आया? वस्तुत्व लिया है, वस्तुत्व। आत्मा में वस्तुत्व नाम का गुण है कि जो सामान्य-विशेषरूप निर्मलरूप से रहे, उसका नाम विशेष वस्तुत्व। आत्मा में सामान्यरूप से ध्रुव कायम (रहे) और विशेष निर्मल वीतरागी अवस्थारूप रहे, वह वस्तुत्वगुण का कार्य है।

प्रमेयत्व। यह उसमें आया है। परिणम्यपरिणामकत्व। प्रमेयत्व लिया था। अगुरुलघु लिया, एक सूक्ष्म शब्द ... सूक्ष्मत्म नाम का एक गुण आत्मा में है। भाई ने बहुत लिया है। चिद्विलास। कैसे? दीपचन्दजी। उन्होंने बहुत लिया है। सूक्ष्मगुण बारम्बार (लिया है)। एक सूक्ष्म नाम का अतीन्द्रिय गुण है कि जिससे वह इन्द्रियग्राह्य है नहीं। और यदि सूक्ष्म न हो तो इन्द्रिय ग्राह्य होने से उसका माहात्म्य उड़ जाये। और भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ग्राह्य है। क्योंकि उसमें सूक्ष्म नाम का एक गुण है। आहाहा! समझ में आया? यह सूक्ष्मगुण शक्तिरूप है। यह द्रव्य-वस्तु इसका—शक्ति का धरनेवाला है। ऐसे आत्मा की दृष्टि होने से सूक्ष्मगुण का परिणमन वीतरागी सूक्ष्म अतीन्द्रिय परिणमन होता है, यह सूक्ष्मगुण का कार्य है। यह तीन होकर आत्मा कहने में आते हैं। यह द्रव्य-गुण और पर्याय।

ऐसे आत्मा की अन्दर द्रव्यदृष्टि होने से, पर्याय में परिणमन होकर निर्मलता उत्पन्न होती है, इन दोनों को जाननेवाले को प्रमाणज्ञान कहा जाता है। उसे प्रमाणपत्र दिया जाता है, कहते हैं। यह तुम्हारे पढ़ाई का प्रमाणपत्र देते हैं न? वह यह प्रमाण की व्याख्या है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, लो। यह भी लिया है। इसमें नहीं लिया। सैंतालीस नय में लिया है। आत्मा में कर्तृत्व नाम का एक गुण है। समझ में आया? अकर्तृत्व-भोक्तृत्व उसमें आ गया है। कर्तृत्व उन षट्कारक में इकट्ठा आ गया है। कर्ता में आ गया है न? वह कर्तृत्वशक्ति, भोक्तृत्वशक्ति, अप्रदेशत्व। यह ... आ गया है। अमूर्त भी आ गया है।

अनन्त गिननेवाले द्रव्य का सामर्थ्य। भाषा है। अनन्त गिननेवाला। एक, दो, तीन, ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में है। **इत्यादिक...** यह इसका अर्थ किया। इतने शब्द का। इत्यादिक... इत्यादिक... ऐसे स्वयंसिद्धत्व। आत्मा में एक स्वयंसिद्धत्व नाम का गुण है। अनादि अनन्त स्वयं अपने से साबित है। उसे सिद्ध करने, साबित (करने के लिये) दूसरे की आवश्यकता नहीं है। ऐसा उसमें एक गुण है। अज है, अज। कभी जन्मा नहीं। जन्मा नहीं, जन्मता नहीं, ऐसा इसमें गुण है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे गुण का भण्डार, ऐसा भगवान! अनेक शक्तियों से युक्त। है?

अनेक शक्तियों से युक्त... सहित **आत्मा है...** देखो! **'निर्भर:'** युक्त है न? यह शक्ति। **'निर्भर:'** का अर्थ किया न। यह नियुक्त का अर्थ करेंगे। सहित-सहित। यहाँ तो वापस दूसरा और आया। आया न? कि आत्मा वस्तुरूप से है, उसका निर्मल गुण है, और

उसकी निर्मल अवस्था से युक्त-सहित है। उसे पुण्य-पाप के रागवाला, शरीरवाला और कर्मवाला नहीं होने पर भी मानना, यह मिथ्यात्व और भव का बीज भटकने का है। समझ में आया? भारी धर्म, भाई! ऐसा कहते हैं। .... एकेन्द्रिय, दोन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के रास्ते जा। ... जीवहिया हो वहोविया। सत् को हो रहा। उसमें कुछ समझने का? ... कर डाला और सामायिक कर डाली, लो। धूल में भी सामायिक नहीं। अब सुन न! वहाँ मिथ्यात्व है। राग की क्रिया और शरीर की क्रिया मेरी, ऐसी मान्यता में पड़ा है, उसे तो मिथ्यात्व का पोषण होता है।

ऐसी **शक्तियों से युक्त आत्मा है, तो भी वह ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता।** क्या कहते हैं? ज्ञानस्वभाव है। जानना उसका स्वभाव है। वह अनेक शक्तिसहित होने पर भी, ज्ञानपना अविनाभाव से सब गुणों में भरा है, उस ज्ञानभाव को वह छोड़ता नहीं। **ऐसे अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं।** २६४।

कलश - २६४

'इत्यादि अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है, तथापि वह ज्ञानमात्रता को नहीं छोड़ता'-इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(वसंततिलका)

इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि,
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रं,
तद्द्रव्य-पर्यय-मयं चिदिहास्ति वस्तु ।।२६४।।

श्लोकार्थ : [इत्यादि-अनेक-निज-शक्ति-सुनिर्भरः अपि] इत्यादि (पूर्व कथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि) अनेक निज शक्तियों से भलीभाँति परिपूर्ण होने पर भी [यः भावः ज्ञानमात्रमयतां न जहाति] जो भाव ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ता, [तद्] ऐसा वह, [एवं क्रम-अक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रम्] पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप से

वर्तमान विवर्त से (रूपान्तर से, परिणमन से) अनेक प्रकार का-[द्रव्य-पर्ययमयं] द्रव्य पर्यायमय [चिद्] चैतन्य (अर्थात् ऐसा वह चैतन्यभाव-आत्मा) [इह] इस लोक में [वस्तु अस्ति] वस्तु है।

भावार्थ : कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, इसलिए वह एक स्वरूप ही होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है, फिर भी ज्ञान को जो कि असाधारणभाव है उसे- नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ-परिणाम-पर्याय ज्ञानमय ही हैं।२६४।

कलश - २६४ पर प्रवचन

इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि,
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रं,
तद्द्रव्य-पर्यय-मयं चिदिहास्ति वस्तु।।२६४।।

लो। यह वस्तु कही यहाँ, देखो! भगवान आत्मा एक वस्तु है। आहाहा! कैसी? **'इत्यादि-अनेक-निज-शक्ति-सुनिर्भरः अपि'** यह शब्द अलग है। अन्दर देखो! एक-एक पद का पृथक् किया है। **इत्यादि (पूर्व कथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि-इत्यादि) अनेक निज शक्तियों से...** देखो! **अनेक निज शक्तियों से...** अनेक शब्द से अनन्त। अनन्त निज शक्ति के गुण के सामर्थ्य से **भलीभाँति परिपूर्ण होने पर भी...** आहाहा! समझ में आया? तपेली में भलीभाँति दूध भरा होता है न? उसी प्रकार यह शक्तियाँ आत्मा में भलीभाँति भरी है। ऐसा नहीं? यह इनकार करते हैं। ऐसा नहीं। जैसे दूध में सफेदी भरी है, वैसे आत्मा में शक्तियाँ भरी हैं। दूध तपेली में पड़ा है और तपेली है, ऐसा नहीं। समझ में आया? शक्कर में सफेदाई और मिठास भरी है, वैसे। परन्तु शक्कर तपेली में पड़ी है, इसलिए वह तपेली शक्कर से भरपूर है, ऐसा नहीं। इसी प्रकार आत्मा की चीज़ में ऐसे गुण अन्दर (भरपूर हैं)। जैसे शक्कर में मिठास पड़ी है, वैसे आत्मा में ऐसी शक्तियाँ

अभेदरूप से है। आहाहा! निजघर को देखे बिना धर्म हो जाए, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा! भगवान केवली पुकार करते हैं कि तेरा आत्मा ऐसा है, भाई! तुझे खबर नहीं। भाषा क्या है, देखो!

अनेक निज शक्तियों से... अर्थात् निज गुणों से—अपने गुणों से **भलीभाँति परिपूर्ण होने पर भी... 'सुनिर्भरः'** भलीभाँति भरा हुआ अर्थात्? अभेद, अभेद आत्मा अनन्त गुण से। आहाहा! उसमें इसने कभी नजर नहीं की। पर्यायबुद्धिवाला वस्तु की बुद्धि करने को कभी निवृत्त नहीं हुआ। आहाहा! भारी काम, भाई! ऐसा करे तो हो, ऐसा कुछ आया नहीं। परन्तु यह करे तो हो, यह नहीं आया? ऐसा आत्मा है, उसके सामने नजर करे तो कल्याण हो। आहाहा! समझ में आया?

वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की यह वाणी है। ऐसा आत्मा गुण से भरपूर है, ऐसा **'सु'** और **'सुनिर्भरः' 'सुनिर्भरः'**। नि उपसर्ग डाला वापस। सु रीति से, भली रीति से भरा होने पर भी **'यः भावः ज्ञानमात्रमयतां न जहाति' 'ज्ञानमात्रमयतां' जो भाव ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ता,...** गुण में और स्वभाव में जानने का जो भाव है, वह कभी नहीं छूटता। शक्कर में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व गुण होने पर भी वह मिठास गुण को कभी नहीं छोड़ती। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि, यह जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व इत्यादि अनन्त शक्तियों से भरपूर होने पर भी ज्ञानमात्रभाव वह छोड़ता नहीं है। आहाहा! ज्ञानभाव उसका गुण है। वह ज्ञान अपने को जानता है, अनन्त गुण को जानता है, द्रव्य को जानता है और पर्याय को जानता है, सबको जानता है। आहाहा! समझ में आया?

बाहर से आँखें बन्द करके अन्दर में देखे तो ऐसा आत्मा है, यह कहते हैं। बाहर से आँखें अर्थात् यह आँख नहीं। राग, पुण्य, विकल्प को देखने जो ज्ञान रुका है... आहाहा! जो इसमें नहीं, उसे देखने रुका है। ज्ञान की वर्तमान प्रगट दशा का अंश जो है, ध्रुव तो अनन्त अविनाशी गुण है परन्तु उसका प्रगट अंश जो है, उसमें कायम की चीज़ नहीं है, उस अंश को ज्ञान देखने जाता है, वह अंश राग को देखने जाता है, वह ज्ञान का अंश परवस्तु को देखने जाता है, वह अटका हुआ ज्ञान है, विपरीत ज्ञान है, एकान्तिक ज्ञान है, मिथ्याज्ञान है। आहाहा! भारी बातें, भाई!

जो भाव ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ता, ऐसा वह, 'क्रम-अक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रम्' पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप से... आत्मा वस्तु है, उसमें ऐसे अनन्त गुण (रहे हुए हैं)। उसमें उसकी दशा जो निर्मल होती है, वह क्रम से होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, आनन्द की अवस्था एक के बाद एक, एक के बाद एक क्रम-क्रम से होती है। युगपद नहीं। क्या कहा? अनन्त गुण की पर्याय। ऐसे सम्यग्दर्शन की पर्याय के साथ सम्यग्ज्ञान की पर्याय, सम्यक्चारित्र की हो, ऐसा नहीं। परन्तु एक समय की पर्याय है, उसके साथ दूसरे समय की पर्याय नहीं होती। समझ में आया? अनन्त गुण की पर्याय एक समय में सब इकट्ठी है परन्तु एक समय की पर्याय के साथ दूसरे समय की पर्याय साथ में नहीं होती, क्रम होता है। समझ में आया? आहाहा! क्रम। यह क्रम लिया।

और अक्रम। युगपद एक साथ। आत्मा के साथ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, शान्ति इत्यादि जितने गुण हैं, वे अक्रम-युगपद साथ में हैं। गुण साथ है, पर्याय क्रम से है। एक के बाद एक होती है और गुण एक साथ हैं। पण्डितजी! आहाहा! इस क्रम-अक्रम में विकार नहीं लेना। एक के बाद एक निर्विकारी दशा हो, वह लेना। विकार-बिकार इसका स्वरूप ही नहीं है। इसमें यह बात है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? जो क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते अर्थात् कि आत्मा वस्तुरूप से एक, गुण—उसकी शक्तियाँ रूप से अनन्त, परन्तु वे अनन्त शक्तियाँ एक साथ वर्तती है। युगपद है। और उनकी पर्याय जो निर्मल हो, वह एक के बाद एक, एक के बाद एक क्रम से होती है।

क्रम और अक्रम से वर्तते। **विवर्त से (रूपान्तर से, परिणमन से)...** देखो! विवर्त हुआ। वेदान्त में यह भाषा आती है—विवर्त। परन्तु विवर्त है, वह व्यवहार है और भ्रम है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह सब विवर्त है। यह सब भ्रम है। वस्तु विवर्त नहीं होती, ऐसा नहीं है। वस्तु में अनन्त गुण अक्रम से युगपद होने पर भी, उसकी पर्याय में—अवस्था में क्रम-क्रम से, विवर्त अर्थात् परिणमना होता है, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? वेदान्त। यह वेदान्त विवर्त शब्द प्रयोग करता है। एक भाई आये थे और वे प्रयोग करते हैं। लाठीवाले दीपचन्दभाई। यह विवर्त है, (ऐसा) कहे। जिसमें जन्मे हों और यह... कठिन पड़े। वेदान्त में उनका जन्म है, इसलिए उनका अभ्यास बहुत

इसलिए यह सुने अवश्य। परन्तु झुकाकर ले-लेकर वहाँ ले जाये। फिर तो यहाँ महीने भर रहे थे। ले वहाँ जाये। कहे, यह सब विवर्त है। विवर्त है, वह वस्तु नहीं, ऐसा कहे।

एक समय की पर्यायरूप से वस्तु है। यह तो त्रिकाली की अपेक्षा से अवस्तु है। यह चिद्विलास में भाई ने लिया है। चिद्विलास में लिया है कि पर्याय वस्तु है या अवस्तु? स्व की अपेक्षा से वस्तु, द्रव्य की अपेक्षा से अवस्तु। अर्थात्? जैसे आत्मा है, यह वस्तु स्वयं, उसकी अपेक्षा से शरीर, बरीर सब अवस्तु है। आत्मा वस्तु है, इसकी अपेक्षा से शरीर आदि अवस्तु है। शरीर की अपेक्षा से शरीर वस्तु है, परन्तु इस आत्मा के निज स्वभाव की अपेक्षा से अवस्तु है। बराबर है? आहाहा! वस्तु स्वयं द्रव्य है तो उसकी अपेक्षा से यह सब द्रव्य, अद्रव्य है। आहाहा! यह द्रव्य वह नहीं, इसलिए अद्रव्य है। उसी प्रकार आत्मा का क्षेत्र असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र है। उसकी अपेक्षा से पर का क्षेत्र, वह अक्षेत्र है। ऐसे अपनी अवस्था से स्वयं स्व-अवस्था का स्वकाल, वह अस्ति है। उसकी अपेक्षा से परकाल की नास्ति है अर्थात् परकाल है ही नहीं। और स्वभाव की अपेक्षा से भाव है। अपनी अपेक्षा से दूसरा सब अभाव है। ऐसे यह चार द्रव्य में उतारे।

इसी प्रकार आत्मा में त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय नास्ति है, त्रिकाल में वह है नहीं। आहाहा! परन्तु पर्याय की अपेक्षा से पर्याय वस्तु है। अस्ति है न? कार्य ही वह है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वह कार्य है। वह कार्य भी एक पर्याय है, अवस्था है, सत् है। द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्—तीनों सत् हैं। आहाहा! भारी बातें, भाई!

सत् वस्तु, त्रिकाली वस्तु सत् है। उसकी यह शक्तियाँ-गुण भी सत् है और उनका निर्मल परिणमन—पर्याय भी सत् है। परन्तु एक समय की अवस्था है। इस अपेक्षा से, त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से अवस्तु, परन्तु स्वयं की अपेक्षा से तो वस्तु है। यह अज्ञानी ने माना नहीं। पर्याय ही नहीं। यह स्व की अपेक्षा से नहीं परन्तु उसकी अपेक्षा से नहीं—ऐसा नहीं है। उसकी अपेक्षा से न हो तो कार्य का वेदन नहीं हो सकता। आनन्द का वेदन तो पर्याय है। जैसे ध्रुव है, उसका वेदन नहीं होता। ध्रुव तो कूटस्थ है। समझ में आया? भारी कठिन काम। सर्व धर्म समन्वय करो, मेल करो। किसके साथ मिलावे यह? सत् के साथ असत् का मेल नहीं हो सकता।

कहते हैं, **पूर्वोक्त प्रकार से...** पूर्व+उक्त। पूर्व में कहे **प्रकार से क्रमरूप और**

अक्रमरूप से वर्तता... देखो! गुणरूप वर्तता और पर्यायरूप वर्तता, ऐसा। आत्मा वस्तु है, उसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि गुणरूप वर्तता है और उनकी हालत है, उस पर्यायरूप वर्तता है। अरे रे! ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय का (स्वरूप)। द्रव्य-गुण-पर्याय के नाम भी सुने न हों। दया पालो, दया पालो, व्रत पालो बस लो। परन्तु क्या? दया, व्रत कहना किसे? सुन तो सही।

कहते हैं **पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप से वर्तता...** भगवान आत्मा में युगपद अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि एकसाथ रहनेवाले और उनकी अवस्था एक के बाद एक होती है, वह होनेवाली भी उस प्रकार से वर्तती अवस्था है। कोई गधे के सींग की तरह नास्ति नहीं है। आहाहा! गधे के सींग नहीं, वैसे यह नहीं है।

मुमुक्षु : ....दृष्टान्त लिया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त दिया था न। वह दृष्टान्त दिया था न, भाई! चार का। बन्ध्या का पुत्र था, उसने गधे के सींग का बनाया जहाज और आकाश के फूल उसमें भरे और मृगजल में बहता छोड़ दिया। चारों मिथ्या। बांझ को पुत्र नहीं होता, मृगजल में पानी नहीं होता, आकाश में फूल नहीं होते और गधे को सींग नहीं होते। उसी प्रकार अज्ञानी की बात ऐसी सब, चार के सींग जैसी। जहाज भरकर चले। कहाँ निकले? मृगजल में गये। धूल में भी मृगजल नहीं। सुन न! मृगजल में पानी है, वह वहाँ तिरे? और गधे को सींग है, उनका जहाज बने? आकाश में फूल होते हैं, वह उसमें भरे? बन्ध्या को पुत्र होता है, वह वहाँ बैठे? समझ में आया? भारी बात, भाई!

कहते हैं, ऐसे आत्मा में गुण और पर्यायें... आहाहा! भाषा देखो न! पर्याय ली है। यहाँ प्रमाण का ज्ञान बताना है न? क्रम से प्रवर्तती पर्यायें अर्थात् अवस्थाएँ और अक्रम से युगपद रहनेवाले गुण, उनका जो वर्तना, उनका जो विवर्त **(रूपान्तर से, परिणमन से) अनेक प्रकार का...** पर्याय में अनेक प्रकार का (परिणमन)... सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि की पर्याय अनेक प्रकार की होती है। आहाहा! जो ऐसा वस्तु का गम्भीर स्वभाव को समझे नहीं, उसका ऐसा अस्तित्व है, उसे श्रद्धा में ले नहीं, उसको सच्ची श्रद्धा कहाँ से होती थी?

अनेक प्रकार का–द्रव्य पर्यायमय... लो। देखो! दोनों इकट्ठे लिये, देखा! **द्रव्य पर्यायमय चैतन्य...** भगवान आत्मा द्रव्य अर्थात् वस्तु से, गुण अर्थात् अविनाशी गुण और पर्याय अर्थात् क्षण-क्षण में बदलती अवस्था से। **चैतन्य (अर्थात् ऐसा वह चैतन्यभाव–आत्मा) इस लोक में वस्तु है।** देखो! यहाँ कहा कि पर्याय सहित का आत्मा, उसे वस्तु कहा गया है। समझ में आया? यहाँ सम्यग्दर्शन का विषय क्या है, यह यहाँ नहीं चलता। लो! आये हमारे सेठ! इसमें से निकालकर कहते हैं, देखो! दो आये।

मुमुक्षु : प्रमाण का विषय...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो प्रमाण का विषय... को... कहो, समझ में आया? आहाहा! द्रव्यदृष्टि तो ध्रुव है, वह दृष्टि है। सम्यग्दर्शन का विषय तो ध्रुव ही है। सम्यग्दर्शन की पर्याय, हों! श्रद्धा-गुण तो त्रिकाल है। सम्यग्दर्शन की जो पर्याय है, उसका विषय तो ध्रुव है। समझ में आया? परन्तु जहाँ ध्रुव का स्वीकार हुआ, तब सम्यग्दर्शन हुआ, वह पर्याय हुई। और उसके साथ सम्यग्ज्ञान हुआ, वह भी पर्याय हुई; उसके साथ स्वरूपाचरण की लीनता हुई, वह भी पर्याय हुई, उसके साथ स्वसंवेदन का आनन्द आया, वह भी पर्याय हुई। समझ में आया? एक घण्टे में ऐसा सब कितना याद रखना? घर की दुकान का ठिकाना कितना याद रखे? क्यों छोटेलाल! सब कितने भेद भंग सीखे होंगे, देखो! यह हमारे संस्कृत के प्रोफेसर हुए। यह ... याद किया करते हैं। थोथा कुछ नहीं था। याद-याद। यह कभी याद नहीं किया। क्या है यह? ऐसी महिमा करते हैं और ऐसा आत्मा, ऐसा आत्मा। लाओ न जरा (देखूँ तो सही)।

रानी पर्दे में होती है न, तब तक बहुत लगता है कि कैसी होगी? परन्तु पर्दे में से बाहर निकले तो खबर पड़े। यहाँ तो पर्दे में से बाहर निकले तो उसके सुन्दर रूप की खबर पड़े। आहाहा! यह ओझल कहते हैं न ओझल? ओझल नहीं समझते? रानी पर्दे में रहती है न? क्या कहते हैं? पर्दा कहते हैं न? हिन्दी शब्द है, यह जरा नहीं समझ में आता। तुम कहो यह गुजराती शब्द कैसा होगा? वह रानी पर्दे में होती है न, तब कहे, वह कैसी होगी? समझ में आया? वह पर्दा तूने तोड़ा नहीं। बाहरवाले रानी का पर्दा तोड़ने लगे अब परन्तु यह पर्दा तोड़ता नहीं।

द्रव्य पर्यायमय चैतन्य... चिद्भूत। **(ऐसा वह चैतन्यभाव–आत्मा) इस लोक में वस्तु है।** आहाहा! जैसे जगत के जड़ परमाणु एक वस्तु है, वैसे भगवान एक वस्तु आत्मा है, पदार्थ है, महाप्रभु है, अतीन्द्रिय महापदार्थ है। आहाहा! इसने उसे कभी रुचि से सुना नहीं। दूसरी बातें सुनने में इसे बहुत रस पड़ता है। पाँच हजार की आमदनी की बात कोई सुनावे, हें! ऐसे गहराई से हो। हें? क्या वह मरने का है, वहाँ क्या है? यह बात उसे... आहाहा! चैतन्य महाराजा महा आनन्द का भोग, प्रभु! आहाहा! अतीन्द्रिय सुख का साहेबा आत्मा, वह इस जगत में एक वस्तु है। दूसरी वस्तु देखने के लिये निवृत्त हो, इसे देख न, भाई! ऐसी एक वस्तु है, इसे देख न! बाहर का देखने की आँख बन्द कर। यह आँख नहीं, हों! अन्दर ज्ञान की आँखें। आहाहा! तब यह वस्तु एक आत्मा है। आहाहा! कठिन बात, भाई! द्रव्य और पर्याय....

'वस्तु अस्ति' है। **वस्तु है।** अरूपी है अर्थात्? अरूपी परन्तु वस्तु है। जैसे यह शरीरादि रूपी वस्तु है, वैसे भगवान (अरूपी वस्तु है)। जैसे स्फटिकमणि में दीपक ऐसे रखने से अन्दर प्रकाश... प्रकाश हो जाता है। वह प्रकाश अलग चीज़ है और स्फटिकमणि पत्थर अलग है। उसी प्रकार इसमें चैतन्य व्यापक प्रकाश का पुंज भिन्न है। शरीर का पिंजड़ा भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे आत्मा की अन्दर में दृष्टि करना, उसका ज्ञान करना और उसमें स्थिर होना, उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहते हैं। बाकी क्रियाकाण्ड में कुछ माल नहीं है। आहाहा! लो। ..... इसका भावार्थ कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५६५, श्लोक-२६४-२६५ रविवार, पोष शुक्ल ६
दिनांक - ०३-०१-१९७१

समयसार का परिशिष्ट है। २६४ कलश है।

इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि,
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रं,
तद्द्रव्य-पर्यय-मयं चिदिहास्ति वस्तु ।।२६४।।

कहते हैं, शक्ति का वर्णन हो गया। आत्मा, जिसे धर्म करना है, उसे आत्मा क्या है, यह उसे पहले जानना चाहिए। क्योंकि धर्म करनेवाला आत्मा कौन है ? जिसे हित करना है, वस्तु स्वयं आत्मा है, उसे हित करना हो तो उसमें हित का स्वभाव भरा हो तो हित हो सके। हित का स्वभाव कहीं बाहर से नहीं आता। समझ में आया ? यहाँ आत्मा की ४७ शक्ति का वर्णन किया। अर्थात् ? आत्मा वस्तु है, पदार्थ है। जैसे यह जड़ पदार्थ है, वैसे आत्मा भिन्न चीज़ अरूपी आनन्दघन वस्तु है। वह वस्तु एक परन्तु उसमें गुण-शक्ति अनन्त है। शक्ति अर्थात् उसका सत्व, उसका स्वभाव, उसका गुण, वह वस्तु एक और संख्या से गुण—शक्ति अनन्त है। यह अनन्त शक्ति का पिण्ड आत्मा है। वह आत्मा शरीररूप नहीं, वाणीरूप नहीं, कर्मरूप नहीं और शुभ-अशुभराग हो, उसरूप आत्मा नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं कि **'इत्यादि-अनेक-निज-शक्ति-सुनिर्भरः'** जीवत्वशक्ति, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख आदि वर्णन की और इसके अतिरिक्त विशेष स्वयंसिद्धत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व, अभेद, सूक्ष्म, ऐसे अनन्त-अनन्त गुण, ४७ के उपरान्त अनन्त (गुण) इसमें है। वस्तुरूप से एक और गुणरूप से उसमें अनन्त हैं। ऐसी **(पूर्व कथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि) अनेक निज शक्तियों से...** अनेक अर्थात् अनन्त। अपना स्वभाव सामर्थ्य शक्ति द्वारा **भलीभाँति परिपूर्ण होने पर भी...** समझ में आया ? आत्मा अरूपी ज्ञानघन वस्तु है। उसमें सुख, अस्तित्व, वस्तुत्व, स्वयंसिद्धत्व, कर्ता, कर्म, करण, विभुत्व, प्रभुत्व—ऐसी शक्तियाँ अर्थात् गुण कि जिस गुण का अचलपना, अनन्तपना, अनुपम,

ऐसा माहात्मय है। उस एक-एक गुण का अचल, अनुपम अनन्त माहात्म्य है।

मुमुक्षुः ...

पूज्य गुरुदेवश्री : जितने विशेष लागू पड़े उतन उसे।

अचल वह गुण है, वह कभी चलित नहीं हो, ऐसी चीज़ है। अनन्त है। जिसकी शक्ति का सामर्थ्य अनन्त है। अनुपम है। उसके गुण को कोई उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसी चीज़ है। उस चीज़ का जिसे भान नहीं, अनादि काल से यह दया, दान, व्रत आदि के विकल्प जो राग है न? वह राग मेरा है और वह मेरा कर्तव्य है, ऐसा मानता है। अभी ही अन्दर कहा था। उसे क्षय लागू पड़ा है। क्षय (टी.बी.) में यहाँ जीथरी (हॉस्पीटल में) बहुत बताने के लिये आते हैं, फोटो (एक्सरे) लेने और यह लेने। यहाँ दवाखाना यह राग का क्षयरोग मिटाने का यह है। आहाहा!

आत्मा में तो राग, विकल्प जो दया, दान, व्रत, पूजा का विकल्प उठे, वह राग है। वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। ऐसा जानना, उसका श्रद्धान करना, ऐसा आत्मा में गुण है। समझ में आया? ऐसी निज शक्ति से **'सुनिर्भरः'** ऐसा शब्द था। **भलीभाँति परिपूर्ण...** है वह भगवान। जैसे डिब्बे में मिश्री भरकर पड़ी हो, वैसे गुण हैं न?

मुमुक्षु : जिस प्रकार शक्कर में मिठास भरी है, उस प्रकार से?

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्कर डिब्बे में पड़ी है, ऐसे नहीं। डिब्बा और शक्कर दोनों भिन्न चीज़ है परन्तु शक्कर में मिठास और सफेदाई भरी है। एकदम जवाब देता है। उसी प्रकार इस आत्मा में सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ने देखा और कहा, कि इस आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, विभुता—ऐसी अनन्त-अनन्त शक्तियाँ अभेदरूप से... यह शब्द प्रत्येक में आता है। प्रत्येक में ऐसा आया था स्वशक्तिमय... स्वशक्तिमय... ... आ गया है। समझ में आया? आधारपनेमय। ऐसे मय... मय शब्द आया है। अभेद है। वस्तु है, उसके साथ ये शक्तियाँ, शक्तिवान के साथ शक्ति अभेद है। भाषा भी ग्रीकलेटिन (अटपटी) जैसी लगती है। कभी सुना नहीं कि धर्म क्या होता है और कैसे होता है? समझ में आया?

मुमुक्षु : आप यह धर्म की बात करते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसकी बात चलती है ? धर्म कैसे होता है ? जैनधर्म, वीतराग ने कहा हुआ धर्म कैसे होता है ? 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं' मांगलिक में आता है न ? पहाड़े बोल डाले, खबर नहीं होती कुछ। यह धर्म कैसे होगा ? कि धर्म यह वस्तु-आत्मा का स्वभाव है। इस स्वभाव की शरण लेने से प्रगट पर्याय में वीतरागता और शान्ति आवे, उसे धर्म कहा जाता है। समझ में आया ? तुम गुजराती भाषा तो बराबर समझते हो। प्रतापभाई ! बराबर समझते हैं। रात्रि में बोलते थे।

मुमुक्षु : भाषा गुजराती है। मुम्बई में रहते हैं, इसलिए डेढ़ गुजराती हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहे प्रतापभाई गुजराती समझते हैं। परन्तु वापस मुम्बई में रहते हैं, इसलिए गुजराती बराबर हो। आहाहा !

भगवान परमेश्वर ऐसा कहते हैं, यह तो अभी एक विचार ऐसा आया था। उस ओर गये थे न ! तीन पाण्डव शत्रुंजय से मोक्ष पधारे हैं न ? वह शत्रुंजय। पाँच पाण्डव थे। धर्मराजा, भीम, अर्जुन, सहदेव, नकुल। ये पाँचों नग्न दिगम्बर मुनि वहाँ ध्यान में खड़े थे। महीने-महीने के उपवास करते थे। आत्मा के ध्यान में आनन्द में मस्त थे। परन्तु राजकुमार थे, शरीर तो बहुत सुन्दर। उन्हें भगवान के पास जाना था। जाते-जाते खबर पड़ी कि भगवान तो मोक्ष पधारे। नेमिनाथ भगवान मोक्ष पधारे हैं, इसलिए महीने के उपवास थे। आनन्द में थे। पाँचों मुनि शत्रुंजय पर चढ़े। ऐसे ध्यान में अन्तर्मुख होकर आत्मा में आत्मा के ध्यान का ध्येय लगाया। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद लेते थे, निर्विकल्प अनुभूति करते हुए, अतीन्द्रिय आनन्द (लेते थे)। जिनका इन्द्रों को सुख नहीं, राजा-महाराजा को सुख नहीं, अरबोंपति राजा या सेठ कहलाये, वे सब भिखारी, वे सब आत्मा के आनन्द से खाली हैं। समझ में आया ? वे आनन्द में थे। उसमें-ध्यान में थे। दुर्योधन के भानेज ने आकर लोहे के (गहने पहनाये)। दो को संसार का और राग का विरोध था। धगधगते गर्म लोहे के गहने करके कड़ा पहनाये। पैर में क्या कहते हैं उसे ? तोड़ा। अपनी भाषा में तोड़ा कहते हैं। पैर में धगधगाते तोड़ा, सिर पर धगधगाते लोहे के मुकुट। अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त थे। तीन तो उसमें एकाकार होकर, केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष गये।

दो साधु थे सहदेव और नकुल छोटे, थे भावलिंगी सन्त परन्तु उन्हें जरा शुभराग

का विकल्प आया। अरे! इन भाई को क्या होता होगा? धर्मराजा, भीम, अर्जुन, पाण्डव बड़े योद्धा। आत्मा का भान हो गया और कहीं उनकी रुचि जमती नहीं थी। अन्दर स्वरूप में स्थिर होने को वनवास चले गये। वे तो दूसरे प्रकार से वनवास गये थे। यह वनवास साधु होकर चले गये। आनन्द में रहने के लिये। ऊपर ध्यान करते हुए तीन तो मोक्ष पधारे। और दो को जरा शुभराग का विकल्प आया। मुनि को क्या होता होगा? आहाहा! इस शुभराग से दो भव कर डाले। समझ में आया?

बड़े राजाओं के राजकुँवर बड़े थे। आत्मा के ध्यान में, आनन्द में मस्त थे। केवलज्ञान नहीं था। ध्यान अन्तर में लगाकर, उसमें तीन जनें तो मुक्ति को प्राप्त हुए। लोहे के वे हड... हड... हड... हड... आहाहा! वे राजकुमार, मक्खन जैसा शरीर, हाथी का... क्या कहलाता है? तलुवा। ऐसे तो कोमल, लाल शरीर, आहाहा! तीन मुनि वहाँ मुक्ति पधारे। दो को विकल्प / शुभराग आया, सेठ! कि इन तीन मुनियों को क्या है? पुण्य बँध गया। तैंतीस सागर की स्थिति। तैंतीस सागर तक केवल (ज्ञान) नहीं पायेंगे। आहाहा! दुनिया कहती है कि तैंतीस सागर सुख में गये न! अरे! भगवान! अन्तराय है, बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! यह स्वर्ग के सुख, यह राग के अंगारे हैं। दुनिया को भान नहीं। ये पैसेवाले जो करोड़, पाँच करोड़, अरबपति कहलाते हैं, वे सब अन्दर दु:खी हैं। उसका इसे भान नहीं है।

मुमुक्षु : अन्दर और बाहर दो दु:खी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में तो और संयोग दिखाई दे, इसलिए दुनिया ऐसा कहे कि ओहोहो! उनके पास पच्चीस करोड़ और धूल करोड़ और यह धूलधाणी। अन्दर में राग और द्वेष के-विकल्प के जाल से सुलग रहे हैं। आहाहा! बराबर होगा यह?

मुमुक्षु : परन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहोहो! वस्तुस्थिति ऐसी है, ऐसा कहता है। ऐई! रसिकभाई! यह इनके दादा बैठे हैं, देखो! वस्तुस्थिति ऐसी है, ऐसा कहता है। ऐसा होगा? अरे! ऐसी वस्तुस्थिति क्यों नहीं बैठती हो? ऐसा शुद्ध भगवान आत्मा... समझ में आया? आहाहा! यह कहते हैं कि अशुभभाव की ज्वाला सुलगती है। पैसेवाले को, इज्जतवाले को अशुभभाव

की अग्निदाह अन्दर सुलगती है। परन्तु भान नहीं है। सन्निपातिया को सन्निपात के रोग में दाँत निकाले (हँसे), वह सुखी है? सन्निपात। सन्निपात समझते हो? वात, पित्त और कफ। तीनों बिगड़ जाए तो सन्निपात हो जाए। तीनों का जुड़ान हो। ऐसे अनादि के अज्ञानी को मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण का सन्निपात लगा है। जैसे सन्निपातिया दाँत निकालता है, वैसे यह दाँत निकाले कि हम सुखी हैं। ऐसे दोनों एक जाति के हैं। आहाहा!

यहाँ तो दो विचार आये थे कि जब ऐसे परमात्मा स्वयं शुद्ध आनन्द का धाम, उसका स्वरूप ही वीतरागस्वरूप है। वीतरागस्वरूप है तो वीतरागता उसमें से प्रगट होती है। राग, पुण्यस्वभाव उसका स्वभाव नहीं है। अरे! साधर्मी के प्रति, धर्मात्मा के प्रति, सन्तों के प्रति ऐसा एक शुभराग आया। तैंतीस सागर स्वर्ग में कषाय के अंगारे हैं और वहाँ से निकलकर मनुष्य, राजकुमार आदि होंगे और केवल (ज्ञान) पायेंगे। एकावतारी है। वहाँ से एक भव करके मोक्ष पधारेंगे। परन्तु उससे वह राजकुमार और अरबोंपति में अवतरित हो, परन्तु उसका लक्ष्य पर के ऊपर जितनी वृत्ति है, इतने अग्नि के अंगारे हैं। आहाहा! और यहाँ तीर्थंकरगोत्र का। पण्डितजी! आहाहा! विकल्प—शुभराग, शुभोपयोग (आया, उसमें) दो भव किये। आहाहा! क्या है? भाई! यह तेरा स्वयप नहीं। ऐसे तीर्थंकरगोत्र का भाव बाँधा, उसे दो भव करने पड़ेंगे। इस भव में केवल (ज्ञान) नहीं पायेगा। आहाहा! गजब बात है न! लोग प्रसन्न हो जाते हैं।

मुमुक्षु : परन्तु वह सिक्का देता है मोक्ष का।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह सिक्का देता है या अन्दर की दशा का सिक्का देती है। आहाहा! बात समझना... आहाहा! यह निर्विकल्प सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है, उसे कहते हैं, तीर्थंकरगोत्र बाँधने का ऐसा राग का विकल्प आया। लो। वह उस भव में केवलज्ञान नहीं पा सकता। आहाहा! ऐई! चन्दुभाई! यह तो तुम्हारा वापस... किसी ने प्रश्न किया था। कि ऐसा प्रभावना का विकल्प होता है न? होवे वह अलग बात है परन्तु नुकसान है और तीसरा प्रश्न किया, दोनों साथ में। इस परमागम की आंशिक प्रभावना हो। प्रभावना हो तो क्या है? वह विकल्प आवे, यह अलग बात है परन्तु विकल्प रोकनेवाले हैं। आहाहा!

गजब बात है। वीतराग का मार्ग, सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा मार्ग, इसे कभी जँचा नहीं। इसने राग... राग... राग... राग... राग... राग... राग... समझ में आया?

कहते हैं, अरे राग... इतना विकल्प भी जहाँ भव का कारण हो, उसे मिथ्याभ्रान्ति, मैं अनन्त आनन्द का नाथ हूँ, ऐसी खबर नहीं और इस राग में सुख है, पर में सुख है, धूल में सुख है—ऐसा मिथ्यात्व तो अनन्त संसार के भव को दे, ऐसा है। आहाहा राग...

मुमुक्षु : अल्प काल में भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : अल्प परन्तु उसका जहर कितना चढ़ जाता है? आहाहा राग... काला नाग। देखो न! अभी पालीताणा (में) एक लड़के को काटा न! बारह वर्ष का लड़का भगवान की पूजा करके बैठा, दो बहिनें साथ में थीं। कौन जाने चाहे जहाँ से या वड में से नाग आया। वहाँ बैठा होगा। काटा, वह साथ में बोला, मेरा पैर काटो नहीं तो मर जाऊँगा। वहाँ कौन काटे? लड़के को ऐसा हो गया कि इतना बड़ा सर्प आया और... किसे काटा? यह पन्द्रह दिन की बात है। कौन काटे? आहाहा! नीचे उतारा, वहाँ जहर चढ़ गया। पूरे शरीर में जहर चढ़ गया। बड़ा टोकरा भराये, ऐसा बड़ा एकदम काला नाग। कौन जाने उसका आयुष्य पूरा होने को आया, इसलिए वह ऐसा ही होगा, हों! वह कहीं दूसरा नहीं होनेवाला था। आहाहा! ऐसे धर्मात्मा को राग आवे, वह काला नाग है। समझ में आया? कालोत्तरो समझते हो न? काला नाग। हमारे कालोत्तरो अर्थात् कालोत्तरो। अधिक त्त है। ऐसे जहाँ देखे वहाँ शोर मचा जाए। हाय... हाय...

अभी एक सुतार का लड़का। ... खेलते थे। सोगठी। यह क्या कहलाता है? गोली। वह गोली उसमें गिर गयी। देने गया तो ... लटकी रही। ... उसे कुछ है, ऐसा जानकर .... यह अभी निकली। बारह वर्ष के लड़के को। आहाहा! बापू! इस मृत्यु ने तो शरीर की स्थिति पूरी की। परन्तु भगवान आनन्द का धाम अनन्त शक्ति से भरपूर, अनन्त शुद्ध पवित्र के धर्म की शक्ति से भरपूर आत्मा है। उसे यहाँ राग के पुण्य और विकल्पवाला, उससे लाभवाला मानना, उसे मिथ्यात्व का जहर चढ़ गया है। आहाहा! भाई! तुझे तेरी खबर नहीं है। तू कौन है? कहाँ हैरान होता है? कैसे तेरा हैरानपना मिटे? खबर नहीं। बाहर में प्रसन्न होकर घूमता है। जैसे सन्निपातिया प्रसन्न होकर घूमे, वैसा है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा जिसमें शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता, निर्दोषता—ऐसी अनन्त शक्तियों से भरपूर जो सत्त्व है। उसमें पुण्य-पाप के भाव भरे नहीं हैं। वह तो पर्याय में नये उत्पन्न करके उनमें एकत्वपना करता है। समझ में आया?

यहाँ तो अनेक निज शक्तियों से **'सुनिर्भरः अपि यः भावः ज्ञानमात्रमयतां न जहाति'** आहाहा! परन्तु यह भाव ज्ञानमात्रपने को छोड़ता नहीं अर्थात् क्या कहा? यह जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन स्वभाव है, वह अनन्त शक्तिवाला होने पर भी ज्ञानभाव वहाँ पृथक् नहीं पड़ता। अविनाभाव सम्बन्ध रखता है। आहाहा!

क्या कहा यह? **जो भाव ज्ञानमात्रमयता को...** देखो! इसमें शब्द यह है। **'ज्ञानमात्रमयतां'** अभेद वर्णन करना है न? आत्मा तो प्रज्ञाब्रह्म ज्ञानमय स्वरूप है। जैसे सिद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, वैसे आत्मा ज्ञान... ज्ञान प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। यह अनन्त शक्तियाँ उसमें स्वभावरूप से, गुणरूप से होने पर भी इस ज्ञानमय भावपने को वह आत्मा नहीं छोड़ता। आहाहा!

ऐसा वह, 'क्रम-अक्रम-विवर्ति-विवर्त-चित्रम्' पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप से... अर्थात्? यह भगवान आत्मा जिसमें अनन्त गुण युगपद वर्तते हैं। यह शक्तियाँ। ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह इत्यादि शक्तियाँ एक समय में युगपद वर्तती है... युगपद वर्तती है—साथ में वर्तती है और उनकी अवस्था—निर्मल स्वच्छ आनन्द आदि की पर्याय, वह क्रम-क्रम से एक के बाद एक वर्तती है। ऐसी निर्मल पर्याय का एक के बाद एक वर्तना और निर्मल गुणों का एक साथ रहना, ऐसी जो सत्ता में प्रवर्तता आत्मा... आहाहा!

विवर्त से (रूपान्तर से, परिणमन से)... इसकी वीतरागी दशा होती है। देखो! यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर, धर्म की पहली दशा प्राप्त करने पर उसे पुण्य-पाप के राग की एकता टूट जाती है और अनन्त गुण की शक्ति के साथ वर्तमान पर्याय की एकता हो जाती है। आहाहा! समझ में आया? वस्तु स्वयं अविनाशी, ऐसी उसकी शक्ति जानना—देखना, आनन्द अविनाशी शक्तियाँ हैं। उन अविनाशी शक्ति का जहाँ आश्रय लिया अथवा अविनाशी शक्ति का जहाँ स्वीकार हुआ, तो उसकी वर्तमान दशा में, वर्तमान हालत में निर्दोष, निर्मल परिणति की अवस्थारूप पर्याय, वह आत्मा। यह निर्मल पर्याय, वह क्रम-

क्रम से होती है और गुण वे अक्रम से युगपद रहते हैं। ऐसे **अक्रमरूप से वर्तता विवर्त से...** इसकी बहियों में कहीं नहीं आता। रामजीभाई! तुम्हारी पुस्तकों में वहाँ आता है? पिता-पुत्र बातें करते हों तो उसमें यह नहीं आता। आहाहा! और धर्म के बहाने माने हुए स्थानक में जाये तो वहाँ भी यह बात नहीं आती। आहाहा! वीतराग का मार्ग कोई अत्यन्त अलग है।

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी में ऐसा आत्मा आया कि भाई! तू दूसरा भूल जा। राग मुझमें है, शरीर मेरा, यह भूल जा। तुझमें यह नहीं है। तुझमें तो आनन्द और वीतरागता से भरपूर आत्मा तू है। ऐसा जहाँ वस्तु का... 'वीरा' आया है न? विशिष्ट ऐसे स्वभाव का रा अर्थात् स्वीकार, उसे वीर कहते हैं। भगवान आत्मा... लो! यह भाई कहते थे। थे न पुरुषार्थी। नवनीतभाई ने कहा। यह पुरुषार्थी नहीं। पैसे से होता है, वह पुरुषार्थी नहीं। ऐई! भाई! तुम्हारे बापूजी को कहे, बहुत पुरुषार्थ से इकट्ठे हुए। अधिक पैसे इकट्ठे हुए न, इसलिए कहे। कहा, नहीं; पुरुषार्थ से नहीं, इसमें पुरुषार्थ नहीं होता। नहीं?

मुमुक्षु : यहाँ ऐसा नहीं कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर। बाहर में भी कहाँ मानता था? धूल में मानता है मुफ्त का। बुद्धि का बारदान दो-दो करोड़, पाँच-पाँच करोड़ पैदा करते हैं। देखे नहीं? बुद्धि के बारदान अर्थात्? खाली कोथला। वास्तविक बात है? मुम्बई में ऐसे बहुत होते हैं न? हस्ताक्षर करना नहीं आवे।... हमारे एक थे। पालेज में... दुकान थी। हस्ताक्षर करना नहीं आवे। उस दिन यह। ६० वर्ष पहले की बात है। वर्ष के लाख-लाख पैदा करे। तब ६० वर्ष पहले के लाख अर्थात्? अभी तुम्हारे दो लाख हों तो पूर्व के एक लाख गिने जायें। ऐसा सब घट गया। पैसे की कीमत घट गयी और माल का भाव बढ़ गया। आहाहा!

कहते हैं, कि इस बाहर की चीज़ में पुरुषार्थ कुछ काम नहीं करता। आहाहा! यह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु अन्दर बँधे हुए पड़े होते हैं, उनके खिरने का काल होता है, तब ऐसी गोटी बैठ जाये और पाँच-पच्चीस करोड़ मिलना हो, वह बाहर आवे। उसके पास कहाँ धूल घुसता है उसके पास? उसे तो ममता आती है कि यह मुझे आया। वह चीज़ तो उसके जड़ में रही है। कहाँ आत्मा में आयी है चीज़? यह लक्ष्मी कहीं आत्मा की होकर

रही है ? यह तो जड़ होकर रही है। यह मूढ़ मानता है कि मेरी है। यह तो इसकी खोटी-झूठी ममता है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा अपनी लक्ष्मी है, ऐसा माने और राग का विकल्प उठे, उसे भी अपना माने, उसे मिथ्यात्व का क्षय लागू पड़ा है। आहाहा! गजब बातें हैं, भाई! वीतराग मार्ग कोई अलौकिक है, बापू! दुनिया मानती है और चलती है, वह मार्ग नहीं है। आहाहा! ऐसे से भरा हुआ, ऐसा कहा न ? और परिणमन हो तो ऐसा हो, ऐसा कहा। क्या कहा ? **अक्रमरूप से वर्तता विवर्त से अनेक प्रकार का...** उसका परिणमन, निर्मलपना परिणमे, वीतरागीपना अनेकरूप परिणमे। गुण अनेक और पर्यायें अनेक, निर्मलरूप हो उसे आत्मा कहा जाता है। समझ में आया ?

क्रम से प्रवर्तते और अक्रम से वर्तते-रहते। आहाहा! भगवान आत्मा में अनन्त शक्तियाँ, गुण वर्तते, रहती, और क्रम-क्रम से होती पर्याय भी वर्तती, रहती, क्रम-क्रम से होती। निर्मल पर्याय की बात है, हों! राग और पुण्य की बात इसमें नहीं है। राग और पुण्य, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है और आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव आत्मा की पर्याय नहीं। यहाँ तो निकाल डाला। ज्ञानस्वभाव से भरपूर में से क्या निकले ? कुएँ में हो वह हौज में आवे। वैसे आत्मा में तो ज्ञान और आनन्द भरा है। तो उस आत्मा के स्वीकार होने पर सम्यग्ज्ञान और आनन्द और शान्ति अन्दर में से आवे, यह उसकी दशा है। समझ में आया ?

छह खण्ड के राज में भरत चक्रवर्ती हों, जिनके इन्द्र मित्र हों। इन्द्र मित्र। अर्धलोक के स्वामी बत्तीस लाख विमान और एक विमान में कितने में असंख्य देव, उनके स्वामी दुनिया में कहलाते हैं, वे कहते हैं कि मैं तो यह नहीं। मैं इसमें नहीं। तब ? मैं तो मेरे द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय में हूँ। बाहर में मैं नहीं हूँ। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन का पहला धर्म कहने में आता है। जैसा स्वरूप है, वैसा प्रतीति में, ज्ञेय में अनुभव करके लेना, इसका नाम प्रथम धर्म कहने में आता है। अरे... अरे...! भारी बातें, भाई! समझ में आया ?

इस **विवर्त से...** विवर्त तो पर्याय का होता है। परन्तु गुण का व्यवहार से पर्यायदृष्टि से परिवर्तन होता है, ऐसा कहने में आता है। **अक्रमरूप से वर्तता विवर्त से**

(रूपान्तर से,...) अन्दर रूपान्तर दशा होती है। एकरूप अवस्था नहीं रहती। पर्याय है न? अवस्था / हालत। सिद्ध को भी क्षण-क्षण में नयी-नयी अवस्था होती है। यह आत्मा सम्यग्दर्शन में और सम्यग्ज्ञान में प्रथम धर्म की दशा में जहाँ भान होने पर उसे वीतरागी स्वच्छता का निर्दोषता का परिणमन अवस्था में होता है।

अनेक प्रकार का-द्रव्य पर्यायमय चैतन्य... देखो! यहाँ तो प्रमाण का विषय लेना है। यहाँ द्रव्य है। द्रव्य वस्तु और उसकी निर्मल पर्याय, द्रव्य-पर्यायमय वस्तु। राग और पुण्य और निमित्त वह इसमें कुछ है नहीं। समझ में आया? उसे आत्मा कहते हैं। और ऐसे आत्मा को जाने, उसने आत्मा जाना और धर्म हुआ कहने में आता है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! राग की पर्याय निकाल डाली। संसार की पर्याय आत्मा में है नहीं। संसार की पर्याय संसार उदयभाव, भाव वह भगवान आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! मेरुपर्वत उठाने की अपेक्षा यह तो श्रद्धा का बड़ा आत्मा उठाना है। आहाहा!

भगवान आत्मा... कहते हैं कि वह **द्रव्य पर्यायमय चैतन्य वस्तु है।** आहाहा! इस लोक में ऐसे को आत्मा वस्तु कहने में आता है। कहो, समझ में आया? आहाहा! इसने कितने 'वाला' लगाये! पुण्यवाला, रागवाला, पैसावाला, शरीरवाला, स्त्रीवाला, पुत्रवाला कितने वाला? 'वाला' रोग शरीर में नहीं निकलता? 'वाला' रोग होता है न? ऐसा पानी हो... ऐसे पतले निकले। सड़े। आहाहा! भगवान! तुझे कितने वाला! तुझे कितना सड़ो? परन्तु ऐसा तो जब संसार छोड़कर साधु हो तो समझ में आये। ऐसा होगा? परन्तु आत्मा में संसार है ही कहाँ? सुन न! यहाँ तो यह बात है। संसार की पर्याय है, वह तो पर्यायदृष्टि से ज्ञान करने में आया। वस्तुदृष्टि से संसारी की पर्याय आत्मा में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म वस्तु है, भगवान! ऐसे लोग मान बैठे कि यह धर्म है। बापू! धर्म अपूर्व है। पूर्व में एक समय भी यह किया नहीं। और पूर्व में जितना किया, उतना करे, वह का वह करे तो कुछ अपूर्व नहीं है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा अनन्त (बार की)। (उससे भिन्न आत्मा के आश्रय से पर्याय प्रगट हो), उसे धर्म कहा जाता है। आहाहा! भारी धर्म भाई! महँगा। जो है वह है। महँगा कहे या सस्ता कहे। उसमें दूसरा कुछ हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

चैतन्य इस लोक में 'वस्तु अस्ति'... वस्तु अस्ति, वस्तु पदार्थ है। भाई! राग

और विकल्प से रहित और निर्मल शक्ति के परिणमनसहित इस लोक में वस्तु है। समझ में आया? यह शरीर और पुण्य-पाप के भावरहित तथा निर्मल गुण और निर्मल गुण की परिणतिसहित, इस लोक में एक वस्तु आत्मा है। आहाहा! इसमें तो गुरु भी नहीं आये, देव भी नहीं आये और स्त्री भी नहीं आयी और कोई इसमें नहीं आया। आहाहा! तू तेरा गुरु, तू तेरा देव है, भाई! तेरी दिव्यता तूने पकड़कर रखी है। आहाहा! भाषा क्या है? देखो!

ऐसा आत्मा, चैतन्य ऐसा आत्मा इस जगत के अन्दर वस्तु है। जिसमें अनन्त शक्तियाँ आनन्द-ज्ञानादि भरी हुई है, वह वस्तु। वस्तु वास्तु। जिसमें रही हुई उसे वस्तु कहते हैं। यह घर में वास्तु है न मनुष्य? घर में कोई वास्तु लेते होंगे या बाहर जंगल में जाकर वृक्ष के ऊपर वास्तु लेते होंगे? उसी प्रकार आत्मा के घर में अनन्त गुण आदि वस्तु है, उसमें बसे उसे वास्तु कहने में आता है। आहाहा! बसे हुए में बसे, उसे वास्तु कहते हैं।

भगवान आत्मा, सिद्ध समान उसका स्वरूप, ऐसा जहाँ जानने में-श्रद्धा में आवे तो उसकी दशा में भी वीतरागी निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति और आनन्द की दशा / परिणति आती है, ऐसी वस्तु को इस जगत में आत्मा वस्तु उसे कहा जाता है। आहाहा! यह व्यवहार-ब्यवहार का इसमें अभाव हो गया। व्यवहार साधन है, यह अमुक है, अमुक यह है—सब उड़ा दिया। करण—साधन नाम का तुझमें गुण है।

मुमुक्षु : व्यवहारनय से एक साधन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार का अर्थ (यह कि) नहीं और उपचार से कहना, यह बात है। आहाहा! भारी कठिन पड़े।

अरे! भगवान! ऐसा मनुष्यदेह मिला, जिसके एक समय की कीमत चक्रवर्ती की सम्पत्ति से भी पृथक् कीमत है। ऐसे मनुष्य के देह में भगवान आत्मा भिन्नरूप विराजमान है। राग से भी प्रभु भिन्न है। आहाहा! राग दया-दान के विकल्प से भी लिप्त तत्त्व नहीं है। आहाहा! ऐसे निर्लेप द्रव्य-गुण और पर्याय इस लोक में उसे आत्म वस्तु कहा जाता है। भगवान परमेश्वर ने इसे आत्मा कहा। जैसा कहा, वैसा जब अन्दर में जाने और अनुभव करे, तब उसे आत्मा वस्तु है, ऐसी प्रतीति और अनुभव में आवे। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वसंवेदन...

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके बिना यह वस्तु है, ऐसा ख्याल में आया कहाँ से ? अनन्त गुण का धारक वस्तु, उसकी प्रतीति में अनन्त गुण का व्यक्तरूप से, प्रगटरूप से पर्याय का वेदन न हो तो यह आत्मा ऐसा है, ऐसा प्रतीति में आवे कहाँ से ? आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा आत्मा प्रतीति और ज्ञान में न आवे, तब तक अधर्मदशा है। चाहे तो वह व्रत पालता हो और इन्द्रियदमन करता हो और पूजा, भक्ति करता हो तथा लाखो-करोड़ों के दान देता हो। यहाँ तो पैसा कहाँ इसके पिता के हैं ? इसके कहाँ है तो दे ? वे तो जड़ हैं। परन्तु उसमें राग कुछ मन्द करके दे, तो राग का राग मन्दभाव वह अचेतन पुण्य है, वह आत्मा नहीं। वह जड़ में आया। उसका ज्ञान करे, वह आत्मा में आया।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : एक तो पैसा दे और कहे, जड़ है। परन्तु दे कौन ? पैसा मेरा, (ऐसा) माने, वह बुद्धि जड़ है। आहाहा ! जड़बुद्धि है। उसे चैतन्यबुद्धि की खबर ही नहीं। भगवान ऐसा पुकारते हैं। यह लक्ष्मी तो ठीक परन्तु इसके प्रति राग-ममत्व होता है, वह मेरी चीज़ में से आया और वह मुझे लाभदायक है, वह जड़बुद्धि है। जड़बुद्धि दुनिया के बड़े महीने के पाँच-पाँच हजार और क्या ? एक दिन के पाँच-पाँच हजार रुपया ले। ऐई ! अभी इनके लड़के ने मुम्बई में दिये थे। आठ दिन में डेढ़ लाख खर्च किये, ऐसा कहते थे। एक बेरिस्टर बुलाया था। यह 'पूनमचन्द मलूकचन्द' मुम्बई में है न ? उनके पिता यह मलूकचन्द हैं। इनका लड़का।

मुमुक्षु : परन्तु साहेब ! पिता को पुत्र के नाम से नहीं पहिचानते हों। पुत्र को पिता के नाम से पहिचाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने कहा न। उनका पुत्र है, ऐसा कहो। है कब ? यह वापस इनकार करते हैं। यह तो डींग मारते हैं। वह तो पहिचानने की पद्धति है। वालजीभाई ! दिलीप को कहा कि यह तेरा दादा है। यह डींग मारा कहे। आत्मा को दादा होगा ! तेरा पापा, तो कहे दूसरी डींग। आत्मा को पापा होगा और आत्मा को दादा होगा ? आत्मा तो वीतरागस्वरूप है, वह आत्मा है। रागस्वरूप, वह आत्मा नहीं तो फिर दादा और बापू आया कहाँ से ? भारी भ्रमणा। कहते हैं ऐसी चीज़ को हम वस्तु-आत्मा कहते हैं। आहाहा ! देखो

न! उसने राग किया और उसने पुरुषार्थ किया और उसने पैसे प्राप्त किये, उसे हम आत्मा नहीं कहते हैं।

मुमुक्षु : मुनि...

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि क्या? धर्मी, समकिती उसे आत्मा नहीं कहते। आहाहा! ऐ... कान्तिभाई! बराबर होगा यह?

इस लोक में वस्तु है। आहाहा! भाषा तो देखो! **'इह वस्तु अस्ति'** चैतन्य भगवान ज्ञान का सागर, अनाकुल आनन्द का चैतन्य रत्नाकर एक जगत की चीज़ है। आहाहा! जगत की नहीं, ऐसे लोक में ऐसी वस्तु है। लोकयन्ते लोक ... वह तो है न! ऐसा आत्मा ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसा आत्मा है, ऐसा कहते हैं। ऐसे आत्मा को अन्दर में जानना, पहिचानना और स्थिर होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को धर्म कहने में आता है। बाकी सब बिना एक के शून्य है। समझ में आया? लो, इतना लिया था।

भावार्थ – कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है... ऐसा कहा है न पहले से? आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्र कहने से, राग, पुण्य और शरीर नहीं। परन्तु ज्ञानमात्र कहने से उसके साथ दूसरे गुण नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? **कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र...** जानना... जानना... प्रज्ञाचक्षु वह आत्मा। ज्ञान के स्वभाववाला तत्त्व, वह आत्मा। ऐसा जो ज्ञान, वह आत्मा कहा, ज्ञान अकेला नहीं परन्तु ज्ञानमात्र। इसमें वजन दिया है न? **इसलिए वह एक स्वरूप ही होगा।** ऐसा कोई माने कि ज्ञानगुण और ज्ञानशक्तिवाला, इतनी शक्तिवाला होगा? **किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है।** भगवान केवली ने देखा हुआ जो आत्मा, वह द्रव्य और पर्यायमय है। देखा! द्रव्यपर्यायमय है। द्रव्यपर्याय, निर्मल पर्याय की बात लेना। आहाहा! विकल्पमय है, वह तो आत्मा ही कहाँ है? वह तो राग है, विकार है। आहाहा!

वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। समुच्चय बात की है। द्रव्य अर्थात् वस्तु और पर्याय अर्थात् अवस्था। अवस्था—हालत। **चैतन्य भी वस्तु है,...** अब पहले सामान्य बात की। अब वह **चैतन्य भी वस्तु है,...** यह भगवान आत्मा चैतन्य जानन-देखनहार,

वह भी जगत की एक वस्तु है। **द्रव्यपर्यायमय है।** द्रव्य अर्थात ? वस्तु त्रिकाली। और पर्याय अर्थात् निर्मल अवस्था—हालत। आहाहा! **द्रव्यपर्यायमय है।** चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है। वस्तु द्रव्य और पर्याय अभेद है, ऐसा कहते हैं।

वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है... जो कुछ अनन्त ज्ञानादि प्रगट होते हैं, वह सब शक्ति अन्दर पड़ी है। वह कहीं बाहर से नहीं आता। **अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है...** आहाहा! **और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप...** क्रमरूप अर्थात् आत्मा की वीतरागी निर्दोषदशा, उसकी क्रमरूप दशा और अक्रम गुण **अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों...** परिणाम की विशेषता। विकार अर्थात् परिणाम की विशेषता। विकार अर्थात् यहाँ दोष के अर्थ में नहीं है। वि-कार अर्थात् विशेष कार्य। उसकी निर्मलदशा पुण्य-पाप के रागरहित निर्मल अवस्था के परिणाम के परिणाम का विशेष कार्य कहने में आता है। विकार अर्थात् दोष और राग, इस अर्थ में यह विकार नहीं है। समझ में आया ?

अनेक प्रकार के परिणाम... परिणाम अर्थात् पर्याय। उसका विशेष कार्य। **उनके समूहरूप...** द्रव्य और पर्याय के समूहरूप। **अनेकाकार होता है...** अनेकाकार, अनेक परिणाम से पर्याय परिणमति है। अनेकाकार—अनेक गुण और अनेक पर्याय को वह रखती है। **फिर भी ज्ञान को जो कि असाधारणभाव है...** आहाहा! **उसे- नहीं छोड़ता;...** चैतन्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है, अनेक शक्तियों सहित होने पर भी वह ज्ञानमात्र का त्रिकाली स्वभाव उसे वह छोड़ता नहीं। उसकी अवस्था में भी ज्ञान की अवस्था, जानने की दशा प्रगट होती है, उसमें वह ज्ञान की पर्याय उछले-उदय हो, उसके साथ अनन्त गुण की पर्यायें साथ में उछलती और उत्पन्न होती है। आहाहा! ऐसा आत्मा और यह पर्याय! भारी महँगा कहते हैं। अब इसकी धूल के लिये कितनी मेहनत करे ? सगे-सम्बन्धियों को छोड़कर परदेश में सिर फोड़े। अफ्रीका और अमुक और अमुक। और पाँच-पचास लाख मिलना हो तो पुण्य के कारण मिले। सगे-सम्बन्धी...

मुमुक्षु : पुण्य के कारण...

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य के कारण। इससे कहाँ मिलता था ? यह तो पूर्व के साता

के परमाणु पड़े हो, खिरने के काल में गोटी बैठ जाये। बाहर लोग ऐसा कहते हैं कि ओ..हो..! भाई! आप बल से बड़े। ऐसी बाहर बातें करे। अभिनन्दन दे न अभिनन्दन? तुमको—सेठियों को तो बहुत अभिनन्दन देते हैं। भाई! इनके पिता के पास नहीं था, परन्तु आप बल से बढ़े हैं। पहला साहसिक धर्म। धर्म क्या? साहसिक व्यापार। पहले ऐसा साहस किया। साहस करते-करते इसके पास दो-चार करोड़ इकट्ठे हुए। धूल भी नहीं, सुन न अब। तेरा साहस वहाँ काम करता था? वह तो परमाणु जड़-मिट्टी-धूल है। धूल धूलरूप रही है। तेरी होकर वह धूल रही नहीं। तेरी होकर रहे तो तू अरूपी है तो वह अरूपी हो जाये।

मुमुक्षु : .... अर्थात् काम में न आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम में कब आती थी। धूल? मूढ़ मानता है। यह पैसा हो तो ऐसा हो, मोटर में बैठा जाये। क्या कहलाता है तुम्हारे? रोकेट। रोकेट में जाया जाए। ऐसे ... उड़े... एक हजार मील एक घण्टे में... धूल में भी नहीं है, सुन न! आहाहा!

अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है... अनेकाकार अर्थात? आत्मा अनेक गुण और अनेक निर्मल पर्यायें हैं। **फिर भी ज्ञान की जो कि असाधारणभाव है...** चैतन्यब्रह्म भगवान ज्ञानस्वरूप है, वह असाधारण है। वह ज्ञान जड़ में नहीं है और ज्ञान जैसा दूसरा कोई गुण नहीं है। **उसे- नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ-परिणाम-पर्याय ज्ञानमय ही हैं।** लो। भगवान आत्मा की सभी दशायें, हालत अर्थात् परिणाम अर्थात् पर्यायें, यह सब एक अर्थ में है। ज्ञानमय है। जानने -देखने की दशावाली श्रद्धा-ज्ञान सब उसके साथ, ज्ञान की पर्याय के साथ है। आहाहा!

इस अनेकस्वरूप-अनेकान्तमय-वस्तु को जो जानते हैं,... ऐसा जो अनन्त गुणवाला और अनन्त पर्यायवाला, अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्मवाली **वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं...** ऐसे आत्मा को जो अन्दर वस्तु है, उसे भगवान कहते हैं ऐसी अन्दर में जाने, उसे जानकर श्रद्धा करे, देखो! यहाँ जानना पहले लिया है। जानता है। जानकर श्रद्धा होती है न! यह वस्तु है, ऐसा जाने बिना श्रद्धा किसकी करना? गधे के सींग की? १७-१८ गाथा में आया था न?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा। यह तुम्हारे याद करने का है सब। यह दो-तीन बार पहले थे सही न, वहाँ कोई कहे समकित का जोर, कोई कहे ज्ञान का प्रधानपना। दोनों का प्रधानपना अपने स्थान में है, सुन! जाने हुए की श्रद्धा होती है। जाने बिना श्रद्धा किसकी? श्रद्धा में तो शक्ति नहीं कि यह है और यह है, यह पूरा है, यह शुद्ध है, ऐसा जानने की श्रद्धा कहाँ है? आहाहा!

जैसा ऐसे आत्मा को भगवान ने कहा, वैसा द्रव्य शुद्ध, उसकी शक्ति शुद्ध और उसकी पर्यायें ज्ञानमय अनेक आनन्दादि अवस्थामय, ऐसे (आत्मा) को जो जाने, उसे जो श्रद्धा करे, और उसे अमल में रखकर अनुभव करे-स्थिर हो, ऐसा ज्ञानस्वरूप हो, वह केवलज्ञान को पाता है। अकेली ज्ञानदशा को वह प्राप्त होता है। **इस आशय का, स्याद्वाद का फल बतलानेवाला...** स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा से कहना है। ज्ञानमात्र कहने पर भी दूसरे गुण उसमें नहीं हैं, ऐसा नहीं है। ऐसा **फल बतलानेवाला काव्य कहते हैं-** लो।

२६५ कलश।

कलश - २६५

(वसंततिलका)

नैकान्तसङ्गत-दृशा स्वय-मेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वाद-शुद्धि-मधिका-मधिगम्य सन्तो
ज्ञानी भवन्ति जिन-नीति-मलङ्घयन्तः।।२६५।।

अथास्योपायोपेयभावश्चिन्त्यते ह्न

आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्ध-रूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः।

अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात् सन्सरतः सुनिश्चलपरिगृहीत-व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरम्परया क्रमेण स्वरूप-मारोप्यमाणस्यान्तर्मग्ननिश्चयसम्य-ग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्त-सकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमल-स्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानं ज्ञान-मात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति।

एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कम्पपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासन्सारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः। ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकान्तमूर्तयः साधकभावसम्भवपरमप्रकर्षकोटि-सिद्धिभावभाजनं भवन्ति।

ये तु नेमामन्तर्नीतानेकान्तज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभन्ते ते नित्यमज्ञानिनो भवन्तो ज्ञानमात्र-भावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यन्तो जानन्तोऽनुचरन्तश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवन्तोऽत्यन्तमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमन्त्येव।

'इस अनेकस्वरूप-अनेकान्तमय-वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं'-इस आशय का, स्याद्वाद का फल बतलानेवाला काव्य कहते हैं-

श्लोकार्थ : [इति वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिम् नैकान्त-संगत-दृशा स्वयमेव प्रविलोकयन्तः] ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त-संगत (अनेकान्त के साथ सुसंगत, अनेकान्त के साथ मेलवाली) दृष्टि के द्वारा स्वयमेव देखते हुए, [स्याद्वाद-शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य] स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर, [जिन-नीतिम् अलंघयन्तः] जिन नीति का (जिनेश्वरदेव के मार्ग का) उल्लंघन न करते हुए [सन्तः ज्ञानीभवन्ति] सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

भावार्थ : जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके-जान करके जिनदेव के मार्ग को-स्याद्वादन्याय को-उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं।२६५।

इस प्रकार स्याद्वाद के सम्बन्ध में कहकर, अब आचार्यदेव उपाय-उपेयभाव के सम्बनध में कुछ कहते हैं-

अब इसके (–ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) [१]उपाय–उपेयभाव विचारा जाता है (अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है, फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं, सो इसका विचार किया जाता है:–)

आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय–उपेयभाव (उपाय–उपेयपना) है ही, क्योंकि वह एक होने पर भी [२]स्वयं साधकरूप से और सिद्धरूप से–दोनों प्रकार से परिणमित होता है। उसमें जो साधकरूप है, वह उपाय है और जो सिद्धरूप है, वह उपेय है। इसलिए, अनादि काल से मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र द्वारा (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा) स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमश: स्वरूप में आरोहण कराये जाते इस आत्मा को, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप भेद हैं, तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ, तथा परम प्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय उससे प्रज्वलित (दैदीप्यमान) हुवे जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय–उपेयभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ : यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की वृद्धि की परम्परा से क्रमश: जब से स्वरूपानुभव करता है, तब से ज्ञान साधकरूप से परिणमित होता है, क्योंकि ज्ञान में निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के प्रारम्भ से लेकर स्वरूपानुभव की वृद्धि करते–करते जब तक निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता न हो, तब तक ज्ञान का साधकरूप से परिणमन है। जब निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष होता है, तब ज्ञान सिद्धरूप से परिणमित होता है, क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट दैदीप्यमान

१. उपेय अर्थात् प्राप्त करनेयोग्य, और उपाय अर्थात् प्राप्त करनेयोग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे। आत्मा का शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है, और मोक्षमार्ग उपाय है।

२. आत्मा परिणामी है और साधकत्व तथा सिद्धत्व ये दोनों परिणाम हैं।

हुआ है। इस प्रकार साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों रूप से परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तु की उपाय-उपेयता को साधित करता है।)

इस प्रकार दोनों में (उपाय तथा उपेय में) ज्ञानमात्र की अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है; इसलिए सदा अस्खलित एक वस्तु का (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का) निष्कम्प ग्रहण करने से, मुमुक्षुओं को, कि जिन्हें अनादि संसार से भूमिका की प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है; फिर उसी में नित्य मस्ती करते हुए (लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु – जो कि स्वत: ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक अन्त की (अनेक धर्म की) मूर्तियाँ हैं वे-साधकभाव से उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्ष की [1]कोटिरूप सिद्धिभाव के भाजन होते हैं। परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं, ऐसे एक ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भाव का स्वरूप से अभवन और पररूप से भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में परिभ्रमण ही करते है।

कलश - २६५ पर प्रवचन

नैकान्तसङ्गत-दृशा स्वय-मेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्त:।
स्याद्वाद-शुद्धि-मधिका-मधिगम्य सन्तो
ज्ञानी भवन्ति जिन-नीति-मलङ्घयन्त:।।२६५।।

आहाहा! जिन नीति। जिनेश्वर ने कहा हुआ ऐसा मार्ग, उसे प्राप्त करे, वह जैनदर्शन को उल्लंघता नहीं है। आहाहा! वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ ने ऐसा जो मार्ग कहा। वस्तु पूर्णानन्द शक्तिवाला तत्त्व, उसकी अन्तर में श्रद्धा करे, जाने और स्थिर हो—ऐसा जो भगवान ने मार्ग कहा, उसे धर्मी उल्लंघन नहीं करते।

'इति वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिम् नैकान्त-संगत-दृशा स्वयमेव प्रविलोकयन्त:'

१. कोटि=अन्तिमता; उत्कृष्टता; ऊँचे में ऊँचे बिन्दु; हद।

ऐसी (अनेकान्तात्मक)... अनेक-अन्त अर्थात् धर्म। उसके गुण अर्थात् शक्तिरूप धर्म और पर्यायरूपी धर्म, दोनों धर्म। धर्म अर्थात् स्वभाव को धार रखा, इसलिए धर्म। धर्मी ने धारा, इसलिए धर्मी और यह उसका स्वभाव। **वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति को...** लो, यह उसकी व्यवस्था। ऐसी जो आत्मवस्तु की व्यवस्थिति। त्रिकाली अनन्त गुण है और उसकी अनन्त निर्मल अवस्था है। ऐसी वस्तु की व्यवस्थिति—विशेष अवस्था। उसे **अनेकान्त-संगत (अनेकान्त के साथ सुसंगत, अनेकान्त के साथ मेलवाली) दृष्टि के द्वारा स्वयमेव देखते हुए,...** भाषा देखो! ऐसी चीज़ को अपने आनन्द और ज्ञान द्वारा देखते हुए, उसे पुण्य और विकल्प और व्यवहार द्वारा देखते हुए नहीं। समझ में आया?

स्वयं ही अपने आनन्द और ज्ञानस्वभाव द्वारा स्वयं अपने को देखता, ऐसा जो धर्मी समकिती। **'स्याद्वाद-शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य' स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर,...** एक गुण से कहा, तथापि अनन्त गुण इकट्ठे हैं। ऐसा अपेक्षा से जो कहा था। उसकी **अत्यन्त शुद्धि को जानकर,...** द्रव्य, गुण और पर्याय की अत्यन्त निर्मलता जिस प्रकार से है, उसी प्रकार से अत्यन्त शुद्धि से। **'जिन-नीतिम् अलंघयन्तः' जिन नीति का (जिनेश्वरदेव के मार्ग का)...** यह जिननीति। लोकनीति अलग और जिनेश्वर नीति अलग। जिनेश्वर का मार्ग यह आत्मा के पूर्ण वीतरागी स्वभाव से भरपूर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता, वह जिनेश्वर का मार्ग है। समझ में आया? ऐसे मार्ग को नहीं उल्लंघते हुए, **'सन्तः'** समकिती धर्मी पुरुष **ज्ञानस्वरूप होते हैं।** रागरूप छोड़कर ज्ञानस्वरूप होते हैं। यहाँ छोड़कर कहा। नास्ति से (कहा)। ऐसा स्वभाव है, उसकी दृष्टि करके स्थिर होता है, वह ज्ञानस्वरूप होता है। आत्मा का वीतराग का मार्ग ऐसा है। उसे समझकर श्रद्धा करे तो। और ज्ञानस्वरूप अकेला चैतन्यपना। केवलज्ञान का कन्द अकेला आत्मा रह जाता है। यह उसका पूर्ण फल है। साधकपना अन्दर स्वभाव और श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५६६, श्लोक-२६५ सोमवार, पोष शुक्ल ८
दिनांक - ०४-०१-१९७१

... अरे.. ! ऐसा काल मिला, भाई ! अहो ! संसार में अनादि से डूबा हुआ, उसे तिरने का समय है। वाद-विवाद करने का यह समय नहीं है। थोड़ा काल ... अरे ! उसमें इसका अपना काम न करे तो फिर कब करेगा यह ? वाद-विवाद और उसकी बात छोड़ दे, भाई ! ... शान्ति इत्यादि अनन्त गुणों का, यह अनेक अन्त—धर्मवाला तत्त्व है। ऐसे अनन्त धर्मवाला आत्मा, उसको पहले पहिचानकर, जानकर, अन्तर में ध्याकर द्रव्य का आश्रय करके और उसका अनुभव करना चाहिए। देखना अर्थात् अनुभव करना। आहाहा ! अरे ! अनादि काल से लुटाया है, भाई ! तुझे कहीं शान्ति नहीं। सत् मिला नहीं, सत् सुना नहीं, सत् की श्रद्धा नहीं की। श्रीमद् में आता है न ? तीन शब्द आते हैं। आहाहा !

अरे ! भगवान आत्मा ऐसा उसका स्वभाव है। अनन्त-अनन्त बेहद एक-एक शक्ति की बेदहता—अपरिमितता उसकी शक्ति है, ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियाँ अर्थात् अनन्त धर्म उसमें है। क्षेत्र से शरीरप्रमाण भिन्न दिखने पर भी, भाव से तो अनन्त महिमावाला तत्त्व है। समझ में आया ? ऐसी अनेकान्त वस्तुस्थिति को अनुभव करना।

सीताजी में आता है न ? जब प्रजा का कोप हुआ कि यह राक्षस के घर में रही हुई सीता को घर में कैसे रखा ? कान में पड़ने पर... उन्हें प्रतीति तो है कि यह तो महाशील शिरोमणि ब्रह्मचर्य महासती है। एक पति के अतिरिक्त इसे विकल्प नहीं होता। महासती। पतिव्रता सती है परन्तु लोक में रावण के यहाँ राक्षस के साथ थोड़ी रही, भाई ! रावण को देखो अर्थात् क्या ? रावण को देखा अर्थात् क्या ? इसके निकालो।

लक्षण कहते हैं, तात ! यह शीलवन्ती ब्रह्मचारिणी हैं। आपके अतिरिक्त इन्हें दूसरा कोई नहीं होता। देखा तो क्या हुआ ? इननें रावण को देखा, रावण ने इन्हें देखा तो क्या हुआ ? भाई ! जरा उतावल होती है। (राम कहते हैं), नहीं; प्रजा का कोलाहल आया है। मैं अब इन्हें (एक) दिन भी नहीं रख सकता। लक्ष्मण आदि को आँख में से आँसू की धारा बहती जाती है। हुकम देते हैं, जाओ। आहाहा ! बाहर ऐसे जहाँ छोड़ते हैं, वहाँ उनका रथ का... है न, क्या कहलाता है ? सारथी। (उसकी) आँख में से आँसू गिराते हुए ऐसा कहता

है, माता! रामचन्दजी को आपके ऊपर विराग हो गया है। आपके ऊपर राग रहा नहीं। मैं भी एक नौकर-चाकररूप से, मुझे यहाँ हुकम किया है इसलिए ... अरे रे! यह नौकरी। ऐसी महासती, पतिव्रता धर्मात्मा को मुझे सिंहवन में अकेला छोड़ना। अरे! नौकरी! यह नौकरी! आहाहा! आँख में से रुदन आ जाता है। भाई! (सीताजी कहती हैं) भाई! किसलिए रुदन करते हो? सीताजी को खबर नहीं कि यह मुझे यहाँ छोड़ेगा। माता! मैं इस वन में छोड़ने आया हूँ। क्या है? भाई! रामचन्दजी ने यह कहा है। भाई! उन रामचन्द्रजी को कहना, प्रजा के कारण मुझे तो वन में छोड़ दिया परन्तु उनका आत्मा का अनुभव प्रजा के कारण न छोड़े, हों! ऐसे अज्ञानी बाहर के लोग उन्हें मिलेंगे कि यह तो सब ऐसे हैं और वैसे हैं। ऐसे कारण से रामचन्द्रजी को कहना, भाई! आहाहा! ऐसे प्रतिकूल संयोग में, भाई! वह तो धर्म, ऐसा मुझे कहना है। कैसा प्रतिकूल संयोग। जिन्होंने कभी नीचे पैर रखा नहीं। वे नीचे उतरती हैं। बेहोश हो जाती हैं। चक्कर आ जाते हैं। फिर उठती हैं। भाई! रामचन्द्रजी को कहना, भाई! आत्मा का अनुभव दुनिया की लज्जा से न छोड़े। प्रजा की लज्जा से मुझे छोड़ा। देखो! ऐसे काल में भी यह (भाव)। आहाहा! धर्म शरण है। दूसरा कोई शरण नहीं। मुझे अभी धर्म शरण है। उनको ... कहना। दुनिया की प्रतिकूलता की आवाज और बेइज्जती का धक्का लगने से धर्म को नहीं छोड़ना। आहाहा! सामने देख भाई! तेरा स्वरूप अन्दर है। अनन्त-अनन्त आनन्द और ज्ञानादि शक्तियों का समूहरूप प्रभु विराजता है। आहाहा! उसे दुनिया की लज्जा और दुनिया प्रतिकूल बोलती है।

नियमसार में आया है। कोई सत्यमार्ग की निन्दा करे, ईर्ष्या करे, भाई! तू तेरे स्वरूप को वीतराग कथित मार्ग को छोड़ नहीं। दुनिया में कहनेवाले अनेक मिलेंगे। अरे! शरणभूत प्रभु आत्मा, वह अनन्त-अनन्त शान्ति और आनन्द का सागर है। इसमें पुण्य और पाप के राग की गन्ध नहीं है। ऐसा आत्मा, भाई! वीतराग ने कहा है, ऐसा जानकर और उस वस्तुस्थिति को अनुभव (कर)। वस्तुस्थिति को देखना, ऐसा कहते हैं। दूसरा छोड़ दे। वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। आहाहा! समझ में आया?

ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा है, उसमें एक शक्ति नहीं परन्तु अनन्त है। ऐसा दूसरा नहीं है। सर्वज्ञ सिवाय के अतिरिक्त यह बात नहीं होती। इसलिए इसे स्याद्वाद मार्ग कहा है। ज्ञानमात्र कहने पर भी अनन्त गुण से खाली नहीं। अनन्त गुण से होने पर भी ज्ञान को

वह छोड़ता नहीं। यह अन्दर में आ गया न? आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो आत्मा, तेरे ज्ञान में उसे ले। इस ज्ञान में जगत के पदार्थों को तूने ज्ञेय बनाया है, परन्तु तेरा आत्मा अनन्त आनन्दमय है, उसे ज्ञेय नहीं बनाया। आहाहा! देखो! इस वस्तुस्थिति को देखो, ऐसा कहते हैं न? तेरी वस्तुस्थिति ही ऐसी है, भगवान! आहाहा!

दुनिया की प्रतिकूलता से या दुनिया के धर्म के तत्त्वों को न रुचनेवाले ऐसे विरोध भी करते हैं। करे, भाई! उसे न जँचे तो करे, उसमें वह क्या करे? न जँचे, वह करे। तू तेरी वस्तुस्थिति है। एक समय में अनन्त आनन्द ज्ञानादि गुण का समुद्र है, उसे अनुभव कर, उसे देख, उसे ज्ञेय बना। दूसरी बात छोड़ दे। कहो, समझ में आया? आहाहा!

वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके... धर्मात्मा, एक ही गुणवाला कहा, तथापि उसमें अनन्त गुण है। ज्ञान अकेला है, ऐसा नहीं। आनन्द है, शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता—ऐसी तो अनन्त-अनन्त शक्तियाँ हैं। **इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि...** अपेक्षा से जो बात कही है, उसकी शुद्धि को देख। उसे प्राप्त कर, ऐसी शुद्धि को प्राप्त कर-ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जान करके जिनदेव के मार्ग को...** अर्थात् कि वीतरागस्वभाव आत्मा का है, उसमें दूसरे अनन्त स्वभाव हैं, ऐसा जो स्याद्वादनय का मार्ग, उसे नहीं उल्लंघता। समझ में आया? कि इतने सब गुण तो भेद पड़ गया। अनन्त गुणों की अवस्था निर्मल होती है, अनन्त। और उस अनन्त को जाने, इसलिए विकल्प हो गया और राग हो गया। ऐसे राग कहाँ हैं, भाई? जानना तो इसका स्वभाव है। इसके साथ अनन्त गुण को जाने, तथापि निर्विकल्परूप से जाने, ऐसा इसका स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया?

शुद्धि को प्राप्त करके-जान करके... 'अधिगम्य' का अर्थ है न यह? **'अधिगम्य' 'स्याद्वाद-शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य'** संस्कृत है न। **'स्याद्वाद-शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य'** स्याद्वाद की शुद्धि के अर्थात् कि कथंचित् प्रकार से बात की हो, उस प्रकार से तो दूसरे प्रकार भी उसमें समझ लेना। **जान करके जिनदेव के मार्ग को-स्याद्वादन्याय को-उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं।** जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप, यहाँ ज्ञान से बात ली है न? यह ज्ञानस्वरूप होता है। रागरूप, रागरूप जो था, वह अपने स्वरूप की शुद्धि

को पाकर अकेला ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उसे अब राग और पुण्य का सम्बन्ध व्यवहार से भी नहीं रहता। आहाहा! भारी काम। समझ में आया? **ज्ञानस्वरूप होते हैं।**

इस प्रकार स्याद्वाद के सम्बन्ध में कहकर,... अर्थात् कि अनेक धर्मों को यहाँ एक साथ वर्णन किया। ज्ञानस्वरूप कहा था तो भी उसके साथ अनेक गुण हैं, वे वर्णन किये।

अब आचार्यदेव उपाय-उपेयभाव के सम्बनध में कुछ कहते हैं- अब दूसरा बोल आया। पहला स्याद्वाद का-अनेकान्त का था। यह आया उपाय-उपेय का। अमृतचन्द्राचार्य ने इसलिए कहा कि **इसके (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) उपाय-उपेयभाव विचारा जाता है...** अर्थात् यह भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाववान, आनन्दस्वभाववान इत्यादि। ऐसी ज्ञानस्वभाववान वस्तु, उस एक में दो किस प्रकार? वह साधकरूप हो और सिद्धरूप हो। एक ज्ञान दोरूप किस प्रकार होगा? समझ में आया? उसमें ऐसा कहा था कि उस ज्ञान के साथ अनन्त धर्म—गुण हैं, यह अनेकान्त। यहाँ कहा, ज्ञानस्वभावी चैतन्यप्रभु! ज्ञानस्वभाव में एकरूप ज्ञान के दो प्रकार किस प्रकार? साधकरूप ज्ञान हो और सिद्धरूप भी ज्ञान हो। आहाहा!

क्या कहते हैं? ज्ञानस्वभावी आत्मा पुण्य और पाप के विकल्प से रहित प्रभु, ऐसा आत्मा ज्ञानमय और ज्ञानस्वभाव होने पर भी उस ज्ञान की दशा दो प्रकार से होती है। एक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान का परिणमन, वह साधक। उस ज्ञान का परिपूर्ण परिणमन केवलज्ञान। एक ज्ञान होने पर भी पर्याय के दो प्रकार सहित वही साधक और वही सिद्ध होता है। आहाहा! समझ में आया? उसका इस तत्त्व का ऐसा स्वरूप है। यह ज्ञानमात्र आत्मा कहा। उसे स्याद्वाद में अनन्त गुण तो वर्णन किये। अब वह ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। उस ज्ञान के दो प्रकार :— उपाय और उपेय। उपाय अर्थात् वह ज्ञान मोक्ष के मार्ग के कारणरूप परिणमे और वह ज्ञान मोक्ष के उपेयरूप पूर्णरूप परिणमे। समझ में आया? आहाहा!

द्रव्यरूप से एक, गुणरूप से एक, तथापि उसकी पर्यायरूप से के दो प्रकार। यह तो ज्ञानमात्र की बात है। परन्तु इसमें अनन्त गुणों का ऐसा परिणमन है। समझ में आया?

अरे! यह भारी बातें हैं। भाई! मार्ग ऐसा है। जन्म-मरण के डूबे हुए प्राणी को निकलने का मार्ग तो यह है। समझ में आया? वस्तु आत्मा पदार्थ है और उसका ज्ञानमात्र स्वभाव कहा, तथापि वह ज्ञान जानना उसका स्वरूप है, उसके साथ अनन्त गुणों का स्वरूप है, वह स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्त। अब वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह स्वयं ही अपूर्ण ज्ञान और श्रद्धा, आनन्द की दशारूप हो, और वह का वह ज्ञान पूर्ण दशारूप होता है। देखो! उसमें राग के कारण अपूर्ण दशा हो या राग के कारण पूर्ण दशा हो, ऐसा नहीं आता। क्या कहा यह?

यह **उपाय-उपेयभाव विचारा जाता है (अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है, फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं, सो इसका विचार किया जाता है:-)** आत्मवस्तु को... भगवान आत्मा ये वस्तु है।.... है। समझ में आया? ज्ञानमात्रपना होने पर भी। ज्ञानमात्र ऐसा तो अभेद मानो एक ही हो गया। उसे उपाय-उपेयभाव है। समझ में आया? यह तेरे घर में, कहते हैं कि मोक्ष के मार्गरूप भी तेरा ज्ञान होता है और मोक्ष की पूर्णदशारूप भी तेरा ज्ञान होता है। आहाहा! उसमें कोई निमित्त और राग की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

वस्तु है, वह ज्ञानमात्र है, आनन्दमात्र है, इत्यादि। ऐसा आत्मा का स्वभाव होने पर भी... ऐसा कहते हैं न? देखो न! **ज्ञानमात्रता होने पर भी... आत्मवस्तु को...** आत्मा वस्तु कही। उसका ज्ञानमात्र गुण—स्वभाव कहा। **उसे उपाय-उपेयभाव...** उसकी दो प्रकार की पर्याय होती है। आहाहा! समझ में आया? उपाय-उपेयपना है ही, भाषा ऐसी की है। स्वयं ही ज्ञानस्वभाव भगवान! स्व के लक्ष्य से अपूर्ण ज्ञानरूप, शुद्धिरूप होता है और वही ज्ञान स्व के लक्ष्य से पूर्णरूप परिणमता है, ऐसा ज्ञानभाव में साधकपना और सिद्धपना—उपायपना और उपेयपना—कारणपना और कार्यपना एक गुण में दो प्रकार से समावेश पाते हैं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा साधक मोक्षमार्ग में ज्ञानस्वभावरूप परिणमन श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतारूप हो, उसमें कोई राग की, व्यवहार की... आगे कहेंगे, व्यवहार बतायेंगे। पण्डितजी! परन्तु व्यवहार की आवश्यकता नहीं है।... पश्चात् व्यवहार बतायेंगे। यहाँ जो व्यवहार बतायेंगे,

वहाँ जोर देता है। आहाहा! लिखा है, इसका अर्थ क्या? उसे समझना पड़े न! कहते हैं कि आत्मा वस्तु की अनन्त शक्तियों से भरपूर एकरूप होने पर भी उसे कारण और कार्य की दो दशायें, एक ही गुण की दो दशायें होती हैं। ऐसा उसका स्वभाव, उपाय-उपेयभाव है ही—ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह क्या कहते हैं, लो। समझना कठिन पड़े। मोक्ष का मार्ग, बापू! ऐसा है, कहते हैं।

वस्तु स्वयं चैतन्यघन आत्मा, आनन्द का पूर आत्मा, शान्ति का सागर आत्मा। शान्ति अर्थात् चारित्र, ऐसा आत्मा एकरूप अर्थात् ज्ञानभाव होने पर भी; रागभाव से, पुण्यभाव से, निमित्तभाव से न होने पर भी, वह ज्ञानस्वभाव दो प्रकार से परिणमता है। समझ में आया? ऐसा ही उसका स्वभाव है, कहते हैं। आत्मा आनन्दमूर्ति ज्ञानस्वभाव है, ऐसे स्व को ज्ञेय बनाकर स्व का अनुभव होता है, वह अपूर्ण ज्ञान की-आनन्द की पर्याय है, परन्तु वह का वह ज्ञान बढ़-बढ़कर पूर्णरूप परिणमता है। कहो, पण्डितजी! आहाहा! अरे! भगवान! तेरे घर का तुझे पता नहीं मिलता और परघर की बातें करने जाता है। पड़ोसी... 'घर के लड़के चक्की चाटे, पड़ोसी को आटा।' ऐसा कुछ तुम्हारे हिन्दी भाषा में होगा।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह शब्द है। सर्वत्र एक चीज़ होती है न। देखो! यह कहा। 'घर के लड़के चक्की चाटे...' और घर का पुत्र यह कहा वह।

मुमुक्षु : ... पड़ोसी का फेरा...

पूज्य गुरुदेवीश्री : पड़ोसी का फेरा। घर के लड़के को... और पड़ोसी के लड़के को कहे, सब्जी ले जा, अमुक ले आ। यह भूखा बैठा है उसे? घर का लड़का चक्की चाटे। उसका दूसरा अर्थ यह किया। दूसरे का विवाह करे। आहाहा! यह ऐसी कहावत तुम्हारे हिन्दुस्तान की है। कहते हैं, देखो! यह भाषा दूसरी है। वस्तु तो सर्वत्र होती ही है न। चूल्हे में राख ही होती है न! दृष्टान्त एक प्रकार के होते हैं। भाषा में अन्तर हो। वस्तु तो वही होती है न। आहाहा!

कहते हैं कि भगवान आत्मा अस्तिरूप, सत्तारूप, मौजूदगीरूप, हयातिरूप पदार्थ है। उसमें ज्ञान, आनन्दादि अनन्त गुणों से भरपूर है। एक ही गुण नहीं, अनन्त है। यह

स्याद्वाद से उसे कहने में आया है। ऐसे अनन्त गुण होने पर भी कहते हैं कि... यहाँ तो ज्ञानमात्र कहा। वे इकट्ठे मिला डाले न! जाननहार... जाननहार... जाननहार... जाननहार... अनन्त गुण है, अनन्त गुणरूप होने पर भी वह ज्ञानभाव को छोड़ता नहीं। क्या छोड़े? वस्तु स्वयं अविनाभावी है। गुण के साथ उसकी सब पर्यायें अविनाभावी है। इसलिए ज्ञानपर्याय बिना आनन्द की पर्याय नहीं होती, आनन्द की पर्याय के बिना ज्ञान की पर्याय नहीं होती। वह तो साथ की साथ ही होती है। आहाहा!

ऐसा भगवान आत्मा अनेक गुणवाला होने पर भी अथवा वह गुणमात्र होने पर भी, राग और पुण्य के निमित्त का सम्बन्ध नहीं होने पर भी, ऐसे आत्मा में दो भाग पड़ जाते हैं। एक साधकदशारूप और एक सिद्धदशारूप। एक अपूर्ण परिणमनरूप से और एक पूर्ण परिणमनरूप से। आहाहा! समझ में आया? ऐसा अन्यत्र नहीं होता। या तो समझा न हो तो कहे पूर्ण हो गया। ऐसा नहीं है। समझ में आया? सम्यग्दर्शनरूप हो, तो वह ज्ञान का परिणमन सम्यक्पने हुआ और केवलज्ञानरूप हो तो भी वह ज्ञान केवलज्ञानरूप पूरा हुआ। उस ज्ञान की ही दो अवस्थारूप ज्ञान परिणमता है। उस ज्ञान के ही दो परिणाम हैं। आत्मा वस्तु है, उसके ज्ञानादि गुण हैं, उसके दो परिणाम हैं। एक मोक्ष के मार्गरूप साधक परिणाम और एक सिद्ध के पूर्ण परिणाम। इन दो जाति के परिणाम हैं। आहाहा! समझ में आया?

आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय-उपेयभाव है ही, क्योंकि वह एक होने पर भी... यहाँ सिद्ध ऐसा करना है कि ज्ञान एक है। उसके और दो भाग किस प्रकार से? **एक होने पर भी स्वयं साधकरूप से और सिद्धरूप से-दोनों प्रकार से परिणमित होता है।** समझ में आया? बहुत मार्ग... बापू! तुझे तिरने का मार्ग तो कोई अलौकिक है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहा, वह (मार्ग है)। लोग अपने आप कल्पित कर बैठते हैं, वह मार्ग नहीं है। यहाँ तो व्रत और तप करके फिर मोक्षमार्ग होगा, वह साधक नहीं—ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? भाई! व्रत करो, तप करो, पूजा, भक्ति, दान ऐसे भाव करो तो आगे बढ़ा जायेगा, इससे इनकार करते हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है, भाई! वह तो विकल्प और राग है। भगवान तो निर्विकल्प चैतन्यमूर्ति है।

ऐसी वस्तु की स्थिति ही जिसने जानी नहीं, देखी नहीं, हुई नहीं, उसे यह बात ऐसी लगती है कि आहाहा! यह क्या कहते हैं? वह ऊपर-ऊपर से कहता है कि आत्मा का मोक्ष होगा। परन्तु मोक्ष अर्थात् क्या? और मोक्ष का मार्ग अर्थात् क्या? तो कहते हैं, भगवान आत्मा, चेतनरूप का चैतन्यस्वभाव, चेतनरूप का चैतन्यस्वभाव। उसे चैतन्यमात्र कहने पर भी, मात्र कहने भी उसके दो भाग पड़ जाते हैं।

स्वयं साधकरूप से... भाषा देखो! ज्ञानस्वभाव स्वयं साधकरूप होता है। वह राग और पुण्य के कारण होता है, ऐसा नहीं—यह कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो अध्यात्मशास्त्र है, भाई! वे कहते हैं कि भाई! यह वस्तु सब सत्य सही, परन्तु पचाने के लायक नहीं, इसलिए इसे यह नहीं कहा जाता। अरे! भगवान! यह कब करेगा? पंचेन्द्रिय हुआ, संज्ञी हुआ, आहाहा! क्षयोपशम है, उघाड़ है। अरे! ऐसे अवसर में नहीं करे तो कब करेगा? समझ में आया? इसे यह करनेयोग्य कषाय ऐसा कहते हैं। अभी के साधु हैं, वे व्रतधारी भले हों, उसमें से कषाय-विशुद्धि बढ़ती है, ऐसा कहते हैं, प्रभु! बहुत-बहुत उल्टा होता है, भाई! तेरे तत्त्व का, हों!

अरे! देह से भिन्न भगवान आत्मा! यह (देह) तो मिट्टी-रजकण है। कर्म के रजकणों से भगवान भिन्न—पृथक्, वह तो आत्मा है, कर्म तो जड़ है। पुण्य-पाप के भाव से पृथक्, पुण्य-पाप तो आस्रव है, और यह तो आत्मा ज्ञायक है। उस ज्ञायकभाव से रहा हुआ भगवान, अन्तर्दृष्टि करने से, यह जाननेवाला आत्मा दो रूप परिणमे और परिणाम धारण करता है। आहाहा! और द्वैतपना तो वापस साधक और साध्य में डाला। गुण में तो द्वैत अनन्त गुण सिद्ध किये। आहाहा! गजब की शैली है। आत्मा एक वस्तु होने पर भी अनन्त गुण हैं, ऐसा सिद्ध किया और ज्ञानमात्र आदि रागरहित होने पर भी, उसी और उसी में दो भाग पड़ जाते हैं।

स्वयं साधकरूप से... अन्दर है न? नीचे किया है। **उपेय अर्थात् प्राप्त करनेयोग्य, और उपाय अर्थात् प्राप्त करनेयोग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे।** उसका फल—कार्य। **आत्मा का शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है, और मोक्षमार्ग उपाय है।** अब नीचे कहा। **स्वयं साधकरूप से... आत्मा परिणामी है...** देखो!

किस तरह सिद्ध करते हैं! वह कूटस्थ नहीं है। कूटस्थ होवे तो उसे धर्म प्राप्त करने की दशा ही स्थायी नहीं हो सकती। समझ में आया? नित्य आत्मा है, नित्य है। यह विवर्त सब झूठा है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

आत्मा परिणामी है... अर्थात् कि बदलनेवाला है। **और साधकत्व तथा सिद्धत्व ये दोनों (उसके) परिणाम हैं।** अरे! सिद्ध भी परिणाम। पर्याय है न? समझ में आया? आत्मा वस्तु है, वह नित्य रहकर बदलने के योग्य परिणामी है। परिणामी वस्तु है, परिणाम अर्थात् सहज स्वभाववाला पदार्थ है। उसके परिणाम दो प्रकार के हैं। एक मोक्षमार्ग के साधकरूप होना और सिद्धरूप होना, उसके दो परिणाम हैं। आहाहा! अभी तो दो गुण और अनन्त गुण मानना कठिन पड़े। एक अद्वैत है, ऐसा (कहे, परन्तु) भाई! ऐसा नहीं है। वस्तु अद्वैत होने पर भी शक्तियों से द्वैत है, अनन्त है। और वस्तु एक होने पर भी राग और पुण्य के विकल्प रहित वह चीज़ है, उसका साधकपना, स्वयं साधकरूप परिणमति है। क्या कहा यह?

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु चैतन्य के नूर का पूर। वह स्वयं ही ज्ञान और आनन्दरूप अवस्थारूप परिणमता है, कहते हैं। उसे राग और निमित्त हो तो परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! नये व्यक्ति को तो ऐसा लगता है मानो कि क्या कहते हैं यह? क्या (ऐसा) भगवान का—जैन परमेश्वर का मार्ग होगा? परमेश्वर के मार्ग में तो अष्टमी के उपवास करना, चौदश के उपवास करना, कन्दमूल न खाना, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना, गर्म पानी पीना, नंगे पैर चलना, लोंच करना। यह तो सब बाहर की बातें हुईं। यह आत्मा में कहाँ आयी? आत्मा तो इनसे भिन्न भगवान पृथक् है। इस लोंच की, अमुक, अमुक, वह क्रिया तो सब जड़ की हुई। नहीं खाना। किसे नहीं खाये?

इसके स्वभाव में तो अकेला ज्ञान और आनन्द भरा है, कहते हैं। ऐसा अकेला ज्ञान और आनन्द होने पर भी, उसकी प्रथम दशा में आत्मा साधक—मोक्ष के मार्गरूप... यहाँ तो ऐसा सिद्ध किया कि सम्यग्दर्शनरूप परिणमे, वह स्वयं साधक होकर परिणमता है। उसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **स्वयं साधकरूप से...** अर्थात् कि चैतन्य भगवान, निज शक्ति से भरपूर भण्डार, वह स्वयं ही अपने लक्ष्य से,

साधक अर्थात् सम्यग्दर्शनरूप से होता है, सम्यग्ज्ञानरूप से होता है और सम्यक्चारित्र की दशारूप होता है। इन तीनों में स्वयं सम्यग्दर्शनरूप परिणमता है। उसमें विकल्प की अपेक्षा नहीं है। सम्यग्ज्ञानरूप से, स्वलक्ष्य से दशा में होता है, उसमें शास्त्र के पठन आदि की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? धर्मकथा बहुत सूक्ष्म है, भाई!

स्वयं साधकरूप से... वजन यहाँ है न? स्वयमेव, ऐसा है न? **'तस्यैकस्यापि स्वयं'** ऐसा शब्द पड़ा है न? संस्कृत में है। **'तस्यैकस्यापि'** एक होने पर भी। राग और पुण्य बिना की बात है। उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा भगवान एक होने पर भी। स्वयं **'उभयपरिणामित्वात्'** स्वयं दो परिणाम से होता है, अकेला दो परिणाम से होता है। आहाहा! समझ में आया? बाह्य के शरीर और उसे कान से सुनना, इसकी भी अपेक्षा स्वयं ज्ञानरूप से परिणमनेवाले को नहीं है। ऐसा ही उसका स्वभाव है। देखा! पर्याय को बताते, पर्याय को किस प्रकार बताते हैं? पर्याय, पर्याय मानी हुई चीज़ उसे तो कार्य होता नहीं। उसमें तो पर्याय है, उसरूप ज्ञानवस्तु स्वयं साधकरूप, सम्यग्दर्शनरूप, वस्तु की अनुभव की प्रतीतिरूप स्वयं परिणमता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी धर्म की बात सुनने को मिलती नहीं और बाहर में रुके, उसे यह चर्चा कब हो? आहाहा!

कहते हैं **स्वयं साधकरूप से...** दो जगह कहाँ? **स्वयं साधकरूप से और सिद्धरूप से–दोनों प्रकार से...** आहाहा! समझ में आया? वस्तु है ऐसी चैतन्यप्रभु ज्ञान का नूर, प्रकाश का पूर है वह। आहाहा! अनन्त ज्ञान जिसका स्वभाव है, अनन्त आनन्द जिसका स्वभाव है। वह ज्ञान एकरूप होने पर भी वस्तुरूप से, गुणरूप से एकरूप होने पर भी। उसके परिणमन के दो प्रकार सहज होते हैं।, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया? **स्वयं साधकरूप से...** ज्ञानस्वभाव ऐसा भाव। स्वयं ही परिणमता सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप होता, पहली धर्म की दशारूप होता स्वयं होता है। पण्डितजी! व्यवहार समकित और व्यवहार के कारण होता है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहा, देखो! इसमें तो ऐसा कहा है। आहाहा! फिर व्यवहार का ज्ञान करायेंगे।

अरे! इसे अपनी महत्ता रुचती नहीं। कोई सहारा हो तो हो, ऐसा हल्का इसे मानना है। अपनी गुण की और शक्ति की महत्ता, उसका प्रभाव, उसकी अचिन्त्यता ऐसी है कि

स्वयं ही भगवान आत्मा ज्ञानगुण से एक होने पर भी पर्याय में दोरूप से परिणमना, उसके परिणाम होने में स्वयं ही स्वाधीन है। समझ में आया? उसकी यह पद्धति है। पहले ख्याल में तो ले। ख्याल बिना प्रयोग किसका करेगा? समझ में आया?

मुमुक्षु : उसके अतिरिक्त का सब अज्ञान ही गिना जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अज्ञान। राग, विकल्प, पुण्य और पाप, यह सब अज्ञान है। उसे अपना माने तो अज्ञान है। ऐसी बात है। यह मेरी खेती और बाड़ी और अनाज के डिब्बे, यह सब अज्ञान है, कहते हैं। वह तो बाहर में गया। यह तो अन्दर में दया का, दान का, भक्ति का एक विकल्प उठे, वह विकल्प भी इसका नहीं है। वह विकल्प परिणमकर मार्ग हो, ऐसा यह आत्मा नहीं। आहाहा! क्या हो? पाताल के पानी आवे, तब वह कम नहीं होता। इसी प्रकार भगवान आत्मा के तल में अन्दर में अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि भरे हैं, उसका लक्ष्य करके ज्ञान स्वयं ही साधकरूप होता है, कहते हैं। पाताल में से पानी आकर परिणमा है, वह स्वयं। आहाहा! समझ में आया? यह उसकी रीति है। यह उसका मार्ग और यह उसकी पद्धति है। उस रीति को न रखकर दूसरी रीति करने जाए, उसे धर्म नहीं होगा। समझ में आया?

क्योंकि एक होने पर भी शब्द है न इसमें? **'तस्यैकस्यापि'** ऐसा शब्द है। वस्तु गुण तो एक है न? आनन्द एक है। कहीं आनन्द दो नहीं हैं अन्दर। गुण एक है। वस्तु एक है, वैसे गुण भी एक-एक है। गुण एक होने पर भी... आहाहा! गजब बात कैसी करते हैं, देखो! वस्तुरूप से आत्मा एक, उसके गुणरूप से अनन्त। परन्तु वह गुण स्वयं एक है। गुण का रूप गुणरूप से एकरूप है, परन्तु उसके परिणमनरूप से दो रूप होता है। आहाहा! समझ में आया? उस गुण का परिणमन जो होता है, वह दोरूप होता है। आहाहा! समझ में आया? एक होने पर भी स्वयं साधकरूप—स्वयं...आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य की शैली स्वतन्त्रता का ढ़िंढोरा पीटती है। स्वयं ही ज्ञानरूप पर्याय में, हों! सम्यग्दर्शनरूप, क्षायिक समकितरूप स्वयं परिणमता है।

मुमुक्षु : अधिगम सम्यक्त्व आता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरुगम अधिगम आता है, यह तो निमित्त का ज्ञान कराया। स्वयं

स्वयंमेव परिणमता है। चाहे तो भगवान के समक्ष में हो, क्षायिक समकित पावे, वह क्षायिक समकित स्वयमेव साधकरूप से स्वयं परिणमता है। समझ में आया?

भगवान का गुण एक होने पर भी, संख्या से अनन्त परन्तु उसमें एक-एक गुण एक-एकरूप होने पर भी, उस गुण के—परिणमन के दो भाग। आहाहा! वह तो माने कि यह सब क्या है? यह तो सब द्वैत हो गया। अरे! द्वैत है, सुन न! गुणरूप से अद्वैत है और पर्यायरूप से द्वैत है। समझ में आया? द्वैत अर्थात् दो। गुणरूप से एक। नहीं तो पहला धर्म प्रगटने पर, पूर्ण तो प्रगट हुआ नहीं। और पूर्ण प्रगटे तो फिर तुरन्त ही समाप्त हो जाये, वाणी कहने का अवसर उसे नहीं होता। ऐसा नहीं होता। साधकरूप से परिणमने पर भी अभी पूर्णरूप हुआ नहीं, तब तक ज्ञान को परिणमने की बीच की दशा बाकी रह जाती है। आहाहा! समझ में आया?

स्वयं **एक होने पर भी स्वयं साधकरूप से...** यह तो धीर के काम हैं। वीर के काम हैं। वीररत्न। उसने कहा था न? हीराभाई ने कहा था। दरबार है। वह डॉक्टरवाला नहीं? वह ... लौकिक में ... काठी। चांपा, वह चांपा हो, बापू! उसका पिता कहता है, यह चांपा अन्यत्र कहीं से लाता है, भाई! सुन था न? चांपा का जैतपुर चांपावाला नहीं था? एक काठी था। चांपावाला एक काठी था। वह लौकिक पुण्य लेकर आया। चाहे जहाँ से आया मरकर, उसे जन्मते ही उसका आँख पुण्यशाली और विचक्षण छोटी उम्र से। व्रत में वह मानकर पडखे सोता होगा।... परन्तु बहुत छोटी उम्र की बात है। उसकी माँ ने उसके पिता से जरा खेद किया। यह ऐसे पहलू बदल गया। मुँह बदल डाला। मुँह बदला और उसकी माँ को ऐसा हुआ कि अरे! वह लड़का देख गया। इसलिए अन्दर जाकर, रसोई में जाकर अग्नि में जल गयी। सुलग गयी। ऐसे लोग थे। काठी में गरासिया में ऐसे कई लोग होते हैं। नीति में पक्के ऐसे होते हैं। वह जलकर मर गयी।

फिर कोई गरासिया का गाँव-खेत होगा, उसके राजा को लड़का नहीं होता हो, इसलिए उसका राजा बारोट था, वह चांपा के पिता के पास आया। गढवी ने दरबार को प्रसन्न किया। चांपा के पिता को। उसकी माँ तो मर गयी थी। प्रसन्न किया। कहे, माँग... माँग। ऐ आपा! मैं माँगू वह देना पड़ेगा। मेरा माँगना कठोर है। दरबार को वह बारोट कहता

है, तू माँग, कह। मेरे राज में आओ, और वहाँ मैं तुमको काठियाणी से विवाह कराऊँगा और हमारे राज में चांपा जैसा लड़का चाहिए। बारोट कहे, हमारे दरबार को पुत्र नहीं। वचन दिया। माँग, माँग। साथ में तो निकले, वे लोग वचन में (पक्के) वचन कहा, बदले नहीं। चलो भाई! दो-चार जगह गाँव में गये होंगे। कहा, बारोट! मेरी बात सुनी है न कह। चांपा का पिता कहे, यह चांपा भी कहाँ से पकेगा? तू मुझे काठियाणी से विवाह करायेगा और उसकी माँ ऐसे देखा वहाँ जल मरी, यह कहाँ से पकेगा? यह उसे कूख में चांपा हो। जिसने जिस-तिस से विवाह किया और काठियाणी की गर्भ में चांपा लेने जा, बारोट नहीं मिले। दरबार...

यह चांपा और चांपा की माँ अलग प्रकार के थे। यह चांपा है। फिर दरबार को शरीर बड़ा दिखाव का था। कहीं अपने जैसा नहीं और दूसरे को हमने अभी देखा नहीं। अपने जैतपुर से बाहर निकले थे। मोटर निकली थी न भाई! जैतपुर व्याख्यान सुनने को निकली ... उस ओर बड़ा दरबार आया कि महाराज का व्याख्यान हो गया। मुझे व्याख्यान सुनना था। व्याख्यान हो गया। बाहर निकले। ... यह चांपा कहाँ पके? इस बोरडी में आम नहीं पकते। जिस तिस काठियाणी से विवाह करेगा तो चांपा कहाँ से आयेगा? वह काठियाणी कैसी थी? जिसके लड़के ने ऐसा देखा तो जलकर मर गयी। ऐसी तो जिसकी नीति थी। उसके गर्भ से ऐसे पकते हैं। इस बोरड़ी के गर्भ से बारोट, बोरडी में आम पकते होंगे? काठियाणी जिसे-तिसे विवाहऊंगा नहीं। बोरडी समझते हो? बेर... बेर। वहाँ आम पके? इसी प्रकार इस चांपा की माँ के गर्भ से चांपा हो। ऐसा लड़का तू लेना चाहे तो नहीं मिलेगा। दरबार वापस गये।

इसी प्रकार इस आत्मा के अन्दर ऐसा स्वभाव है, इसकी कूख में-गर्भ में अनन्त आनन्द और ज्ञान भरा है। उसमें से सम्यग्दर्शन की प्रजा पकती है। राग में से पकती होगी? समझ में आया? आहाहा! जिसके पाताल में अनन्त ज्ञान और आनन्द पड़ा है, उसमें से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आप स्वयं होता है। उसमें तू दया, दान और व्रत के राग में से सम्यग्दर्शन हो, पाक चाहे, नहीं पकेगा। समझ में आया? लालजीभाई! आहाहा! ऐसा हुआ है, हों! यहाँ। अभी बहुत काठी दरबार। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, भाई! भगवान स्वयं आनन्द, ज्ञान और श्रद्धारूप परिणमता है।

उसके परिणमन में दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं होती। आहाहा! भारी कठिन काम! लोगों को बेचारों को खबर नहीं कि मेरा सत्त्व ऐसा महाप्रभु है। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प तो पामर राग—विभाव—विकार है। उसमें से धर्म पकता होगा? वह तो विपरीत है, विभाव है। समझ में आया? वह विभावरहित भगवान, स्वभाव के रत्न से भरपूर स्वयं प्रभु है। आहाहा! उसके सामने देखने से ज्ञान, स्वयं अपने कारण से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है, वह का वह ज्ञान स्वयं सिद्धरूप होता है। देखो! वापस स्वयं सिद्धरूप (होता है)। साधकरूप हुआ था, वह साधकपने की पर्याय। वह होती है, तब ज्ञान स्वयं साधक सिद्धरूप होता है। आहाहा! पण्डितजी! उसमें है या नहीं? चैतन्य के हारडा चैतन्य रत्नाकर तो चैतन्य से पकता है। राग और पुण्य के इन सब कंकरों से पकते होंगे? यह....

क्योंकि वह एक होने पर भी... यह दृष्टान्त, भाई! उसमें कहा था—गुरुकुल में। यह दृष्टान्त... यह महिलायें ऐसी मजबूत करना कि जिससे इसे अच्छा लड़का पके। बोरडी पर कहीं आम पकते होंगे? यह और उसने ऐसा दृष्टान्त दिया था। ऐसा कहे कि महिलाओं को बराबर मजबूत करे और अमुक करे। अरे! मजबूत करे तो लड़का पके ऐसा पके, रंक पके, सुन न। वहाँ कहाँ शरीर के कारण लकड़ा पके ऐसा है वहाँ? यह निर्बल शरीर हो, तथापि महा दिखाववान हो, ऐसा हो। उसके साथ क्या सम्बन्ध है? उसने यह गुरुकुल में ऐसा दृष्टान्त दिया था। इसलिए महिलाओं को ताजा बनाओ, खिलाओ-पिलाओ। लोगों को अच्छा लगे, महिलाओं को अच्छा लगे कि आहा! गजब... हों! अपना तो ... भाईयों को ... आदमी जैसे यह ... महिलाओं को ऐसी बनाओ कि अच्छा आम जैसा पके। समझे न? बोरडी में आम नहीं पकते। ऐ... सेठ! ऐसे दृष्टान्त देकर जगत को गुमराह करते हैं।

मुमुक्षु : यह दृष्टि...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दृष्टि फेर है।

यह तो भगवान आत्मा अनन्त आनन्द और ज्ञान का भरपूर सागर, स्वयं सम्यग्दर्शनरूप, साधकरूप परिणमता है और स्वयं का स्वयं सिद्ध अर्थात् परमात्मदशा / पूर्णरूप होता है। ऐसे एक ही ज्ञान में दो भाग पड़ते हैं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५६७, श्लोक-२६५ मंगवार, पोष शुक्ल ९
दिनांक - ०५-०१-१९७१

यह समयसार का परिशिष्ट है। शक्ति का वर्णन है। मूल तो अन्तर की दृष्टि करने के लिये यह शक्ति का वर्णन है। समझ में आया? मूल दृष्टि में, शक्ति के वर्णन में आत्मा वस्तु है और ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका सामर्थ्य—स्वभाव, यह अन्तर्मुख दृष्टि करने से शक्तियों की श्रद्धा की शक्ति की पर्याय में प्राप्ति होती है। समझ में आया? बहिर्मुख में यह शक्तियाँ नहीं आतीं, परन्तु शक्ति तो गुणरूप है और गुण है, वह गुणी का स्वरूप है, गुणी का स्वरूप है। गुणी आत्मा का वह स्वरूप है। अर्थात् स्वरूप ऐसा जो आत्मा स्वरूपवान, ... शक्ति के स्वरूपवाला आत्मा, उसकी दृष्टि करने से, लाख बात दूसरी हो। आत्मा पर का तो कुछ कर नहीं सकता। राग का कर सके, ऐसा माने वह तो अज्ञानभाव है। क्योंकि उसके गुण में कोई विकार होने का गुण नहीं है। तथा पुण्य और पाप के व्यवहार के भाव हों, व्यवहार करना, दया, दान, व्रतादि, यह उसके स्वरूप में नहीं है, उसके द्रव्य में नहीं है, उसके गुण में नहीं है। भारी कठिन काम। समझ में आया?

इससे बाकी रहा जो आत्मा, उसमें ऐसे अनन्त गुण हैं। यह समयसार है। इसकी दृष्टि देने से शक्तियाँ तो अन्तर में है। शक्ति कहीं राग में, पर में और एक समय की पर्याय में भी नहीं है। समझ में आया? करनेयोग्य हो तो इसे यह करना है। धर्म के लिये हित का करना हो तो। बाकी तो राग-द्वेष करता है, वह कहीं इसका गुण नहीं, इसका स्वभाव नहीं। वह तो भटकने का मार्ग है। समझ में आया?

कहते हैं, यह शक्तिवान प्रभु! क्योंकि एक समय की पर्याय भी बहिर्तत्त्व है। रात्रि में आयी थी, वही बात अभी आयी। पुण्य-पाप के भाव बाह्य अस्तित्वरूप है, बाहर अस्तित्वरूप है। शरीर, वाणी, मन, अनन्त परमाणु और अनन्त दूसरे आत्मायें, वे बाहर अस्तिरूप हैं। एक समय की पर्याय भी अंश, वह भी अन्तर्मुख के द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से एक समय की पर्याय बहिर्तत्त्व है। आहाहा! समझ में आया? एक समय की पर्याय है, उसे संवर, निर्जरा, मोक्ष को बहिर्तत्त्व कहा। आहाहा! इसका कारण है। वस्तु ऐसी-ऐसी, अन्दर है न? वस्तु स्वभाव है, वह अन्तर्मुख है। अन्तर्मुख अन्तरतत्त्व हाथ

आवे ऐसा है। वह कहीं पर्याय के लक्ष्य से अन्तर्मुख तत्त्व हाथ आवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! इससे उसे यहाँ शक्ति का वर्णन कहकर और शक्तिवान पर दृष्टि देना कि जिससे शक्ति का निर्मल परिणमन हो, वह निर्मल परिणमन शक्ति और द्रव्य को पूरा आत्मा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? इसमें अपने २४ शक्ति हो गयी। २५वीं शक्ति। यह ४० शक्ति है। २५वीं शक्ति में क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : २६वीं साधारणशक्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधारण यह २५वीं है। साधारण-असाधारण यह २५वीं है। २६वीं है। बाद की है। २५वीं के बाद की २६वीं है। २६वीं शक्ति में है क्या? शब्द ऐसे थोड़े सूक्ष्म हैं।

स्व-पर के समान,... आत्मा का अस्तित्वगुण, वह स्व। तथा पर में भी अस्तित्वगुण वह पर। दोनों में समान है। अस्तित्व आत्मा में और दूसरे में है, इसलिए उसे समान कहते हैं। समझ में आया? आत्मा में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि जो गुण हैं, वे स्व में भी है और जड़ में भी है। अर्थात् दूसरे द्रव्य हैं, ऐसा उसमें साथ में सिद्ध किया। समझ में आया? वेदान्त ऐसा कहे, एक ही है। इसलिए इस शक्ति का वर्णन इसके गुण में टिक रही है, वह शक्ति है। वह **स्व-पर के समान,...** जैसा आत्मा है, आत्मा वस्तु है, प्रदेशत्वगुण है, ऐसे दूसरे सब।... काल के अतिरिक्त, दूसरे में भी अस्तित्व, काल में भी अस्तित्व तो है न? इस अपेक्षा से स्व और पर का समान, इसका अर्थ है यह पहला।

असमान,... आत्मा में ज्ञान और आनन्द है, उन दूसरे द्रव्यों में यह ज्ञान और आनन्द जड़ में नहीं है। इसलिए दूसरे द्रव्य के साथ यह शक्ति समानरूप नहीं है। विशेषरूप असमान है। समझ में आया? आहाहा! सामान्य कहो या समान कहो, विशेष कहो या असमान कहो। सामान्य कहो या साधारण कहो, विशेष कहो या असाधारण कहो। इतने शब्द प्रयोग किये हैं। आहाहा! इसकी सत्ता का सत्त्व, इसकी सत्ता में इतना व्याप्य है, रहा हुआ है। यह अस्तित्व है, वह अस्तित्वगुण, ऐसा अस्तित्वगुण तो प्रत्येक परमाणु और सिद्ध में अथवा काल में और धर्मास्ति में भी है। इस अपेक्षा से उसे, दूसरे पदार्थों की अस्तिवाला अस्तित्वगुण, यह अस्तिवाला, ऐसे दो को अस्तिवाले की अपेक्षा से समान कहा। एक ही तत्त्व होवे तो यह (शक्ति) नहीं हो सकती। आहाहा! समझ में आया?

आत्मा ही होवे तो यह शक्ति हो नहीं सकती। यह वेदान्त का बहुत... अभी उसमें बहुत... कितने ही। कितने ही जैन अभी निश्चय की बातें आयी न, इसलिए वहाँ भी निश्चय की बात करते हैं। ऐसी ही वेदान्त की है। यह जरा भी नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। परन्तु व्यवहार में अकेले जीव ऐसे पड़े हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, मन्दिर बनाओ, यह करो, यात्रा करो। यह भटकाभटक करते हैं, उसमें धर्म नहीं है, ऐसा जहाँ माना, वहाँ निश्चय हो गया, व्यवहार हो गया। जैन में तो यह व्यवहार है, वह धर्म है— ऐसा माने तो वह जैन कहलाये। आहाहा! ... नाम स्मरण भगवान का, णमो अरिहंताणं। आहाहा! उसका स्मरण वह भी विकल्प-राग है। महाव्रत का विकल्प राग है, भगवान की भक्ति का विकल्प राग है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव राग है। अब उस राग में धर्म नहीं और राग से धर्म नहीं होता। यह बात सुनकर कहता है कि यह तो वेदान्त निश्चय हो गया, जाओ। व्यवहार रहा नहीं।

मुमुक्षु : खतौना।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार इसमें खतौना चाहिए। व्यवहार व्यवहार में नहीं? किसने कहा? समझ में आया? आहाहा! राग, रागरूप राग में नहीं? और परद्रव्य, परद्रव्य के अस्तित्व में परद्रव्य का अस्तित्व नहीं? इसके लिये तो यह समान शक्ति का वर्णन है कि तुझमें समान नाम का साधारण—सामान्य गुण है। अर्थात् कि तुझमें भी है और दूसरे में भी है। ऐसा गुण है कि दूसरों को और तू सब 'है', ऐसा सिद्ध किया। समझ में आया? दूसरे हैं, इसलिए यहाँ सत्ता का गुण है-ऐसा नहीं। अपने लिये ही ऐसा गुण अपने में है। अपनी ही शक्ति का वर्णन है न? स्वरूप से है और पर में भी अस्तित्व है। ऐसा जो एक गुण साधारण नाम का, समान नाम का, सामान्य नाम का, उस गुण का यह वर्णन है। यह समझे बिना क्या हो?

असमान,... असमान अर्थात् आत्मा में आनन्द है, ज्ञान है, शान्ति है—ऐसे गुण दूसरे द्रव्य में नहीं है, इसलिए असमान—उनके जैसा नहीं, दूसरे जैसा नहीं। अपने में ज्ञान है, आनन्द है, शान्ति अर्थात् वीतरागता है। यह वीतरागता जो प्रगट करनी है, जो शान्ति प्रगट करनी है, वह कहीं बाहर से नहीं आती। अन्तर में वह गुण पड़ा है। विशेष नाम का या असमान नाम का गुण अथवा असाधारण नाम का गुण, उसमें यह पड़ा हुआ है। तीन

शब्द प्रयोग किये हैं। समान कहो, सामान्य कहो या साधारण कहो। असमान कहो, विशेष कहो या असाधारण कहो। समझ में आया? आहाहा!

स्व-पर के समान, असमान और समानासमान... स्व है, वैसे पर है; स्व में असमान विशेष है, वैसा दूसरे में नहीं। ऐसा दो का एकरूप, ऐसा समान-असमान। अर्थात् सामान्य और विशेष है। अर्थात् साधारण और असाधारण। **ऐसे तीन प्रकार के भावों के...** आहाहा! **ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारणस्वरूप...** इन तीन के प्रकार के भाव का धारणस्वरूप स्वयं से **साधारण...** यह समान में आया। असमान-असाधारण। समान-असमान है, उसमें साधारणासाधारण। यह तीन होकर शक्ति एक है। शक्तियाँ तीन नहीं। समझ में आया? भाषा इसमें... वह तो पढ़ गया समयसार। समझ में आया? पन्द्रह दिन में पढ़ गया। वह कहे, मैंने पढ़ा है, उसमें व्यवहार से निश्चय होता है—ऐसा आता है। लाओ निकाल दूँ समयसार में। भाई! उसने निकाला नहीं, बापू! समयसार में से राग नहीं निकलता, आत्मा में से राग नहीं निकलता। वेलजीभाई! लाओ समयसार में से निकाल दूँ... समयसार पढ़ा है, हों! ठीक, भाई! क्या करे तब? तुम सिंह हो तो मैं सिंह का बच्चा हूँ। भाई! कौन सिंह, सिंह का बच्चा कौन है? भगवान! तू किसलिए बड़ा करता है? अरे! भगवान! तू सिंह है, परमात्मा है, भाई! तुझे भान नहीं, इसलिए तू पामर होकर मानता है। अर्थात् जो वह व्यवहार हो तो मुझे लाभ हो, अर्थात् कि मेरे स्वभाव में जो नहीं, ऐसा दूसरा भाव पामर हो तो मुझे पर की सत्ता प्रगट हो। यह तूने माना है। आत्मा में ऐसा है नहीं। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि **साधारण-असाधारण-साधारणासाधारण...** वह एक-एक लिया और वह भिन्न लिया। ऐसी एक २६वीं शक्ति उसमें है। एक गुण, हों! तीन होकर एक गुण। वह एक गुण अनन्त गुण में व्यापक है। समझ में आया? जहाँ अन्दर में ज्ञान है, वहाँ ही अस्तित्व है, वहाँ आनन्द है। उसमें यह एक शक्ति भी साथ डाली है। आहाहा! ज्ञान, आनन्द, अस्ति, प्रमेयत्व, ऐसे गुण एक-एक हैं, ऐसे अनन्त में यह एक शक्ति भी अनन्त में एक क्षेत्र में व्यापक है। और वे सभी शक्तियाँ अपने उपादान के कारण से स्वयं सत् है। ऐसी यह एक शक्ति उसे निमित्तरूप है। समझ में आया? और इस शक्ति का ध्रुव उपादान

तथा क्षणिक उपादान दोनों एक समय में काम करते हैं। पर के कारण नहीं, पर की अपेक्षा बिना की बात यहाँ है। समझ में आया?

समान-असमान, समान-असमान नाम की शक्ति, वह स्वयं ध्रुवरूप गुण काम करता है और क्षणिक पर्याय में, क्षणिक उपादान कारण से राग और व्यवहार के निमित्त की अपेक्षा छोड़कर क्षणिक उपादान में विशेष का परिणमना, आनन्द, ज्ञान का परिणमना और अस्ति आदि का परिणमना, वह एक समय में स्वयं से अन्दर होता है। समझ में आया? आहाहा! यह समझ... कठिन बात है। कठिन चले। कठिन नहीं, तेरे घर में है, उसकी बात चलती है। तेरे घर में मूडी-पूँजी कितनी है, उसकी यह बात चलती है। आहाहा!

ग्यारह अंग पढ़कर मर जाये परन्तु यह जब तक हाथ न आवे... समझ में आया? यह ग्यारह अंग का ज्ञान भी बहिर्तत्त्व है। आहाहा! अन्तर का ज्ञानभाव या आनन्दस्वभाव, उसका परिणमन होकर जो ज्ञान (होता है), ज्ञान उसे कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञानरूप परिणमे सुख उसे कहते हैं कि जो आनन्दरूप परिणमे और आत्मा उसे कहते हैं कि जो आत्मा के अनन्त गुण हैं, उनरूप वह परिणमे, तो उसे आत्मा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा, यह समझ में आया? आत्मा में ऐसे जो निर्मल अनन्त गुण हैं, उन गुणरूप वह परिणमे, उसे आत्मा, आत्मा के गुणरूप परिणमे तो गुण हुआ, द्रव्य हुआ। उस निर्मल अवस्थारूप परिणमे, उसे आत्मा कहा जाता है। अकेला आत्मा और द्रव्य-गुण है नहीं, ऐसा कहते हैं। परन्तु द्रव्य-गुण है, ऐसी जहाँ प्रतीति आयी और उसका जहाँ ज्ञान हुआ, तब आत्मा, आत्मारूप से पर्याय में परिणमा। आहाहा! समझ में आया? ऐसा धर्म होगा? वह तो एक घण्टे में छह काय की दया पालना, यह करना।

श्रीमद् ने कहा, भाई! अब बहुत बार सुनी ऐसी छह काय की बातें। यह समकित की बात पहली है। श्रीमद् ने ऐसा कहा है। २९ वर्ष में। छह काय की दया पालना, पृथ्वी और जल जीव है, वायु जीव है, वनस्पति जीव है और उन्हें नहीं मारना और उन्हें बचाना। और जैसे बने वैसे अणुव्रत तथा महाव्रत पालना। अब ऐसी बात तो कहते हैं, तुमने मुझे अनन्त बार सुनायी। शिष्य के मुख में श्रीमद् ने रखा है। तुमने सवेरे से यह लगायी है। इस समकित की बात करना। समकित कैसे हो उसकी। ऐई! कभी प्रश्न किया है वहाँ? एक

दिये रखता है—यह व्रत पालो, अणुव्रत पालो, अमुक करें। ऐसा श्रीमद् में आता है। समझ में आया ? ऐई ! मोहनभाई !

मुमुक्षु : प्रश्न तो होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् कि नीति से। उस प्रकार का इसलिए शिष्य को कहते हैं कि परन्तु तू अब वहाँ जाकर पूरे दिन सुना करता है। पृथ्वी, अग्नि, एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया, आजीविया, वहोरिया... अब यह तो ... बात तो तुमने बहुत सुनी और तुम अब यह समकिती की व्यवस्था करना। यह छह काय की हिंसा और छह काय की दया के भाव बिना का कौन है ? समझ में आया ? आहाहा !

मुमुक्षु : छह काय को न मारना, यह समकित की रचना हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गयी, जाओ। छह काय के जीव अनन्त हैं। वे भी ज्ञान की एक पर्याय में जानने का सामर्थ्य है। उनकी दया पालना या उन्हें मारना, वह तो इसकी पर्याय में भी नहीं है। द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु इसकी पर्याय में भी नहीं है। गुण में नहीं तो पर्याय में कहाँ से आवे ? आहाहा ! समझ में आया ? छह काय जीव का रक्षण करो... ऐसा बड़ा... है और वह लोगों को दो के बीच ? तेरापंथी और ... दोनों खोटे। छह काय के जीव का रक्षण ... यहाँ कहते हैं, हमने अन्तर्मुख स्वभाव प्राप्त करने के लिये प्रवचन कहे हैं। भाई ! यह तो अन्तर्मुख स्थिति की बात करते हैं। छह काय के लिये प्रवचन नहीं आये। आत्मा कैसा है, उसके लिये प्रवचन आये हैं। समझ में आया ?

दूसरे प्रकार से कहें तो वह कोई ... परन्तु अन्तर्मुख होने के लिये, अन्तर के ध्येय को पकड़ने के लिये अनेक प्रवचन कहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रवचन का दूसरा तात्पर्य निकाले, वह प्रवचन को भी समझते नहीं और भगवान के अभिप्राय को भी समझते नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा फिर यह कहते हैं कि देव ने भी पंच महाव्रत पालन किये थे। देवों ने पालन किये थे और शास्त्र को कहना है। अपने ... क्या काम है ? पालो न महाव्रत और अणुव्रत।

मुमुक्षु : देव ने भी नहीं कहा और गुरु ने भी नहीं (कहा)।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा नहीं। शास्त्र ने कहा नहीं। तुझे खबर नहीं। आहाहा ! यह

शास्त्र क्या कहते हैं ? देवों ने कहा कहते हैं। गुरु ने कहा वह ... आता है यह। भाई ! तेरा आत्मा सामान्य गुणवाला अस्तित्व, वस्तुत्व इत्यादि। विशेष गुणवाला, ज्ञान और आनन्दवाला, इन गुण का धारक तू आत्मा, उन अनन्त गुण में ये गुण व्याप रहे हैं। इसलिए द्रव्य पर दृष्टि देने से, ध्रुव पर दृष्टि देने से, ये सब ध्रुववाले जो गुण है, उनका परिणमन पर्याय में होता है, ऐसा यह आत्मभाववाला आत्मा है। ऐसा आत्मभाववाला अर्थात् परिणमन करे, वह आत्मा है। समझ में आया ? आहाहा ! रागरूप परिणमे और व्यवहाररूप हो, ऐसा आत्मा ही नहीं है। तुझे खबर नहीं। इसमें व्यवहार खत्म हो जाता है। परन्तु इसमें है ही नहीं न, क्या खत्म हो ? वह तो अनात्मा में जाता है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा **समान, असमान और समानासमान ऐसे...** साधारण-असाधारण इस भाव को धरनेवाली जो शक्ति आत्मा में अनादि-अनन्त बसी हुई-रही हुई है। आहाहा ! पश्चात् उसे यह मन्दिर बनाना और उनमें रुकना, ऐसा विकल्प कहते हैं कि उसके स्वभाव में नहीं है, ऐसा कहते हैं। ऐई ! और दूसरे को समझाना और उसे दूसरा समझे, ऐसा विकल्प भी तेरे स्वभाव में नहीं है, सुन न ! ऐई ! रामजीभाई ! व्यवहार तो लोप, खत्म नाश हो जाता है इसमें। व्यवहार के पक्षवाले हों न, जरा-जरा वे निश्चयाभासी हो जायेंगे, इसे ऐसा लगता है। आहाहा ! ऐई !

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे बनावे और कौन बने ?

मुमुक्षु : यह वजुभाई बनाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई नहीं बनाता। किसने बनाया है ? कौन बनावे ?

मुमुक्षु : वजुभाई को...

पूज्य गुरुदेवश्री : वजुभाई को तो बहुत भाव है कि शीघ्र काम हो जाये, तो भी बीच में रुकता है। हो गया तब। इसका अर्थ क्या ? उससे कहाँ होता था ? अन्दर खतौनी करते हैं न ? हो जाता है। ऐसा है, ऐसा है। क्या हुआ ? कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : हमारे से न होता हो तो वजुभाई को पूछना पड़े न।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पूछे ? भाषा पूछती है या आत्मा पूछता है ? ऐई ! भाषा

भगवान आत्मा में कहाँ है ? ऐसे आत्मा पूछे ? आहाहा ! गजब बात, भाई ! ऐई ! चन्द्रकान्तभाई ! तुम्हें यह खबर नहीं ? .... आवे तब जरा समझेंगे। बैठे हैं। रुपये-बुपये बहुत हैं। लड़के वहाँ हैं। और पीतल के-ताँबे के बर्तन के ढ़ेर पड़े हैं। ... आहाहा !

मुमुक्षु : ढ़ेर किस काम के ? स्वयं कर सकते नहीं, फिर दूसरा कौन करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका अस्तित्व-सत्ता उसमें, उसकी सत्ता का परिणमन उसके कारण से है। आत्मा के कारण से है ? वे भी सत्तावाले पदार्थ हैं। अनन्त सत्तावाले अनन्त पदार्थ हैं। और वे उनका अस्तित्व रखकर अस्तित्वगुण के वर्तमान परिणमन में वे स्वयं परिणमते हैं। तुझे और उन्हें कुछ सम्बन्ध है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! देखो ! ऐसा कहा कि तेरा अस्तित्व है, ऐसा ही अस्तित्व भले दूसरे में हो। परन्तु तेरा अस्तित्व तेरे कारण से परिणमता है। उसका अस्तित्व उसके कारण से परिणमता है। तेरा ज्ञान, दर्शन का गुण असमान—विशेष, वह भी तेरे कारण परिणमता है। द्रव्य पर दृष्टि देने से वे गुण, गुणरूप से, ज्ञानरूप से, दर्शनरूप से जो आत्मा है, उसका भावरूप से, उसरूप से परिणमना, वह उसके भाव से परिणमता है। वह पर के कारण परिणमता है ? पर को परिणमावे, ऐसा है नहीं। आहाहा ! भारी कठिन, भाई ! ऐसा धर्म ... दूसरे कहे, यह नया निकाला। नया पन्थ है, कहे। ऐई ! प्रकाशदासजी ! यह तो नया पन्थ निकाला। नहीं स्थानकवासी, नहीं मन्दिरमार्गी, नहीं यह दिगम्बर। किसी के साथ मिलान नहीं खाता। अरे ! भगवान !

मुमुक्षु : स्वतन्त्र होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु है, वह है यह। लोग मानकर बैठे; इसलिए कहीं तत्प्रमाण हो जाये ?

मुमुक्षु : नाम नहीं रखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम कौन रखे ? किसके नाम हैं ? धूल के ? नाम, रूप नाशवान इस आत्मा को कहाँ है ? नाम, रूप, आकार वह परिणमन आत्मा में है। किसका नाम और किसका ठाम ? यह सब बातें हैं। आहाहा ! अनामी का नाम क्या ? नामवाले का अनामपना अलग है। आहाहा ! वस्तु कुछ अन्दर है ? इस शरीर में। ... इसे कान कहना, इसे आँख कहना, इसे नाक कहना, इसे जीभ कहना, यह कहना, वह कहना, यह कुछ नाम नहीं।

चन्द्रकान्तभाई किसका नाम है इसमें ? होंठ का ? जड़ का किसे कहाँ है ?

मुमुक्षु : पूरे को कहा जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरे को भी कहाँ ? पूरा तो शरीर है। इसका नाम शरीर है। और वापस चन्द्रकान्त नाम। एक नाम और वापस दूसरा नाम ! शरीर है, शरीर नाम है। ... आता है न ? ... आता है। ... समझ में आया ? आहाहा ! सम्प्रदाय के विवाद में यह तत्त्व पूरा रह गया है। ... गया वहाँ ... बिल्ली निकालते ऊँट घुस गया। कौन सम्हाले और कौन रखे ? आहाहा ! मार्ग, यह कोई मार्ग है। वीतराग का अकेला भरना भरा है। आहाहा !

अरे ! मैं इसे उत्तर दूँ, मैं यह ... वह ... मेरे लिये मानता है। इसलिए मैं कुछ उसे समाधान कराऊँ, ऐसा तुम मानते हो, ऐसा नहीं है। परन्तु ऐसा विकल्प भी कहाँ है आत्मा में ? आहाहा ! ऐई ! और यह वाणी भी आत्मा में कहाँ है ? इस वाणी से उसे समाधान करे। और वाणी से उसे समाधान हो, ऐसा उसके समाधान में भी कहाँ है ? ... प्रवचनसार। यह वाणी दूसरे को ज्ञेय बनाकर समझावे, बापू ! ऐसा नहीं होता। वह वाणी स्वयं जड़ है और दूसरे का द्रव्य उसका अस्तित्व का ज्ञेय भी भिन्न है। उसे ज्ञेय बनाकर यह वाणी उसे समझावे, व्यामोह में मत पड़। समझ में आया ? ऐसा मानना नहीं। आहाहा ! यह तो कोई बात है ! आत्म-दरबार की बातें अलौकिक है। समझ में आया ? लो, यह २६वीं शक्ति। ध्रुव उपादान, क्षणिक उपादान स्वयं से है। सत्ता का गुण और ज्ञान, आनन्द का गुण, वह अपने और सबमें... परिणमन अपने कारण से ... है। उसमें वास्तव में तो व्यवहार का भी अभाव है। क्योंकि गुण का परिणमन तो गुण में निर्मलरूप से परिणमे। उसमें वह रागरूप परिणमे, ऐसा उसमें है नहीं। उसमें तो इसका अभाव है। तब वह एक-एक गुण भी ... एक साथ पावे। तो भी वह कोई रागरूप परिणमे, ऐसा तो कभी नहीं है। आहाहा ! चैतन्य, वह चैतन्य। कैसी यह वस्तु ?

मुमुक्षु : प्रभु ! अलौकिक वस्तु है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलौकिक वस्तु है। आहाहा ! लोग कहते हैं न, यह वस्तु ! ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा... भाई ! इस शरीर को न देख। इसके ऊपर दृष्टि देकर यह है, ऐसा

न देख। इसको जाननेवाला इससे अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! इसके आकार को न देख। इस आकार का, शरीर के और जड़ के आकार का जाननेवाला, इस आकार की अस्ति के कारण जाननेवाला अलग है, ऐसा नहीं। स्वयं के कारण जाननेवाला अलग है। यह आकार है तो जाननेवाला इससे अलग है, ऐसा नहीं। इस आकार के कारण यह जाननेवाला है, ऐसा नहीं। जाननेवाले के कारण जाननेवाला है। समझ में आया? यह तो सब अगम्य गम्य की बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... वह मोक्ष कौन पाता है? आहाहा! नन्दकुमारजी! ऐसी बातें हैं।

जिसमें व्यवहार का अभाव है। व्यवहार कौन सा? शरीर, वाणी, मन का नहीं। यह व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ... समझाना, ऐसा जो विकल्प, उस विकल्प से तो आत्मा का स्वरूप अत्यन्त भिन्न है। विकल्प का ज्ञान होता है, ऐसा कहना भी एक अपेक्षा से बात है। समझ में आया? विकल्प जो व्यवहार है, वह व्यवहार तो इसमें नहीं है। परन्तु उस व्यवहार का ज्ञान यहाँ कहना, वह भी ऐसा नहीं है। वह तो ज्ञान स्वप्रकाशक अपना अपने कारण से हुआ है। आहाहा! ऐसा भगवान का दरबार इसने कभी सुना नहीं। 'आनन्दघन प्रभु के घर द्वारे रटण करूँ गुणधामा' वह यह रत्न गुण, यह गुणरत्न कहा। ... भगवान, भगवान के पास रहे। भगवान का भगवान तो यह है। उस भगवान का जाननेवाला यह है। देव का देव तू है। आहाहा! गुरु का गुरु तू है। गुरु पूर्ण पर्याय और उसका गुरु तू द्रव्य। आहाहा! कहो, समझ में आया? ऐसा है, कान्तिभाई! यह वाड़ा में समाये ऐसा नहीं यह।

व्यवहार जरा होय न, ... तो उसने निश्चय और व्यवहार दोनों माना कहलाये। ऐई! व्यवहार है, उसे जाना किसने? व्यवहार है, उसे जाना किसने? यह व्यवहार है, इसलिए जाना है? व्यवहार है, इसलिए निश्चय है—ऐसा तो नहीं, परन्तु व्यवहार है; इसलिए उसका ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐई! आहाहा! बात तो ऐसी है। साधारण के... असाधारण ऐसी चीज़। मुश्किल से पुरुषार्थ सधे, ऐसी है। दुर्धर पुरुषार्थ है। समझ में आया? ऐसे भाव में इसे बैठ गया है बाहर। अस्तित्व ऐसा ही है, दूसरा है ही नहीं। ऐसे जँचे बिना भाव का भासन सच्चा नहीं होता, तब तक इसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा!

एक-एक शक्ति अनन्त-अनन्त शक्तिवाली है, हों! एक-एक शक्ति परिपूर्ण है परन्तु अनन्त शक्तिवाली है। और एक-एक शक्ति की अनन्त पर्याय है। और एक-एक शक्ति यह जो साधारण-असाधारण आदि कही, उसमें समय-समय की पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र परिणम रहे हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। आहाहा! कितनी विधि लेकर पड़ा है यह! उसका परिणमन ज्ञान का सत्तागुण का समान-असमान का एक समय में जो परिणमन है, वह परिणमन की पर्याय उसकी कर्ता, पर्याय उसकी कर्ता और राग कर्ता नहीं। राग का कर्ता वह नहीं और राग की पर्याय कर्ता नहीं। तथा राग की पर्याय कर्ता नहीं, पर्याय राग की कर्ता नहीं। पर्याय पर्याय की कर्ता। निर्मल, हों! उसे पर्याय कहते हैं। परन्तु उस पर्याय का कार्य पर्याय में है। पर्याय का कर्म कार्य है। करण पर्याय का साधन पर्याय। अपादान स्वयं से पर्याय हुई है। क्षणिक उपादान, यह बात करते हैं। स्वयं के आधार से हुई है और स्वयं होकर स्वयं ने रखी है। एक समय की पर्याय होकर रखी है। दातार भी स्वयं और लेनेवाला भी स्वयं। आहाहा! समझ में आया?

एक समय की पर्याय में एक-एक गुण में ऐसे षट् गुण का स्वतन्त्र परिणमन ख्याति-आत्मप्रसिद्धि करता है। समझ में आया? यह सब होकर एक आत्मा। साधारण-असाधारण ऐसी शक्ति, उस शक्ति का परिणमन होना और अनन्त गुण का साथ में निर्मल परिणमन होना, वह ज्ञेय। वह पर्याय का ज्ञेय, द्रव्य-गुण का ज्ञेय, ये तीन होकर आत्मा कहे जाते हैं। बीच में दया, दान, व्रत, विकल्प (आवे), वह आत्मा नहीं, वह अनात्मा है। उसे भगवान ने आत्मा नहीं कहा। आहाहा! भाई! ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़ती है। व्यवहार के...

बापू! तेरा स्वभाव तो अन्तर में है। उसका हल किये बिना तुझे आनन्द का लाभ हो, ऐसा नहीं है। यह ... विकल्प से लाभ नहीं, भाई! निर्विकल्प चीज़, वह आत्मभाव से परिणमे, स्वभावभाव से परिणमे, वस्तु का जो स्वभाव है, उसरूप हो, तब उसे धर्म कहा जाता है। आहाहा! कोई किसी को कहीं शरण नहीं है। यह रोग में रगड़ता हो, पूरा परिवार इकट्ठा हुआ हो। देखे टक-टक करके... हजार ... हो हजार... भागो। उसमें यह सगे-सम्बन्धी भागे नहीं और खड़े रहे। परन्तु भागने का अर्थ अपन इसमें कुछ कर सकें, ऐसा नहीं है। भागो ऐसा। नहीं तो फिर ... ऐसा करो, इसे राव खिलाओ, इसे यह पिलाओ, इसे

ढँको, इसे गर्मी दो, अमुक चीज़ है, अमुक चीज़ है। रोग हुआ तो वह किस प्रकार निकालना। यह ... आता है न मशीन का। धूल भी काम नहीं करता, सुन न। मशीन भी जड़, वह कफ जड़, यह मशीन उसे निकाले, ऐसा नहीं होता। आहाहा!

भावनगर में नहीं? ... भावसिंहजी। यह पहले बन गया है। वे ... पड़े, वह डॉक्टर। बड़ा डॉक्टर उनका अपना होता है न? ... डॉक्टर। .... डॉक्टर समझे ... यह तो अन्तिम स्थिति है। बड़ा दरबार। अन्तिम समय की बात है। ... ऐई! मैंने कईयों को माँ बिना के किये हैं। मेरे लड़के माँ बिना के हो गये। माँ गई, अब मैं जाता हूँ। यह पुत्र कृष्णकुमार और वे सब उस समय छोटे थे। देखो! क्या है, उसे ख्याल नहीं। यहाँ सब निकलता है। यह जो आया है, वह श्वास बन्द होने के लिये आया है और निकालने जाये, वहाँ एकदम दूसरा तैयार होगा वहाँ। बापू! यह जड़ की क्रिया! यह जड़ की क्रिया तू जाने, यह भी व्यवहार कहा जाता है। करे तो किसका? आहाहा! समझ में आया?

देखो! अपने भाई थे न? लखाणी, वे मूलजीभाई। मूलजीभाई लखाणी। ... मनुष्य। वह कैसा रोग आया, क्या कहलाता है यह तुम्हारा? ... भरावदार शरीर। लोग कहे बुलाओ डॉक्टर को। (यह कहे) बुलाओ लालूभाई को। लालूभाई को पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध था। भाई! ... रास्ते में रहे। ... इतना प्रेम था न! बहुत वर्ष की बात है। तुम थे? इनकार करे। उसे कहे आवाज लगाओ। ५०-५५ ... डॉक्टर कहे यह लालूभाई ... है। ऐई! वह कहे लालूभाई को बुलाओ, वे कहें डॉक्टर को बुलाओ। अन्तिम स्थिति थी। पहले तो ऐसा हो गया था। ... अरे! लालूभाई कहे, मूलजीभाई! यह शरीर का धर्म आत्मा जानता है। शरीर का धर्म शरीर में है; आत्मा जानता है। समझ में आया? तब वह बोलते हैं कि आत्मा शरीर के रोग को जाने या ज्ञान अपने को जाने? मरण के अवसर पर, हों! ... रोग है, उसके सामने देख, भाई! रोग के सामने देखना है? ... है न?

रोग को जानना या आत्मा को जानना है? कौन जानता था उसे? उस पर्याय को जाने, रोग की पर्याय तो अपने को जानने की ज्ञान की पर्याय है। रोग को जानने की पर्याय तो वह तो ज्ञान की पर्याय ज्ञान से हुई है। उस रोग के कारण हुई है? आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा को देखना या उसे देखना? ऐई! मोहनभाई! 'एक रे दिन ऐसा आयेगा मानो कोई नहीं रे।' एक दिन ऐसा आयेगा। आहाहा! ... वे रुपये इकट्ठे किये, इस शरीर को सवेरे दिये

होंगे। बादाम, पिस्ता वह ... होता है। कल दिया न उस लड़के को मौसम्बी दी, यह तो सब ऐसे... भाई का पुत्र। मौसम्बी जहाँ दी वहाँ ... ले गया। उसका कर कौन सके? वहाँ सामने खड़े ... अरे! बापू! को दुःख बहुत। गहरे-गहरे उसे हो जाता है कि अब झट छूटो तो। तो छूट गया वहाँ... ? वहाँ पलंग बिछाकर बैठ जाये तो... होगा?

जहाँ समाधान करना है, वहाँ जाता नहीं और यहाँ जाने दो। समाधान कर, आनन्दमूर्ति हूँ। मुझमें दुःख नहीं और दुःख का जानना, वह मुझमें है नहीं। स्व को जानते हुए दुःख का भाव उसमें ज्ञात हो जाए, वह अलग बात है। समझ में आया? ऐसा अन्तर में से निर्णय आये बिना वह स्वसन्मुख नहीं हो सकेगा। समझ में आया? स्वसन्मुख के अन्तर बिना कोई... करेगा नहीं। बाहर के कारण से कोई... नहीं। यह... देखा नहीं उसे? वह तुम्हारे बड़े भाई को यह सब पैसा... करते हैं? ...लो यह तो सगे भाई हैं। कौन सगे? कौन किसके? .... देखे कि यह... वह है कौन? साधे कौन?

यहाँ तो कहते हैं कि उस गुण का परिणमन स्वयं से होने पर जिसे राग और पर की अपेक्षा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा ही आत्मा का द्रव्य और स्वरूप है। इस प्रकार स्वरूप को और आत्मा को न माने और न जाने, तब तक आत्मा से विपरीत मान्यता ऐसी है कि तत्त्व को ही उसने नहीं माना। आहाहा! समझ में आया? अब २७वीं शक्ति। ओहोहो! गजब काम करते हैं न! अब कहते हैं, तुझमें अनन्त स्वभाव से धारण हुआ एक भाव, ऐसी अनन्त धर्मत्वशक्ति है। वह अनन्त धर्मत्व नाम का एक गुण है। आहाहा!

जितने धर्म हैं। वे सब धर्म विलक्षण हैं। विलक्षण अर्थात्? परस्पर भिन्न लक्षणवाले हैं। ज्ञान है, उसका जानना लक्षण, दर्शन उसका प्रतीति (लक्षण) इत्यादि-इत्यादि उस गुण का लक्षण भिन्न-भिन्न अनन्त गुणों का लक्षण। अनन्त लक्षण एक-एक गुण को लागू पड़ते हैं। भाषा देखो! **विलक्षण...** अर्थात् चैतन्य से अजीव विलक्षण। इस चैतन्य से यह अजीव विलक्षण है। ऐसे चैतन्य से विकार विलक्षण है। ...यहाँ तो एक गुण से दूसरा गुण विलक्षण है। आहाहा! यह तत्त्वार्थसार में डाला है। ...ऐसा कि यह अजीव है, वह जीव के लक्षण से विलक्षण है। विलक्षणवाली चीज़ विकार में निमित्त हो। अपने लक्षणवाली चीज़ विकार में निमित्त नहीं होती। ऐसा कहकर अजीव को... स्थापित किया है। तत्त्वार्थसार में है। .... छह द्रव्य की सिद्धि। ... तुम्हारे आने से पहले। तत्त्वार्थसार ... था। उसमें एक

विलक्षण रखा था। अजीव को सिद्ध करने कि जीव के लक्षण से विलक्षण ऐसा दूसरा तत्त्व यदि न हो, तो विलक्षण बिना, तत्त्व बिना, आश्रय बिना विकार नहीं हो। कहो, समझ में आया ?

वैसे तो इस आत्मा के गुण के लक्षण से, दूसरे के गुण का लक्षण भी विलक्षण है। परन्तु यहाँ तो आत्मा में जितने गुण हैं, एक गुण के लक्षण से दूसरे गुण का विलक्षण दूसरा है। समझ में आया ? यह आत्मा का दहेज बतलाते हैं। आहाहा! दहेज समझते हो ? कन्या को दहेज देते हैं न ? पच्चीस साड़ी, पच्चीस गहने, पाँच-छह तोला सोना। जिसके-जिसके प्रमाण में। यह बड़े में बड़ा होता, छोटे में छोटा होता है, दहेज है। हमारे करियावर कहते हैं। यह सगे-सम्बन्धी को बुलावे। ...रखे। यह पंखा है, यह अमुक है, यह यह है। ऐसे यहाँ भगवान कहते हैं कि तुम पहुँचाना है मोक्ष में। समझ में आया ? यह इसमें तेरा दहेज देख, देख यह तेरे पास इतनी पूँजी है। इसे लेकर तुझे जाना है। ऐई! चन्द्रकान्तभाई! आहाहा!

इसे इसके भाव में यह बात बैठनी चाहिए। अकेली शब्द में नहीं रहनी चाहिए। ऐसी स्थिति गुण की होती है। अनन्त गुण हैं कि प्रत्येक गुण का लक्षण पृथक्। आहाहा! अनन्त द्रव्य तो भले भिन्न रहे, इस एक द्रव्य से अनन्त आत्मायें और अनन्त परमाणु भले भिन्न रहे। विलक्षण तत्त्व। परन्तु आत्मा में जितने गुण हैं, उस एक-एक गुण से दूसरा गुण विलक्षण है। एक गुण का लक्षण, वह दूसरे गुण का लक्षण नहीं है। आहाहा! जानना उसका लक्षण। वहाँ श्रद्धना, उसका लक्षण समकित उपयोग (सामान्य अवलोकन) उसका लक्षण; स्वच्छता, प्रभुता, दर्शन, ज्ञान, चारित्र... इत्यादि प्रत्येक गुण का लक्षण... स्वतन्त्र है। इससे एक गुण का लक्षण है, वह दूसरे गुण का नहीं है। इस एक गुण से दूसरे गुणों का लक्षण विलक्षण है। अरे... अरे... गजब बात है न ? ऐई! ....भाई! ऐसा सुना नहीं। ऐसी बाते करके बैठा हो चतुर होकर। परन्तु इसने सुना नहीं। यह सत्य के दरबार अलग प्रकार के हैं। समझ में आया ?

इतने सब सत्गुण उस-उस लक्षण से लक्षित। परन्तु दूसरे गुण उस-उस लक्षण से लक्षित नहीं। विलक्षण है। एक द्रव्य में साथ में रहे हुए असंख्य प्रदेश में। आहाहा! जिसके प्रदेश एक, जिसका काल एक परन्तु प्रत्येक गुण के लक्षण भिन्न। आहाहा! नहीं तो अनन्त गुण सिद्ध नहीं होंगे। आहाहा! कान्तिभाई! आहाहा! ऐसी बात तो कहीं...

अकेला आत्मा उसका लक्षण ज्ञान। अब उस ज्ञान का लक्षण जानना। ऐसे अनन्त-अनन्त गुण, अस्तिरूप हैं, एक क्षेत्र में हैं, एक काल में हैं, एक द्रव्य में हैं, तथापि विलक्षण हैं। आहाहा! ऐसे विचार में रुके तो उसे दूसरे सब विकल्प टूट जाते हैं। आहाहा!

कहते हैं। यह विलक्षण की व्याख्या हुई। **(परस्पर भिन्न लक्षणोंवाले)...** आत्मा में जितने गुण—धर्म हैं। यहाँ धर्म शब्द प्रयोग किया है। इसका स्वभाव है न? ...इसलिए। वे अनन्त जो हैं, वे भिन्न लक्षणवाले हैं। भाई! वेदान्त तो कहता है एक आत्मा और यह ज्ञान, ऐसे दो कहे, वह ठीक नहीं। ऐई! यहाँ तो कहते हैं कि एक आत्मा में अनन्त गुण, उन प्रत्येक का लक्षण भिन्न है। आहाहा! ऐसी बात तो गले उतरे ऐसी नहीं है। समझ में आया? पाखण्डियों को प्रसिद्ध... आकारवाला आत्मा यह है न, भाई।

मुमुक्षु : आश्चर्य... है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! मगनभाई ने दूसरे पाँच... आप कहीं जैनधर्म के... २२ वर्ष हुए। ...यह सब चतुर लोग कहलाते हैं, दुनिया के माने उसे कहा अपनी चतुराई में कितने ही तो चतुराई में मर गये। समझ में आया? ... समझ में आया? आहाहा!

अमेहनाकार... भगवान आत्मा लोकव्यापक नहीं है। लोकव्यापक नहीं। लोकव्यापक माननेवाले पाखण्डियों के प्रसिद्ध रूप... ऐसा वह आत्मा नहीं है। पाखण्डियों ने ऐसा माना है। ...एक आत्मा में इतनी ताकत, उसे तू अनन्तवें भाग में डाल दे तो.. ? एक द्रव्य में अनन्त गुण, उसे तू सबके आत्मा से एक कर दे, यह तो गजब कर डाला। एक-एक आत्मा में अनन्त विलक्षणवाले गुण, उन्हें तू अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु होकर सब व्यापक एक है। मिथ्यादृष्टि ने पाखण्ड करके साधन मनाया है। प्रकाशदासजी! गजब यह। आहाहा!

ऐसे **ऐसे अनन्त स्वभावों से भावित...** ऐसे अनन्त स्वभावों से भावित... **ऐसा एक भाव...** वापस। अनन्त धर्म सबका एक गुण है न? आहाहा! कहो,समझ में आया? उसे एक भाव है। यह एक गुण है ऐसा। अनन्त गुण में विलक्षणवाला यह एक गुण, यह अनन्तधर्मत्वशक्ति है। अनन्तधर्मत्वशक्ति। उसे यहाँ २७वें में बात की है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५६८, श्लोक-२६५ बुधवार, पोष शुक्ल १०
दिनांक - ०६-०१-१९७१

परिशिष्ट। कहते हैं कि अनादि काल से जीव अपने स्वरूप से उसे विपरीत दृष्टि है। यह अनादि काल से है। उसका स्वभाव शुद्ध और आनन्द, ऐसा चैतन्य रत्नाकर स्वभाव भी अनादि (का) है और उसकी भूल भी उसकी दशा में अनादि (की) है। **इसलिए, अनादि काल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा) स्वरूप से च्युत होने के कारण...** अपना स्वभाव आनन्द और ज्ञान और शान्ति का स्वभाव है। उससे अनादि से बाहर क्रियाकाण्ड के पुण्य-पाप के भाव में इसकी दृष्टि होने से यह मिथ्यादर्शन के कारण, मिथ्याज्ञान के कारण, मिथ्या राग-द्वेष के चारित्र के कारण स्वरूप से च्युत होने के कारण, अपना निज आनन्दस्वरूप, उससे च्युत है—भ्रष्ट है। **संसार में भ्रमण करते हुए,...** यह संसार में भ्रमण चौरासी के अवतार ऐसे करते हुए अब इसे धर्म प्राप्त करने का अवसर देते हैं। यहाँ तो मुनि को मुख्य करके उपदेश की बात है। मुनि छठवें गुणस्थान में होते हैं, उन्हें ऐसा व्यवहार होता है, उसका अभाव करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तीन की एकता का अनुभव करे, उसकी बात है। समझ में आया?

सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये... अर्थात् कि आत्मदर्शन तो है, आत्मज्ञान भी है परन्तु चारित्र की एकाग्रता सातवें गुणस्थान में चाहिए वैसी नहीं है। समझ में आया? ऐसे **सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र...** छठवें गुणस्थान में उसे आत्मदर्शन है, ज्ञान है और चारित्र का अमुक भाग भी है। उसे व्यवहार के देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का विकल्प, नवतत्त्व की श्रद्धा का विकल्प और पंच महाव्रत आदि, उसके **व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक...** अर्थात् उसमें राग घटता जाता है। व्यवहार में से राग घटता जाता है, निश्चय में आरूढ होने की तैयारी करता है। समझ में आया?

परम्परा से... है न? **पाक के प्रकर्ष की परम्परा से...** परम्परा द्वारा। राग घटता जाता है न? स्वभाव का आश्रय है, इसलिए राग घटता जाता है। शुभराग है अवश्य।

ओहोहो ! यह ध्यान और यह वस्तु है। चैतन्यस्वरूप आनन्दमूर्ति का ध्यान करके सम्यग्दर्शन पाता है, सम्यग्ज्ञान पाता है और चारित्र की पूर्णता की तीन की (दर्शन-ज्ञान-चारित्र की) एकता, वह सातवें गुणस्थान में होती है। इससे पहले उसे ऐसा व्यवहार छठवें गुणस्थान में होता है। वजुभाई ! समझ में आया ? अकेला व्यवहार पकड़ा है, ऐसा नहीं, परन्तु चारित्र की निर्मलता की एकाग्रता जो सातवें गुणस्थान में चाहिए, वह श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र, तीन एकता होऐसी एकता का जहाँ अभाव है, वहाँ आगे ऐसे व्यवहार विकल्प होते हैं। उसमें से भी शुभराग में है, तो उसमें अशुभराग घटता जाता है और स्वभाव सन्मुख में ढलता जाता है। इसमें विवादित बोल यह है। जिसकी दृष्टि विपरीत है, उसको विवादित बोल है कि देखो ! यह इसमें पहले व्यवहार आता है। पण्डितजी !

सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से... उसकी वापस पाक की परम्परा द्वारा शब्द है। क्योंकि स्वभाव का आश्रय है, उतना वह राग घटता जाता है। सातवें गुणस्थान में चारित्र की जो स्थिरता चाहिए, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तीनों की एकतारूप जो मोक्षमार्ग, वह इस छठे गुणस्थान में नहीं है। समझ में आया ? उसकी परम्परा द्वारा राग घटते... घटते... घटते... **स्वरूप में आरोहण कराये जाते...** ओहोहो ! बात तो ऐसी है परन्तु अब इसे समझने में किस प्रकार आवे, इसलिए इसे जँचती नहीं। पहला व्यवहार होता है... व्यवहार होता है। व्यवहार का विषय तो पर के ऊपर है। व्यवहार है, वह तो पर के आश्रय के लक्ष्य से व्यवहार है। उसके आश्रय से स्व का लक्ष्य बढ़े ? इसलिए परम्परा शब्द प्रयोग किया है। राग घटता है। घटते-घटते सच्चिदानन्द प्रभु अपने निर्मल स्वभाव की स्थिरता का आश्रय करके... **आरोहण कराये जाते...** स्वरूप में आरोहण होना। स्थिरता, स्थिरता। जो व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का विकल्प था, उसमें से हटकर... परम्परा कहा है न ? शुभ में था तो अशुभ टला था परन्तु उस शुभ से हटकर अन्तर में जाता है; इसलिए **स्वरूप में आरोहण कराये जाते...** परम्परा द्वारा उसे अनुक्रम से। ऐसे दो शब्द पड़े हैं न ?

व्यवहार का लक्ष्य ही पर है। यह अपने पंचास्तिकाय में आता है न ? पंचास्तिकाय। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उसका विषय पर है। स्व विषय नहीं। ऐसा बीच में व्यवहार विकल्प आता अवश्य है। चारित्र की निर्मलता की श्रद्धा, ज्ञान के साथ जो एकता चाहिए,

उतनी नहीं है, इसलिए उसे आत्मा का दर्शन-ज्ञान और भान अमुक अंश में स्थिरता होने पर भी ऐसा भान मुनि को होता है। मुनि की प्रधानता से कथन किया है। क्योंकि पहले से शुरु किया है न? **'चरित्तदंसणणाणठिदो।'** चारित्र, ज्ञान, दर्शन में स्थित है, वह स्वसमय अर्थात् आत्मा। यह पहले से शुरु किया।

भगवान आत्मा अपने पवित्र आनन्दस्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति से स्थिर होता है, उसे आत्मा कहने में आता है। स्वआत्मा अर्थात् वह आत्मा है। और कर्मप्रदेशों में अर्थात् राग और पुण्य-पाप के भावों में स्थिर होता है, उसे अनात्मा कहने में आता है। भारी काम, भाई! अनादि का इसे अभ्यास नहीं, इसलिए यह क्या है यह तो? किसी को किसी के साथ मिलाता है... किसी को किसी के साथ मिलाता है। यह सर्वज्ञ का कहा हुआ यह तत्त्व किसी दूसरे के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। देखो न! पर्याय की, राग की मन्दता करता जाता है और पर्याय की निर्मलता स्वरूप में आरूढ़ हो, तब होती है। वहाँ पर्याय में इतना विवेक बताते हैं। समझ में आया? पर्याय अर्थात् अवस्था, हालत, दशा।

द्रव्यस्वरूप त्रिकाली आनन्दमूर्ति अभेद होने पर भी और उसके ऊपर दृष्टि होने पर भी, स्वरूप में ऐसी स्थिरता की लीनता जितनी चाहिए, अप्रमतदशा की—तीन की एकतारूप होने की इतनी लीनता का अभाव है, इसलिए उसे व्यवहार के ऐसे विकल्प, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-श्रद्धा ऐसा विकल्प होता है परन्तु उस विकल्प को क्रम-क्रम से घटाकर अन्दर आनन्दस्वरूप में जब आरूढ़ होता है, इस आत्मा को तब... समझ में आया? परन्तु भारी मार्ग, भाई! महा भगवान चैतन्य अतीन्द्रिय महापदार्थ को तो पूरा गुप्त कर डाला। यह सब प्रसिद्ध हो गया—शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप, राग-द्वेष, दया, दान के विकल्प ये प्रसिद्ध हो गये। वह अप्रसिद्ध रह गया। जो प्रसिद्ध करनेयोग्य है, वह अप्रसिद्ध रह गया और जिसे प्रसिद्ध करनेयोग्य नहीं, वे प्रसिद्ध हो गये। यह तो आत्मख्याति ऊपर आया न? इस टीका का नाम आत्मख्याति है। समझ में आया?

निर्विकल्प आनन्दस्वरूप प्रभु, ऐसा इसका स्वभाव ही शुद्ध अविकारी, ऐसा इसका स्वरूप अनादि का है। परन्तु भूला हुआ है, पुण्य और पाप के राग को अपना मानकर, मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से भूला है, स्वरूप से भ्रष्ट था; इसलिए संसार में भटकता है। उसे अब भटकने के अन्त की बात आती है। तब प्रथम तो अनुभव सम्यग्दर्शन

का करे। समझ में आया ? चैतन्य निर्विकल्प वस्तु, बेहद जिसके ज्ञान का स्वभाव है, बेहद जिसके आनन्द की शक्ति है, बेहद जिसकी स्वच्छता और निर्मलता भरी है। आहाहा! ऐसी अपरिमित शक्ति का भण्डार भगवान आत्मा की निर्विकल्प दृष्टि होने पर, उसे यह आत्मा है—ऐसा प्रतीति में-अनुभव में आता है। भारी कठिन काम। यह मार्ग ऐसा, इसलिए सबके साथ मेल करो, ऐसा करो, अमुक करो। किसके साथ मेल करे इसमें ? आहाहा!

जिसके साथ मेल नहीं था, उसके साथ मेल किया वह मेल। राग को, पुण्य को, विकल्प को अपने मानकर घूमा था, यह किया मेल। शाश्वत चीज़ तो यह है। अविनाशी भगवान आत्मा, अपने अविनाशी स्वभाव को भूलकर नाशवान रागादि को अपना मानकर स्वरूप से च्युत होकर परिभ्रमण करता है। लो, यह भूल से करता था, ऐसा सिद्ध किया है। नहीं तो एक अद्वैत आत्मा माने, उसे भूल स्वीकृत नहीं हो सकती। क्योंकि एक में और भूल कहाँ से आयी ? यह भूल का टलना भी फिर कहाँ से आवे ? ऐसी अवस्था तो माने नहीं। आहाहा! मोतीलाल आये थे न ? एक मोतीलाल थे। (परम) हंस हुए न ? परमहंस। साधु हुए, उससे पहले अपने यहाँ व्याख्यान में आते थे। फिर हुए बाबा।

मुमुक्षु : अहमदाबाद में आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अहमदाबाद में आये थे। व्याख्यान में आये थे। यहाँ आये थे। ... साधु होकर फिर आये। पहले परिचित थे न! रतिलाल दशाश्रीमाली थे। रेल के ऊपरी। पहिचानते होंगे ? भाई तो पहिचानते हैं। व्याख्यान में आते थे। (संवत्) १९८९ में, १९९० में, १९९५ में। वह फिर साधु हो गया। कुछ खबर नहीं होती। फिर यहाँ आये थे। ... परन्तु आत्मा में भूल है या नहीं ? कहा, यदि भूल न हो तो उसे कुछ समझने का नहीं रहता। तब तो हो गया। निर्भूल आनन्द है। उसे भूल न हो तो आनन्द होना चाहिए। क्योंकि आत्मा तो आनन्दस्वरूप है। तो भूल... भूल तो स्वीकार करनी पड़ेगी। भूल जहाँ स्वीकार करोगे, वहाँ आत्मा के अनन्त गुणों में वर्तमान दशा में भूल का विकार है, ऐसा होने पर उसकी दशा में उसकी विकारदशा स्वीकार करनी पड़ेगी। विकारदशा स्वीकार करने के लिये विकार का लक्ष्य पर के ऊपर जाए तो सामने की चीज़ को मानना पड़ेगा और वह भूल टलती है, उसके स्थान में पलटकर, बदलकर, निर्भ्रान्त शान्ति का दशा प्रगट होती है। उसकी पूर्व पर्याय का व्यय और नयी (पर्याय) की उत्पत्ति और ध्रुव का कायम रहना, ऐसा सिद्ध हुए

बिना भूल स्वीकृत नहीं होगी। और भूल न स्वीकार करे तो फिर वेदान्त आदि ने कहा क्या? कि तुम आत्यान्तिक दु:ख से मुक्त होओ। अन्दर दु:ख है न? आत्यान्तिक दु:ख से मुक्त होओ। तो दु:ख अन्दर है न? दु:ख क्या है वह? वह क्या चीज़ है? उसका कोई अस्तित्व है या नहीं? आत्मा आनन्द है, उसकी उल्टी दशा का नाम दु:ख है। यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान, वह दु:ख है। उसे मिटाने से, स्वरूप में आरूढ़ होने पर... देखो!

स्वरूप में आरोहण कराये जाते... आरोहण कराये जाने पर, पुरुषार्थ से बात है। आहाहा! **इस आत्मा को, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद हैं...** जब इसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश तो था, परन्तु चारित्र की पूर्णता की एकता **अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान...** उसमें तीनों इकट्ठे हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा के अनुभव की दृष्टि, श्रद्धा; निश्चय ज्ञान आत्मवेदन और चारित्र अर्थात् स्वरूप की स्थिरता। ऐसे तीन भेद जिसमें अन्तर्मग्न अर्थात् अभेद में तीन भेद हैं। **उसके द्वारा स्वयं...** उसके द्वारा स्वयं **साधकरूप से परिणमित...** लो, यहाँ साधकरूप से लिया है। व्यवहार को साधकरूप से परिणमता, ऐसा शब्द लिया नहीं।

मुमुक्षु : दूसरे शास्त्र में लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे शास्त्र में लिया तो इसका अर्थ व्यवहार है, वह तो व्यवहार है, वह है ऐसा बतलाया है। सर्वथा ... है नहीं। साधक का व्यवहार और साधकरूप परिणमता है, ऐसा ... कहा। वह तो ... बस, तब निश्चय साधक। अर्थात् स्वचैतन्य भगवान स्व का आश्रय लेने से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकतारूप तीन का परिणमन हो, तब वह साधकरूप परिणमता हुआ, ऐसा कहने में आता है। व्यवहार से उसके साधकरूप परिणमता हुआ, ऐसा नहीं था। था, उसे परम्परा से अनुक्रम से उसे छोड़कर स्वरूप में आरूढ़ होता है। इसका अर्थ यह हुआ। स्वयं साधु है न इसलिए। मुनि है न? अमृतचन्द्राचार्य अर्थात् स्वयं मुनिपने से बात की है। पंच महाव्रतादि का विकल्प, उस भूमिका में आता है। आत्मदर्शन और ज्ञानसहित होने पर भी जो चाहिए, वह पूर्ण स्थिरता नहीं है। इसलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन की एकतारूप स्थिरता नहीं, तब तक उसे ऐसा व्यवहार का विकल्प होता है। परन्तु उसे छोड़कर। परम्परा से अर्थात् उसे

छोड़कर... अनुक्रम से उसे क्रम छोड़कर चैतन्यस्वरूप में अन्दर आरूढ़ होता है, तब उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन भेद, अभेद में तीन भेद अन्तर्मग्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग तो यह है। करने का तो यह है। यह क्या करे? इसमें करे या दूसरे में करे? राग और पुण्य-पाप, वह तो दूसरा है। उसमें करना है इसे? समझ में आया?

मार्ग अपूर्व है। अगम्य हो, ऐसा नहीं परन्तु गम्य हो, ऐसा है। अगम्य को गम्य करना है। ऐसा चैतन्य भगवान ज्ञान का निर्मल पुँज प्रभु, उसके सन्मुख देखा नहीं था। तब तो इसे व्यवहार के विकल्प भी गिनने में नहीं आते थे। समझ में आया? इसलिए उसको व्यवहार कहा है।

जब तक चैतन्य प्रभु, अनन्त आनन्द का धाम, अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द, जिसके आनन्द के समक्ष, एक क्षण के आनन्द के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन सड़े हुए कुत्ते और बिल्ली की गन्ध मारे ऐसे हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा भगवान सच्चिदानन्द प्रभु! सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। इतने शब्द उसके वाच्य को कहने के लिये पहुँच नहीं सकते। ऐसी वह वस्तु है। समझ में आया?

ऐसा जो भगवान आत्मा स्वरूप की वृत्ति स्वभाव की होने पर भी, स्वसन्मुख का अनुभव और दृष्टि स्थिरता आंशिक होने पर भी, उसे उस भूमिका में परसन्मुखता के व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र के विकल्प अर्थात् शुभराग होता है। समझ में आया? अरे! इसके घर की बातें इसे नहीं सुहाती और पर घर से इसमें कुछ लाभ हो, ऐसा माने वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि अनादि का जो मिथ्याश्रद्धा से भटकता, उसे स्वसन्मुख की दृष्टि तो हुई है, स्वसन्मुख का ज्ञान-वेदन भी हुआ है परन्तु अभी चारित्र की एकता जो सातवें (गुणस्थान) में जितनी वीतरागता होनी चाहिए, ऐसी नहीं है, इसलिए उसे ऐसे व्यवहार के, दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विकल्प होते हैं। बस, यह बात है। इसके अतिरिक्त दूसरा इसमें कुछ नहीं है। आहाहा! .... लोगों को। .... जो वस्तु अपनी नहीं, उसे प्राप्त करना कठिन है। कभी राग अपना करना चाहे परन्तु कभी हुआ है? इस शरीर का एक रजकण (अपना) करना चाहे, वह हुआ है। आहाहा!

देखो न! कितनी बेचारे जवान मनुष्य ऐसे... मरकर चले जाते हैं। आहाहा! ... की बात .... ओहोहो! पचास लाख रुपये। एक पुत्र। दरबार कहते थे कि एक ही पुत्र था। दरबार कहते थे। कैसा? ... एक ही पुत्र। और बहुत सब बेचकर पैसे खर्च किये। अमेरिका पढ़ने भेजा। दो-तीन महीने... हुआ तो कुछ हो गया। यह सुना तो उसका बाप पागल हो गया। क्योंकि कितना बेचकर भी अन्त में बड़ा होशियार होगा और डबल वस्तु-पैसा लायेगा। आहाहा! देखो न! यह अवतार। इसके फल गति में, वहाँ क्या आयेगा? वह वापस पहला विवाहित। छह महीने में। परन्तु यह खबर नहीं पड़ी। लो, दरबार, जमीदार... नहीं? छोटाभाई! तुम्हारे... गये थे न हम। रात्रि में रहे थे। डेला है, वहाँ ऊपर। वहाँ से लींबड़ी जाना था न?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... वह लड़का था। दरबार थे, बहुत पैसा खर्च करके पढ़ाया, अमेरिका भेजा। छह महीने का विवाह। और यहाँ इसके पिता ने सुना तो हाय... हाय... जमीन गयी, लड़का गया। आहाहा! अब क्या गया? कहाँ गया? तू तो तेरे पास है, वह कहीं जाता नहीं और आता नहीं। वह तो तेरा नहीं था और वह गया। नहीं था, वह गया उसमें क्या? दरबार!

मुमुक्षु : ऐसा ज्ञान होवे तो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान है, बात यह है। कब तेरे थे, बापू! तेरे हों वे भिन्न रहें? भिन्न पड़े? और भिन्न पड़े, वे तेरे कैसे कहलाये? आहाहा! अरे! अकेला आत्मा अनादि का आया और अकेला जाता है, उसे कोई सम्बन्ध में है नहीं और वह सिर फोड़े और पागल हो, इससे अब वह कुछ आनेवाला है? आहाहा! लोग को कुछ शरीर ठीक हो, जवानी हो और पैसे-बैसे का कुछ साधन हो, वहाँ आँख फिर जाती है। मानो हम कुछ हैं। अरे! परन्तु तू कौन है? आहाहा! तू जो है, वह यह नहीं और यह जो है, वह तू नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार... यह आत्मा कहाँ है? अनात्मा का ऐसा विकल्प आता है। इससे कहीं उसे साधकरूप परिणमे, ऐसा लिया नहीं। व्यवहार साधकरूप परिणमता

है, ऐसा है उसमें ? है नहीं। निश्चयरूप से परिणमे तो साधक है। आहाहा! ऐसे-ऐसे श्लोक सुने परन्तु छाती का कठिन।

मुमुक्षु : दूसरे की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... परन्तु दूसरा-तीसरा अर्थात् क्या ? संयोगी चीज़ तो उस क्षण में छूटेगी, वह तो छूटेगी। तेरे क्षेत्र से आगे पड़े, तब तुझे ऐसा होता है कि यह मर गया।

मुमुक्षु : यह तो सबको छूटता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे इकट्ठा है ? किसके साथ है यह ? शरीर आदि के रजकण तो उसके कारण से आकर रचे हैं। वे कहीं तेरे नहीं हैं, तेरे लिये आये नहीं है और तेरे होकर रहे नहीं है। बराबर है ?

मुमुक्षु : बराबर ही होगा न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! कहते हैं, प्रभु! छूटने का मार्ग तो तेरे पास है। वह कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता। आहाहा! स्वरूप से च्युत हुआ अनादि से... आहाहा! पागल हो गया। जो अपनी चीज़ नहीं, ऐसे नाशवान राग और नाशवान शरीर को पकड़कर बैठा, स्वरूप से च्युत हो गया है। अब इसे जब स्वरूप की सावधानी की दृष्टि हुई और स्वरूप यह चैतन्य आनन्द, वह मैं हूँ—ऐसी दृष्टि और ऐसा ज्ञान हुआ, परन्तु स्वरूप की स्थिरता जो चारित्र की एकता चाहिए, वह नहीं। उसे पहले ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र के व्यवहार के शुभरागरूपी भाव होते हैं। उस शुभराग में अशुभ घटाते-घटाते, वह आगे बढ़कर स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसमें आरूढ़ होता है।

इस आत्मा को, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद हैं तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ,... साधकरूप परिणमता होता हुआ, यह तो ज्ञान लेना है न ? परिणमता समझ में आया ? ज्ञान, ज्ञान लेना है न ? ज्ञानमात्र एक वस्तु है। ऐसा लेना है न ? ज्ञानस्वरूप प्रकाश का पुंज प्रभु! वह आत्मा एक और ज्ञान भी एक, अविनाशी शक्ति गुण। एकपना होने पर भी उसके दो परिणामरूप ज्ञान परिणमता है, होता है-ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा!

वह **स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ,...** ऐसा कहा, देखो! वापस

वह व्यवहार था, इसलिए निश्चयरूप परिणमा, ऐसा नहीं लिया। विकल्प था, इसलिए यहाँ निश्चयरूप परिणमा है, ऐसा नहीं लिया। स्वयं ही आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिरतारूप साधकरूप परिणमा, स्वरूप की दृष्टि, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप में लीनतारूप चारित्र, उसको चारित्र कहते हैं। यह देह की क्रिया नग्न हो जाये, इसलिए चारित्र है, पंच महाव्रत के विकल्प उठे, इसलिए चारित्र है। यह चारित्र-फारित्र है नहीं। आहाहा!

अरे! इसके निजघर की बातें इसे महँगी हो पड़ी है और पर घर की बातें हो गयी सस्ती। ऐसी दूसरी बातें करे कि लोगों को ऐसा रस पड़े। आहाहा! अभी एक वार्ता निकली थी। यह अभी 'अमृत...' क्या कहलाता है? ... चौपाई की। वे... लोग ऐसे प्रसन्न हो जाये। ऐसा कहे, देखो! एक था राजा, उसे थी एक विद्यावती नाम की रानी। होगा कोई कथा में आता होगा। वे दोनों जनें पति-पत्नी हाथी के हौदे पर जा रहे थे। उसमें एक गरीब वृद्ध मनुष्य निकला। तन में वस्त्र नहीं और पेट में अन्न नहीं। ऊपर वस्त्र नहीं और पेट में अन्न नहीं। ऐसा धर्म... उसे ... मारे ... रानी कहती है यह कौन है यह? उसके घर में स्त्री अच्छी नहीं हो। ऐसे रानी बोली। स्त्री अच्छी नहीं होगी। ऐई! दरबार! दरबार अभी की अपेक्षा महिलाओं का पुण्य... नहीं तो यह सब जमींदार समझने जैसे। बात... इनके बाहर में... नहीं हो। कल दरबार अपनी जाति की (बात) कहते थे।

वह रानी बोली कि इसके घर में स्त्री अच्छी नहीं होगी, स्त्री अच्छी नहीं होगी। तब राजा कहता है कि तुझे घमण्ड हो गया लगता है कि मैं स्त्री, इसलिए यह सब मेरे घर में राज। ऐसा तुझे घमण्ड हुआ है? राजा कहे। बस, हाथी के हौदे से नीचे उतर जाओ। गहने, वस्त्र सब दे दिये। यह दो-तीन सादा कपड़े थे। वृद्ध बुजुर्ग के पास जाकर कहे, पिताजी! मुझे पुत्रीरूप से रखो। रखी। साथ में गये तो उसके स्त्री और दो लड़के। यह तो उसे खबर। यह तो पुत्रीरूप से। वह भी कठिन करकशवाली स्त्री थी। ऐसा कि... सब सरीखा नहीं था। घर की महिला अच्छी नहीं थी, ऐसा सिद्ध करना था। परन्तु वह कठिन जरा बोलने में। परन्तु रानी को कहीं पहिचाने बिना रहे? रानी अर्थात् तेज हो, पुण्य हो या नहीं? बड़ा राजा हो। परन्तु वह कहीं बहू... नहीं। साधारण... परन्तु गाँव में जाये तो कहे वस्त्र चाहे जैसे पहिने हों। परन्तु घर में गई और जहाँ लकड़ियाँ लेने जाते होंगे प्रतिदिन। ऐसे लकड़ियाँ ले आयीं। उसमें पहले तीन भाग किये दो लड़के और तीनों को दी थोड़ी-थोड़ी

लकड़ियाँ। सबको दस-दस पैसे का। उसको एक को डेढ़ पैसा देते थे। छोटे-छोटे लड़के को भेजे, इसलिए लोगों को ऐसा हो कि दो। अधिक पैसा ले आवे फिर खाने का मिले और कितने ही पैसे रखे। यह वहाँ से पैसे की वृद्धि की शुरुआत हो गयी। घर में चतुर बाई आकर। लड़का भी चार घण्टे... उसके पैसे बहुत मिले। ऐसे करते-करते पैसे बढ़े... रानी कहे—तुम लकड़ियाँ उठाकर नहीं लाना। हम दो गधे रखेंगे। इसलिए अधिक... आवे और तुम्हारे उठाना मिटे। गधे रखे। लकड़ियाँ अधिक आने लगीं... पैसे हो गये। (ऐसे) करते-करते मुनीम रखा, दुकान चलायी, करते-करते... बनाया। घर में रानी आयी थी और स्त्री थी। उस राजा को समझाना था न वापस! जिसके घर में अच्छी स्त्री हो उसका घर अच्छा होता है। अच्छी स्त्री हो, वहाँ उसके कारण से मिलता होगा यह? ऐसी बात लडावे कि लोगों को अच्छी लगे। करते-करते एक बार जगत सेठ को राजा के साथ रानी ने कहा था। राजा के साथ थोड़ा मेल करते आओ। उसके घर में...

एक बार अपने यहाँ आहार के लिये आमन्त्रण दो। ... उसकी रानी थी, इसलिए खबर थी कि उसको खाने में यह पसन्द है। वही रसोई पकाई। वह खाते हुए ऐसा कहे, मुझे पसन्द है, वह चीज़ यहाँ कहाँ से? यह क्या? सेठ! तुम्हारे कोई लड़की है? हाँ, दो लड़के हैं और एक लड़की है। यह रानी थी, वह उसकी पुत्री। जाओ तुम अन्दर देखने। रानी ... वहाँ यह तो पहिचान गया। कहे, यह तो मेरी रानी। कहे, राजासाहेब! देखो यह घर। हम घर में आये, तब से ऐसा सब सुधार होते-होते राजा के साथ मिलान करा दिया, देखो! जिसके घर में महिलायें अच्छी हों, उनका सब सुधरता है। ऐसी सब बात अच्छी लगे... भाई! परन्तु महिलाओं को सुनना बहुत अच्छा लगे। कहे। आहाहा! दरबार!

मुमुक्षु : महिलाओं को अच्छा लगे परन्तु जिसका घर...

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा लगेगा परन्तु घर उसके कारण चलता होगा? महिलायें बहुत बेचारी खानदानी ऊँची हों परन्तु रोटियाँ भी न मिलती हों। उसमें क्या करना? आहाहा! समझ में आया? अभी एक लड़के की माँ आयी। साधारण लड़का है। नाम-बाम नहीं लेते। साधारण है तो भले जरा कोढवाली लड़की को विवाह परन्तु लड़की ऐसी खानदानवाली। उसका लड़का सब भोला और साधारण है। इसलिए उसे कि यह तो तेरा धनी ऐसा है। उसे सुधारो। वह खानदानी लड़की। अभी विवाह हुए। ऐसी महिला। उसे

कुष्ठ है। और वह लड़का साधारण, इसलिए विवाह कर लिया। यह भोला मेरा धनी परन्तु उसे मैं सुधारनेवाली हूँ। मैं उसे तिरस्कार करनेवाली नहीं और इसके अतिरिक्त मुझे दूसरा होता नहीं। इसलिए ऐसा जगत में होता है। परन्तु गरीब मनुष्य भी हो। उसमें क्या करे? इसे क्या? रोटिया भी साधारण खाने को मिलती हों। महिला अच्छी हुई, इसलिए उसे घर में पैसा मिले, ऐसा होता होगा? लालचन्दभाई! क्या होगा? तेरे पिता की अपेक्षा तो बड़ी माँ का प्रेम अधिक है, इसमें देख। खबर है तुझे? कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : ऐसा कुछ नहीं कि महिलायें अच्छी हों तो ऐसा होता है और ऐसा होता है। वह तो जैसा होनेवाला हो, वैसा होता है। उसमें कुछ नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... बात को लडाते हैं। ... लोग प्रसन्न हों। परन्तु इसमें धर्म क्या?

जिसके घर में सज्जन, सत्-जन गुण भरे हैं,उनका परिचय हो तो इसका घर सुधरे। परघर कहाँ इसका था (कि) वह सुधरे? मंगलदासभाई! आहाहा! तेरा आत्मा अन्दर सत्जन—सज्जन है। अन्दर ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अनन्त गुण का सज्जन पूरा समाज तुझमें पड़ा है, भाई! आहाहा! तीन लोक का तिलक, तीन लोक का नाथ, तीन लोक को तो जिसकी एक ज्ञान की पर्याय में समाहित कर दे। आहाहा! अरे! तुझे उसका विश्वास नहीं, भाई! ऐसा परमात्मा।

सवेरे नहीं आया था? केवलज्ञानी। यह वह तेरी सब बात थी। केवली ऐसे हुए... ऐसे हुए उसका अर्थ यह हुआ, आत्मा ऐसा हो सकता है। आहाहा! देह का क्या काम है अब? वह स्त्री का हो या पुरुष का हो। वह तो मिट्टी के-धूल के आकार हैं। आहाहा!

आचार्य कहते हैं, अहो! जिसके घर में अनन्त आनन्द और ज्ञान भरा हुआ है, ऐसे भाव का जहाँ भान हुआ, उसकी परिणति जहाँ निर्मल हुई, उसका घर सुधरा। परन्तु परिणति उसकी रानी और आत्मा उसका राजा। समझ में आया? आहाहा! उसका घर सुधरा। बाकी सब बातें व्यर्थ है। लोगों को ऐसा लगता है कि आहाहा! कैसी महिलाओं के गुणगान! यह महाराज तो कुछ महिलाओं के गुणगान करते हैं न। उसमें धूल आयी? धर्म ऐसा जो स्वभाव आत्मा का, जिसके सामने देखने से जिसे कल्याण हो, उसमें

परिणमने से तो कल्याण हुए बिना रहता नहीं। आहाहा! सामने देखने से भी दृष्टि होने पर कल्याण की शुरुआत होगी।

यहाँ कहते हैं, ऐसा जो आत्मा स्वयं साधकरूप परिणमता है। देखो! वह स्वयं ऐसा होता है, कहते हैं। स्व का आश्रय। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और स्व के आश्रय में लीनता, चारित्र की लीनता। दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता, वह मोक्षमार्ग है न? 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग—वहाँ तीनों एक हुए। उस समय साधकरूप परिणमता ज्ञान। ज्ञान अर्थात् आत्मा। एकरूप ज्ञान होने पर भी। ऐसी अन्तर दृष्टि, ज्ञान और रमणता से साधकरूप ज्ञान परिणमा। उसे राग और निमित्त के कारण परिणमा, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह ऐसा निरपेक्ष भगवान आत्मा। व्यवहार सापेक्ष बताया कि ऐसा एक व्यवहार था, बस। वह कहीं साधकपना नहीं है, वह कहीं आत्मा की परिणति शुद्ध को मदद करे, ऐसी उसमें ताकत नहीं है। यह तो बताया। परम्परा अनुक्रम से की है।...

तथा... यह साधक की बात वहाँ हुई। वह ज्ञानरूप आत्मा भगवान चैतन्य का प्रकाश पूर, उसकी सन्मुखता की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता हुई, तब साधकरूप ज्ञान परिणमा। स्वयं भगवान आत्मा साधकरूप है। उसे होने के लिये दूसरे किसी की मदद की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? बाहर की बातें ऐसी हो, वह लोगों को... डाले हों। बेचारे को उसमें रस पड़े, ऐसी बात याद भी रहे। यह तो याद रहे नहीं। वह बात याद रहे कि हाँ, यह वह था, अमुक था। गधा मजदूरी जैसी बातें हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखाई दे। बहुत दिखाई दे। यह क्या कहलाता है? विवाह में कहते हैं न कुछ? इन्वीटेशन। माणेकचन्दभाई! कहाँ गये? नहीं। इन्वीटेशन आता है न? ... बहुत कहते हैं। बहुत फोटो। आहाहा! ...बापू! चैतन्य हीरा है यह तो। इसके एक-एक पासा में, एक-एक गुण में अनन्त शक्ति है। ऐसे अनन्त पासा से गढ़ा हुआ प्रभु आत्मा है। ...तीन लोक थे उस समय वे नहीं थे? पंचास्तिकाय तीन लोक छह द्रव्य से रचा हुआ है। रचा हुआ है अर्थात् ऐसा है ऐसा है। आहाहा!

भगवान आत्मा का ज्ञानप्रकाश का पूर, श्रद्धा और आनन्द आदि शक्तियों से भरपूर

ऐसे आत्मा को... अरे! ऐसे आत्मा को स्वीकार करे और एक अंश और राग और निमित्त का स्वीकार छोड़ देना, वह कहीं कम पुरुषार्थ है? आहाहा! इस पुरुषार्थ की तो कीमत नहीं होती। एक ही अंश, जो एक ही अंश जो अनन्तवें... अनन्तवें... अनन्तवें... अनन्तवें भाग का व्यक्त अंश जो है, बहुत छोटा और पुण्य का राग, मिथ्यादृष्टि उसे स्वीकार कर बैठा है। उसकी दृष्टि जहाँ गुलाँट खाती है, प्रभु! चैतन्य समुद्र भगवान सागर है। अनन्त गुण के साम्राज्य का धनी है। ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई और साथ में ज्ञान भी ज्ञानरूप परिणमा और स्वरूप में लीनता हुई, भगवान मोक्ष की पर्याय का साधक हुआ, सिद्धपद का साधक हुआ। आहाहा! वह संसारपद का साधक था, वह सिद्धपद का साधक हुआ। अभी इसकी समझ में ठिकाना नहीं होता। क्या करना और क्या किया और क्या किया जाता है? यह पूरा आत्मा स्व का स्वीकार करना, वह कुछ करना नहीं है? वह क्रिया नहीं है? आहाहा!

अकेला घोलन, चैतन्य के स्वभाव का अकेला घोलन, परलक्ष्य छोड़कर, उसमें जो परिणमन हो, कहते हैं कि अहो! जीव साधकरूप हुआ, सिद्ध का साधक हुआ, अब वह सिद्ध का पुत्र हुआ। उसे अब पूर्ण सिद्ध का उत्तराधिकार मिलनेवाला है। आहाहा! समझ में आया? बाहर की बात भी उसे ऐसी लगे, चमत्कारी लगे। यह सब प्रत्यक्ष दिखता है।... कहते थे न ... प्रत्यक्ष दिखता है। और वह गुप्त है। यह बाहर से दिखाई दे न? बाहर से। यह तो प्रत्यक्ष है। यह बाहर से दिखाई दे न? उसे ऐसा कि यह प्रत्यक्ष दिखता है न? यह... मकान है, ... ऐई! देखो न, यह जा आये न, अभी इनके पुत्र के पास जाकर आये थे। बाग, बगीचा। दो करोड़ रुपये, लो। अब बनिया के पास दो करोड़।

मुमुक्षु : वही पचा सकता है न पैसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... दरबार! बात तो सत्य है, हों! यह 'काणातलाब' है न? छोटा गाँव। काणातलाब छोटा गाँव डेढ़ सौ घर का। अभी मन्दिर बनाया है न? भाई अभी आये थे। चले गये। लाख-लाख की आमदनीवाले... एक वर्ष की लाख की आमदनी।...एक लाख रुपये की बारह महीने चौमासे की वह क्या कहलाती है? खेती। लाख की आमदनी। ऐसे दो-तीन हैं। एक वल्लभभाई है। लाख की आमदनी। व्याख्यान में आते थे। नरम व्यक्ति थे। वे सब ... देखो तो ऐसे सादा लगे। एक लाख की आमदनी। गाँव छोटा। डेढ़

सौ घर। हाथी का जुलूस निकले। सब ऐसे... करे। अभी दिगम्बर मन्दिर हुआ न। किसान ने किया। यह तुम्हारे कुण्डला से। ... दो दिन आये थे। उन लोगों ने घर का मन्दिर बनाया, ५०-६० हजार का हुआ। पैसे थोड़े आये होंगे। हाथी निकले तो लोग पूरा गाँव... हों! ओहोहो! अपने गाँव में यह! उनके पास तो इतनी आमदनी है, दस-पन्द्रह लाख रुपये हैं। दस लाख रुपये हैं। किसी दूसरे को पूछा था कि उसकी पूँजी कितनी कहलाती है? कोई दूसरे दो भाई को पूछा। वह अरजण, अरजण का छोटा भाई तो बहुत आता था। तेरे पास पैसे कितने हैं? कहे आमदनी तो लाख की है। परन्तु यह आमदनी तो उसे पचास हजार की होगी। यह सब कितना गिना जाये तेरे? दो छोटे भाई हैं। दस लाख। जमीन होकर दस लाख है। परन्तु वे सब सादे मनुष्य, हों! ...उनके बहुत वह नहीं। यहाँ तो २५-५० हजार और लाख-दो लाख हो वहाँ तो छिटक जाये। वावड़ी छिटकी, आता है न? वह वावड़ी थी न वावड़ी? वावड़ी थी, वे वह कहें, लाओ अपने घर में, बहुत दूर है। फिर कितने ही खींचने लगे, वह धोतिया... बाँधकर। कपड़े पुराने हुए न? कपड़े पुराने हुए। ऐसे फटा न तो ऐसे फटा तो कहे वावड़ी हटी। वावड़ी नहीं हटी, तेरा वस्त्र फटा है। वावड़ी समझे न? पानी भरी हुई होती है न? वहाँ... उसे वस्त्र बाँधकर खींचने लगे। खींचने में जरा फटा और ऐसे आया। वह वावड़ी हटी। वावड़ी नहीं खिसकी, तेरा वस्त्र फटा है। पागल हुआ है। समझ में आया?

उसी प्रकार राग और पुण्य को धर्म मानकर आत्मा को किंचित् धर्म हो गया। वह इस धूल में भी नहीं, सुन न अब। समझ में आया? कुछ अब ठिकाने आया। यह दया, दान, व्रत और भक्ति से ठिकाने आया। ठिकाने आया अब। धूल का ठिकाना तेरा कहाँ है? .... कहो, पण्डितजी! आहाहा! तीन लोक का तिलक एक ही होता है। एक-एक आत्मा। तीन लोक का नाथ। त्रिभुवन तिलक है न? मन्दिर। त्रिभुवन चूड़ामणि मन्दिर है। वहाँ त्रिभुवन चूड़ामणि नाम का बड़ा मन्दिर।

मुमुक्षु : त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि नाम है। त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि है। भाई ने देखा है न? नहीं देखा? तुम्हारे वे नहीं ...धनजी? नहीं गये। दक्षिण में आया। दो बार गये थे। आहाहा! त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि तो आत्मा है। सिद्ध को सिर पर रखा

है। चूड़ामणि रत्न ऐसे। राजा-महाराजा सब। ... गणधरों... ऐसा सिद्धपद तो त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि है। उसका आत्मा साधक होता है। समझ में आया? उसे रचने के लिये तैयारी होती है। ऐसे मन्दिर की आत्मा रचना करे। बाहर के मन्दिर को कौन रचता था? यह तो उसके काल में हुआ हो, वह होगा। समझ में आया?

अब यह **परम प्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त...** अब आगे बढ़ा। भगवान आत्मा, परमानन्द की मूर्ति प्रभु! उसका जहाँ सम्यग्दर्शन का भाव जहाँ प्रगट हुआ, उसका ज्ञान हुआ और उसमें लीनता हुई, वह अब आगे बढ़ने लगा। वह **परम प्रकर्ष की...** परम प्रकर्ष की **पराकाष्ठा को प्राप्त...** बेहद ऐसी। **परम प्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित...** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो वीतरागी विज्ञानभाव, उससे **प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय...** लो। देखो! इस रत्नत्रय से... लो, इसे रत्न कहा। आहाहा! इस रत्न से सिद्धपद मिले, उसे रत्न कहते हैं। रत्न से पैसा मिले, धूल मिले, उसमें कहाँ इसके थे? पागल हो जाये, पागल। एक स्त्री गरीब होगी और रुपये भरा तो बारह हजार आये। सुना वहाँ पागल हो गयी। जामनगर के पास एक स्त्री थी, और एक रुपया भरा। यह क्या कहलाती है तुम्हारे? लॉटरी में। बारह हजार आये। कान में पड़ा, बारह हजार... बारह हजार... बारह हजार... करते-करते पागल हो गयी। आहाहा! यह उसे पचाना आवे नहीं न।

कहते हैं, अहो! भगवान! अहो! पूर्ण अनन्त चैतन्यरत्न आनन्द आदि के अनन्त रत्न से भरपूर भगवान की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र को यहाँ रत्न कहा, कि जिस रत्न के फल में मोक्षरूपी पर्याय हो तो उसे यह रत्न क्या कहना? आहाहा! **अतिशयता से प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय उससे प्रज्वलित (दैदीप्यमान) हुवे...** चैतन्य ज्योति शक्ति में जो केवल (ज्ञान) पड़ा था, वह पर्याय में प्रगट हो गया। जलहल... जलहल... जलहल... ज्योति ऐसा **प्रज्वलित हुवे जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व...** लो। देखो! यह उसे रत्न की कितनी उपमा देना?

जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को रत्न कहा, उसे सिद्धपद की पर्याय को कितने रत्न कहना? और ऐसी अनन्त पर्याय एक-एक गुण में प्रगटे, उस गुण को कितने रत्न कहना? और ऐसे अनन्त गुण का भण्डार भगवान, उसे कितने रत्न कहना? आहाहा! ऐसा

चैतन्य भगवान परन्तु छुपाकर बैठा है न! पर्यायबुद्धि में, रागबुद्धि में उसे ढाँक कर बैठा है। कहते हैं कि वह अन्दर से खुला। आहाहा! थी, वैसी शक्ति खिली। खिलकर **कर्म के क्षय उससे प्रज्वलित (दैदीप्यमान) हुवे... अतिशयता से प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय...** ऐसा उसके द्वारा। ऐसा है न? वे कहे कर्म का क्षय हो तो ऐसा होता है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो इसके द्वारा कर्म का क्षय हो। आहाहा! यह तो निमित्त के सम्बन्ध की व्याख्या की है। समझ में आया? प्रतिबद्ध था, अल्पज्ञान में पूर्ण का प्रतिबद्ध था। पंचास्तिकाय में आता है न? अल्पज्ञान में पूर्ण जानने का प्रतिबद्ध था। प्रतिबद्धता के कारण पूरा नहीं जाने। पूर्ण जानने का जहाँ प्रगट हुआ, भगवान पूर्णानन्द की पर्यायरूप जहाँ परिणमा... **(दैदीप्यमान) हुवे...** ओहोहो! जैसे हीरा चकचकाहट होता है, वैसे सिद्धपद की पर्यायरूप आत्मा परिणमित हुआ।

जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व... कहते हैं कि एक तो वापस पड़े नहीं ऐसा। वह सिद्धपर्याय प्रगट हुई, वह अब कहीं संसार होगा नहीं। अस्खलित—स्खलना न हो। और विमल। अत्यन्त निर्मल दशा हो गयी। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय से उसकी अत्यन्त निर्मल सिद्धदशा, परमात्मदशा, शरीररहित दशा हो गयी।... अरिहन्त की तो शरीरसहित की अवस्था। यह तो (शरीर रहित) अकेला चैतन्य हीरा रह गया। **स्वभावभावत्व...** वापस यह **विमल स्वभावभावत्व...** ऐसा स्वभाव था, उस स्वभाव **द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता...** लो। आहाहा! ज्ञानस्वरूप स्वयं भगवान **स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता...** वापस ... था। लिया सही रत्नत्रय से। वर्तमान में सिद्ध भगवान की दशारूप स्वयं ज्ञानरूप परिणमता है।

ऐसा एक ही ज्ञानमात्र... लो। मूल तो ऐसा लेना है न? और एक वापस। **ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।** ज्ञानस्वरूपी भगवान अकेला वह स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमकर उपायरूप होता है और वही ज्ञानरूप पूर्ण परिणमकर उपेय अर्थात् सिद्धरूप होता है। समझ में आया? वह स्व की ताकत से ही सिद्धरूप परिणमता है, ऐसा कहते हैं और स्व की ताकत से ही साधकरूप परिणमता है। आहाहा! ज्ञान, वही आत्मा वर्णन किया है न पूरा इसमें तो? आहाहा! रागादि कुछ नहीं, ऐसा। कहो, यह बादशाह हुआ अब। आहाहा! इसे पाँच-पच्चीस लाख मिले और किंचित् समरूपता

हो जाये तो ओहोहो! तो कैसे है ? बादशाही है। धूल में भी नहीं। दु:ख के अंगारे सुलगते हैं। आहाहा!

कहते हैं, धर्मी को भी शुभभाव रह जाता है। वह देव में जाये तो उसे आत्मा के सुख का अन्तराय है। पंचास्तिकाय में आता है न ? उसे अन्तराय है। अन्तराय। यह कहे कि हमें देव का थोड़ा सुख तो मिलने दो। धूल में भी सुख नहीं है। आहाहा! जात में से भात नहीं पड़ते, उसे बाहर निकलना है, वह तो सुलगता है, कहते हैं। इन्द्र के इन्द्रासनों में दिखता है कि यह सुख की प्रतीति कहाँ है ? इसलिए तो विकल्प है। अंगारा है, अन्तराय है, विघ्न है, प्रतिबद्ध है। आहाहा! यह सब स्वरूप में स्थिर होकर जिसने छोड़ा है, उसे सिद्धदशा परिणमता ज्ञान, एक ही ज्ञान होने पर भी, गुणरूप से एक होने पर भी पर्यायरूप से, दोरूप से वह ज्ञान ही स्वयं अपने से परिणमे अर्थात् होता है। एक ही ज्ञानमात्र। राग बिल्कुल साथ में नहीं, ऐसा कहते हैं। एक ही ज्ञानमात्र कहा न ? व्यवहार का विकल्प साथ में बिल्कुल नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : इन्द्र वह ज्ञानस्वरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, समकिती है, ज्ञानी है। यह पहला देवलोक वह स्वर्ग। उसे इन्द्र और इन्द्राणी दोनों समकिती ज्ञानी एकावतारी हैं। वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। उसकी पत्नी और पति दोनों ऐसी योग्यतावाले जीव हैं। पूरे विमान में अकेले... तथापि वह हम नहीं... हम नहीं। हम तो अपने आनन्द में हैं। हमें तो इन्द्ररूप से पहिचानो, वह तो संयोग से पहिचानते हो। बत्तीस लाख विमान के स्वामी हम नहीं हैं। उनका स्वामी हो, वह तो मिथ्यादृष्टि होता है। आहाहा! हम तो स्वद्रव्य, स्वगुण और निर्मल पर्याय, यह हमारा स्व और इसके हम स्वामी। इसके स्वामी हैं। ... सौधर्म नाम का देवलोक है और ईशान नाम का देव है। दोनों देवलोक के इन्द्र एकावतारी हैं। एक भव करके मोक्ष जानेवाले हैं। ऐसी जिनकी आत्मदशा... भले वैभव हो। अन्तर (में) आदर नहीं, अन्तर (में) आदर नहीं। यह नहीं, हम नहीं। हम तो आनन्दमूर्ति हैं। ऐसा आत्मा का साक्षात्कार हुआ है। समझ में आया ? कहते हैं **ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।** विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५६९, श्लोक-२६५ गुरुवार, पोष शुक्ल ११
दिनांक - ०७-०१-१९७१

यह २६५ कलश का भावार्थ है। यहाँ नीचे विस्तार है न! ऊपर टीका है। भावार्थ में कोष्ठक किया हुआ है। **यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है।** पहला यह शब्द है। यह आत्मा वस्तु है, वह स्वयं तो आनन्द और शान्तिस्वभाव स्वरूप ही आत्मा है। तथापि अनादि काल से अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्यादर्शन—विपरीत श्रद्धा। मिथ्या अर्थात् झूठी श्रद्धा। देहादि मैं हूँ, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह मैं हूँ अथवा अल्पज्ञपना जो विकास में है, वह मैं हूँ, ऐसा मानकर मिथ्याश्रद्धा से संसार में भटकता है। अथवा मिथ्याज्ञान। जो अपना ज्ञान चाहिए, उसके बदले राग का और पर का ज्ञान करके, एकान्तिक ज्ञान करके अपने स्वभाव को भूलकर मिथ्याज्ञान से भटकता है। ऐसे मिथ्याचारित्र—पुण्य और पाप के भाव में एकाग्रता, वह रमणता, वह मिथ्याचारित्र है। उसके कारण। उसके **कारण संसार में भ्रमण करता है,** ऐसा कहा। कर्म के कारण भ्रमता है या कर्म के कारण मिथ्यादर्शन होता है, ऐसा नहीं कहा। स्वयं अपने को भूला है। भूला है। उसमें भी आता है या नहीं? स्वयं भूलता है। छहढाला में। दूसरी ढाल में आता है।

अहो! अपनी जाति, अतीन्द्रिय आनन्द और सचेतन। सचेतन अर्थात् ज्ञानमय वस्तु है। परन्तु उसकी दृष्टि न करके, जो पुण्य-पाप के विकल्प जो अचेतन, ज्ञान का अंश नहीं, उसमें जिसकी प्रीति और रुचि है, उसके कारण मिथ्यादृष्टि है, मिथ्याज्ञानी है और मिथ्याराग के आचरण में रुका हुआ मिथ्याचारित्र है। उसके कारण संसार अर्थात् चार गति में भटकता है। कहीं इसे विश्रान्ति नहीं है।

वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये... पहले तो कहते हैं कि उसे आत्मा का ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन, द्रव्यदृष्टि अर्थात् आत्मा मैं अखण्ड आनन्द हूँ। मेरा स्वरूप परिपूर्ण अभेद ध्रुव है, ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर उसे मिथ्यात्व टलता है। ऐसे स्वरूप का अन्तर ज्ञान होने पर अज्ञान टलता है और स्वरूप में कितनी ही स्थिरता द्वारा अस्थिरता भी टलती है। परन्तु यहाँ लिया है कि जब मुनि की दशा व्यवहार में होती है, स्वरूप का दृष्टि-

ज्ञान और चारित्र अन्तर आंशिक होने पर भी, इस प्रकार से व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प, इस प्रकार ग्रहण किया है कि वापस पड़े नहीं। उस व्यवहार का अभाव होकर निश्चय हो, इस प्रकार से व्यवहार को ग्रहण किया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

सच्चे देव अरिहन्त सर्वज्ञ, गुरु निर्ग्रन्थ, धर्म अहिंसा और रागरहित, ऐसे अथवा शास्त्र सर्वज्ञ के कहे हुए, उसकी इसे श्रद्धा होती है, श्रद्धा का विकल्प होता है, वह व्यवहार है; शास्त्र का ज्ञान होता है, वह व्यवहार है और राग की मन्दता के आचरण के पंच महाव्रत के भाव होते हैं, वह भी व्यवहार और विकल्प है। परन्तु कहते हैं कि इस प्रकार से ग्रहण किया है कि निश्चय के भानसहित, सम्यग्दर्शन के भानसहित इसने लिया है कि जिससे उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिरता हो। इस प्रकार व्यवहार को ग्रहण किया है। पाठ ऐसा है।

मुमुक्षु : वापस व्यवहार से वृद्धि करके...

पूज्य गुरुदेवश्री : वृद्धि, परन्तु वृद्धि का अर्थ क्या? कि उसे इस प्रकार से विकल्प है कि उसमें राग का रस घटता जाता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार की वृद्धि का रस अर्थात् राग का रस (घटता जाता है)। ऐ वजुभाई! ऐसा कहते हैं। रागरस घटता जाता है। स्वभाव का आश्रय है। ... ऐसा राग विकल्प है। परन्तु अन्दर रस घटता जाता है, इसलिए वृद्धि होती जाती है। व्यवहार की वृद्धि। व्यवहार राग की मन्दता होती जाती है।

मुमुक्षु : उसे व्यवहार की वृद्धि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे व्यवहार की वृद्धि कहने में आती है।

वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये... आहाहा! यह तो अल्प शब्दों में बहुत भाव भरा हुआ है न!

मुमुक्षु : यह वृद्धि अर्थात् राग घटता है, ऐसा कहा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग घटता जाये, यह व्यवहार की वृद्धि—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! मार्ग अभी इसे समझ में भी नहीं है। इसके उद्धार का दूसरा उपाय नहीं है। अरे! अनन्त काल से ऐसा है। और मिले तो कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र मिले और उसमें श्रद्धा की विपरीतता की पुष्टि हुई। समझ में आया? उसके कारण परिभ्रमण करता है। अब कहते

हैं कि इसे अपनी—जीव की दया आयी। अरे! चार गति के दु:ख। एक-एक दु:ख सहा नहीं जाये, ऐसे दु:ख इसने अनन्त बार सहे हैं। कोई अनुकूलता देखकर उसमें लीन हो जाता है। परन्तु यह भूल गया। कोई भी बाहर अनुकूलता थोड़ी देखकर मानो मैं किंचित् बढ़ा हूँ। कुछ मुझमें विशेषता है, ऐसा मानकर मूढ़, मूढ़ होकर भटकता है। समझ में आया? आहाहा!

तेरी विशेषता तो अन्तर स्वरूप में है। ऐसी अपनी आनन्द की जाति, सच्चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ परमेश्वर ने, तीर्थंकरदेव ने जो अनन्त चतुष्टय प्रगट किये—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और बल, ऐसा ही उसका स्वरूप अन्दर है। ऐसा ही इसका स्वरूप है, वही इसका स्वरूप है। ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है, तदुपरान्त उसे चैतन्य का सम्यग्ज्ञान होता है, तदुपरान्त उसे स्वरूप की कितनी ही स्थिरता भी होती है। ऐसी भूमिका में यह **सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये...** ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? कि व्यवहार हुआ, यहाँ निश्चय है; इसलिए यह व्यवहार है। परन्तु व्यवहार कैसा है? कि उस व्यवहार का अभाव होकर चारित्र की स्थिरता होगी। नीचे नहीं उतरेगा, ऐसा कहना चाहते हैं। क्या कहते हैं? ऐसा मार्ग! समझ में आया?

भगवान आत्मा अखण्ड अभेद अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, ऐसी अनन्त शक्तियों का वह सागर है। कहाँ देखना उसे? है अन्दर और देखने जाता है बाहर। बाहर में नहीं मिलता। कहते हैं, उसे अन्तर में देखा कि, ओहो! आत्मा राग से, पुण्य से रहित है। दूसरी चीज़ के साथ तो उसे कुछ सम्बन्ध है ही नहीं। वह स्वतन्त्र भगवान आत्मा है। ऐसा अन्तर में वस्तुस्वरूप जैसा त्रिकाल है, उसका ज्ञान होकर जो प्रतीति होती है और उसमें लीनता होती है, उसे यहाँ निश्चय कहते हैं। उसके प्रसंग में अथवा उस भूमिका में चारित्र की विशेषता—अतिशयता नहीं, इसलिए उसे ऐसा व्यवहार बीच में होता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहारसम्यग्दर्शन, परन्तु वह भी सच्चे देव अरिहन्त, निर्ग्रन्थ गुरु, भगवान ने कहे हुए वे शास्त्र, उनकी श्रद्धा का विकल्प ज्ञानी को होता है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की श्रद्धा का विकल्प उसे नहीं होता।

सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये... आहाहा! मूल तो कहते हैं कि वस्तु जैसी

ग्रहण की है, वह भी अब वापिस फिरे, ऐसी नहीं है। उसमें ऐसा व्यवहार जो बीच में आया है, वह भी अब नीचे उतरे, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। वह अन्दर स्थिर होता चाहता है परन्तु बीच में ऐसी जरा चारित्र की स्थिरता पूर्ण नहीं, इसलिए सच्चे देव, सच्चे गुरु और घट्ट होकर उनका विकल्प उसे होता है। समझ में आया? आहाहा!

एक जरा प्रतिकूलता आवे तो इसे सहन नहीं होती और विपरीत श्रद्धा में अनन्त प्रतिकूलता आयेगी, उसकी इसे दरकार नहीं। आहाहा! तम्बू का जरा-सल शिथिल पड़े तो भी चिल्लाहट मचाता है। तम्बू होता है न? तम्बू। कील डालकर खेत में। खेत में कील डालकर मजबूत करते हैं। उसमें एक कील निकल गयी हो और सल पड़ा हो। सल अर्थात् क्या, समझ में आया? ढीलापन। उसे करचली पड़ जाती है न? खेंचा हुआ हो, उसमें एक जरा (करचली पड़े)। खेत में कहीं ऐसी पोली जमीन हो और उसमें कील लगायी हो तो कील खिसक जाए और सल पड़े। और उसमें अन्दर कोई सेठिया बैठा हो तो कहे, यह किसने किया? यह कैसे ऐसे है। छींटे आयेंगे तो अभी इसमें पानी पड़ेगा। खींचकर ताना हो तो पानी नहीं पड़े। एक सल ढीला पड़े तो सुहावे नहीं। आहाहा! उस तम्बू का। शरीर का एक सल ढीला पड़े तो और उसका अन्दर क्या हो? यह सब तम्बू सरीखा खींचा है। रतिभाई! यह तम्बू नहीं कहते?

मुमुक्षु : शामियाना जैसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : शामियाना डालते हैं, बस वह शामियाना डालते हैं न? उसमें कील हट गयी। उसमें सत्ताप्रिय बैठा हो तो कहे, किसने किया ऐसा? दरबार! इसमें जमींदार-बमींदार हो तो सरीखा हो तो भड़ाका बुलावे। आहाहा! वहाँ नहीं हुआ था कराची, पाकिस्तान में? इस जूनागढ़ का नवाब है न? वहाँ गये थे न? उस नवाब की रानी। उनका पाखाना। बेगम का पाखाना। वह पाखाना चुस्त होगा। उसे अपना जाना हो तो जाये। फिर दूसरे नहीं जाये। उसमें उसकी दासी की एक लड़की होगी तो एकदम कहीं दस्त लगी और उसमें गयी। उसमें इसे खबर पड़ी। उसे सुलगा दिया। जला दिया। ऐसा पाखाना तूने बिगाड़ा? आहाहा! लोगों को इतना भी सुहाता नहीं। आहाहा! वह मरकर नरक जानेवाले हैं, हों! अभी भले बादशाही भोगते हों, करोड़ों का पाखाना। ओहोहो! वह

पाखाना भी ऊँचा होता है संगमरमर का बनाया हुआ, साफ-सुथरा। वह स्वयं जंगल जाये तो तुरन्त उसके लोग साफ कर डाले। उसमें और लड़की को लगा लाओ न इसमें क्या? फिर पानी डालकर साफ कर डाला। परन्तु कहीं उसे खबर पड़ गयी। अखबार में आया था। मार डाला। आहाहा! कितनी प्रतिकूलता! अभी तो उसे शरीर में कुछ दुःख नहीं आया। परन्तु उसकी दिशा दस्त जाने में कुछ फेरफार हुआ, वहाँ शोर (मचावे)। अर र! ऐसे नरक में जायेंगे तो क्या करेंगे यह?

मुमुक्षु : उसकी सत्ता है और उस सत्ता का उपयोग।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्ता का उपयोग। इस सत्ता के ... बापू! अरे! यह आत्मा है न। प्रभु! मद का मारा भूल जाता है। अनादि का भगवान आत्मा भी मद का मारा, अभिमान कहाँ महत्ता का, पैसा का, लक्ष्मी का, इज्जत का, शरीर की सुन्दरता का, इस बुद्धि के कुछ उघाड़ का यह सब अभिमान के मद में स्वरूप को भूल गया है। और मिथ्याश्रद्धा, ज्ञान में छोड़कर उसने व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान ग्रहण किया, उसकी वृद्धि की परम्परा। व्यवहार की वृद्धि अर्थात्? राग की मन्दता हो, वह उसकी वृद्धि कहलाती है। पुष्टि हो, वह विशेष वृद्धि कहलाये?

मुमुक्षु : वृद्धि तो पुष्टि हो, उसे ही कहा जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुष्ट क्या हो? राग की मन्दता होती गयी, इसलिए शुद्ध व्यवहार विशेष निर्मल होता गया, ऐसा। तीव्र जो राग हो, उसमें से राग मन्द हुआ। देव-गुरु की भक्ति, शास्त्र की भक्ति, यह करने से अशुभराग घटता है और व्यवहार—शुभ बढ़ता है।

उसकी भी **परम्परा से...** एक के बाद एक राग घटने से **क्रमशः जब से स्वरूपानुभव करता है...** स्व भगवान आत्मा... ऐ दिलीप! क्या हुआ? सवेरे कहते हैं यह बात ऐसी आयी तो ऐसा हो गया, मन हो गया कि अपने इसमें... तो? उस साधु की बात आयी न? कहाँ गये '...'?

मुमुक्षु : भावनगर गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावनगर गये। साधु की बात आयी न! मुझे तो ऐसा हो जाता है। आहाहा! वह तो कहता था, उस मित्र की।... बादाम खाने गया था न? इन धर्मचन्दभाई

के यहाँ बादाम का वृक्ष है न ? खाने गया था। ... वह लड़का गया था। तब तो बारह वर्ष का चलता होगा। अब बारह पूरा हुआ। कमलेश ! यह माता-पिता है न ? यह माता-पिता खड्डे में पड़े हैं। अपने को खड्डे में डालना चाहते हैं। रतिभाई ! यह लड़का। यह माँ-बाप पड़े हैं खड्डे में, अपने को खड्डे में डालना चाहते हैं। चल... चल... जंगल में।

मुमुक्षु : फिर कैसे...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो एक... कलकत्ता... कलकत्ता रहता है। जयंतीलाल जादवजी की पेढ़ी है न ? ... यह उनका लड़का है। जादवजीभाई। ... खबर ही है परन्तु जंगल में जाकर करना है तो ... अब उसे मित्र ऐसा मिल गया वापस। ... चल जंगल में। यह माता-पिता पड़े हैं खड्डे में, चल पढ़ने। अब पढ़े। ऐसी पढ़ाई तो अनन्त बार पढ़ा। क्यों याद नहीं रहा ? पठन इसे कहा जाता है ? उसका पिता कहे, चल कलकत्ता पढ़ने। पढ़ाई ! पढ़ाई में पढ़े हुए एक भी अभी याद है ? दरबार ! वीर्यवाला है न ! ऐसे आज भी बोलता था। सवेरे एक साधु की बात आयी न ! ... माता ! ऐसा मन हो जाता है कि आपके जैसे हो जायें। बात सत्य, हों ! आहाहा !

छोटी उम्र में घर से मीराबाई का नाटक देखने जाते थे न, मीराबाई का नाटक। तब यह तो बहुत वर्ष की बात है। संवत् १९६४-६५। भरूच, साधु आये थे। वहाँ देखने गये थे। मीराबाई का नाटक देखने। चलो समय है तो कहा मीराबाई का नाटक देखने। परन्तु वह तो उसका पावर, ऐसा बोले। मस्तिष्क फट जाये। नींद आवे नहीं। और वैराग्य की ऐसी लाईन अन्दर से चढ़ जाये। हम ऐसे कब होंगे ? संवत् १९६४-६५ की बात है। मीराबाई को ... आहाहा ! 'मीरा परणी मारा पियुजीनी साथ, बीजाना मींढोल नहिं बांधु।' दरबार ! नाटक। वह कैसा ? 'डाह्याभाई धोलशा' की बड़ी कम्पनी। एक रात में पन्द्रह सौ रुपये आते। एक सप्ताह में तीन नाटक करते। यह तो १९६४-६५ की बात है। दीक्षा लिये पहले छह वर्ष की बात। बाई अन्दर से बोले। 'परणी मारा पियुजीनी साथ, बीजाना मींढोल नहिं रे बांधु।' राणा कहते हैं, चल चल अब मेरे साथ। ... 'परणी मारा पियुजीनी साथ रे, बीजाना मींढोल नहिं रे बांधु।' मेरा ईश्वर मुझे अन्दर ज्ञात होता है। इस जाति की उसे प्रीति है न ? उसकी प्रीति में अब मुझे दूसरा पति मींढोल बांधु, ऐसा नहीं होगा। राणा कहे, अरे !

पागल हो गयी। समझ में आया? 'साधुडाने संगे राणा हूँ घेली थई। घेली थई रे राणा हूँ घेली थई। साधुडाना संगे हूँ तो घेली थई।' तू पागल कह तो पागल परन्तु बात ऐसी है। मेरा पारा फट गया है। अब कुछ बाहर में मुझे रुचि नहीं है।

इसी प्रकार जब धर्मी को आत्मदर्शन होकर जब चारित्र की वैराग्य दशा आती है... आहाहा! पावर अन्दर से फटता है। माता! मुझे अब कहीं शान्ति नहीं दिखती। मेरी शान्ति सागर में मेरा आत्मा अन्दर उछल रहा है, अब उसमें जाना चाहता है। पण्डितजी! पावर फट जाये। आहाहा! तब ऐसा होता था, तब, हों! कि हम ऐसे कब होयेंगे? उस समय का वैराग्य... दुकान तो चलती थी। परन्तु उसमें यह सब रस था न? तो उसे हो जाये कि आहाहा! अपन ऐसे साधु! जंगल में।

यहाँ कहते हैं कि यह मुनि तो हुआ है। इस संसार आदि का त्याग है, भोग का त्याग है, उदय का त्याग है, परन्तु अन्दर में अभी शुभ विकल्प छठवें गुणस्थान में वर्तता है। आहाहा! उसे भी छोड़कर अन्दर अब स्वरूप में स्थिर होना है। समझ में आया? परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने, यह आत्मा आनन्द का नशा चढ़े, ऐसा भगवान अन्दर है। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु है। आहाहा! उसमें अनुभूति में जाऊँ, ऐसे विकल्प को छोड़कर अनुभूति में स्थिर होऊँ, ऐसी बारम्बार भावना मुनियों की होती है। ऐसे व्यवहार होते हैं तो भी ऐसा कहना है। समझ में आया? यह उसके स्वरूप का अनुभव जब से करे, अन्दर में अनुभूति हो। सम्यग्दर्शन की अनुभूति तो थी। आहाहा! परन्तु स्वरूप में लीनता, ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान, (ऐसे) भेद नहीं। भाई! आता है न छहढाला में? जहाँ वच भेद नहीं। आहाहा!

अरे! मैं जाननेवाला, और मैं मुझे जानूँ, और ज्ञान द्वारा जानूँ—ऐसे भेद भी मेरे स्वरूप में कहाँ से हैं? आहाहा! ऐसा भेद है, तब तक ऐसा व्यवहार का विकल्प खड़ा होता है, राग खड़ा होता है। मेरी अनुभूति में मैं जाननेवाला हूँ और ज्ञान द्वारा जानता हूँ, उस ज्ञान द्वारा मुझे ज्ञेय करके जानता हूँ... आहाहा! ऐसे विकल्प का भी अभाव करके अनुभूति... स्वरूप का अनुभव जब से करे, अरे! और आनन्द की मौज मनाता हो अन्दर में। आहाहा! उसे साधु कहते हैं। यहाँ चारित्रवन्त की बात लेना है न।

तब से ज्ञान साधकरूप से परिणमित होता है,... लो। तब से भगवान आत्मा;

ज्ञान अर्थात् आत्मा, उसका चैतन्यस्वरूप है, वह साधकरूप होता है। सिद्ध की दशा के साधनेरूप तैयार हो गया। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो यह है, भाई! आहाहा! दुनिया की जंजाल-फंजाल छोड़, छोड़, विकल्प छोड़—ऐसा कहते हैं। आहाहा! साधु की भूमिका में पंच महाव्रत का विकल्प, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव, कहते हैं कि वह भी अभी बन्ध का कारण बीच में आया। यह प्रवचनसार में आता है न अपने? कषाय का कण बीच में आने पर भी। वहाँ भी लिया है। अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं) उल्लंघकर। यह आया ऐसी बात है। दूसरी... आहाहा! वहाँ प्रवचनसार में लिया है। वह अमृतचन्द्राचार्य का है।

अहो! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय नाथ, त्रिलोक का तिलक रत्न ऐसा चैतन्यस्वरूप, ऐसा जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन में भान हुआ, उसका ज्ञान हुआ, उसमें लीनता का अंश आया परन्तु बीच में कषाय का—व्यवहार का कण खड़ा है। आहाहा! उस राग का अंश, वह कषाय का कण है। आहाहा! उसे उल्लंघकर, ऐसा आता है। स्वरूप में चरणम्—चारित्र होता है, तब उसे क्षोभरहित परिणाम, मोह और क्षोभ बिना के परिणाम शुद्ध उपयोगरूप से होते हैं, तब उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होती है।

मुमुक्षु : वह साक्षात् मोक्षमार्ग।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साक्षात् मोक्ष का मार्ग है। अरे रे! कहाँ-कहाँ भटका? कैसे-कैसे दुःख पाये, वह भूल गया, भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाये? भाई! माता के पेट में से जन्मकर आया। छह महीने-बारह महीने में क्या हुआ है, यह खबर है? भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था? खबर नहीं पड़ी, इसलिए नहीं था, ऐसा कौन कहे? माता के पेट में से आया, छह महीने तक। ऊं... ऊं... करके बेभान में। आँखें ऐसे हो गयी हो।... किसी को पहिचाने नहीं। वहाँ पहिचान किसकी? रोवे और उसमें और यह बहुत रोता हो तो फिर उसकी माँ थप्पड़ मारे। फिर दूध पिलावे। यह सब होता था या नहीं छह महीने? कहाँ गया? चला गया? भूल गया, इसलिए नहीं था? आहाहा! ऐसा-ऐसा अनन्त काल, अनन्त काल भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था, ऐसा कौन कहे? आहाहा! इसे कहते हैं अब भगवान के—आत्मा के स्वरूप को सम्हाल। यह भूल जा। स्वरूप को भूलकर यह करता था, अब इसे भूलकर स्वरूप को करता है।

पहले समझ में—श्रद्धा में यह बात लाता है कि ओहोहो! मेरा प्रभु देवाधिदेव, चैतन्यनाथ, अनन्त आनन्द का सनाथ ऐसा मैं। ऐसी अन्तर में दृष्टि होने पर उसे अनुभव में सम्यग्दर्शन होता है। पश्चात् स्वरूप में लीनता होने पर चारित्र होता है। उसमें यह थोड़ा भाग बाकी रह जाता है। व्यवहार-दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कषाय का कण रह जाता है, अब उसे छोड़ता है। आहाहा!

जब से स्वरूपानुभव करता है... आनन्द का वेदन अन्दर आवे। भले छद्मस्थ है। मुनिपना होने पर उसे अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आती है। जैसे समुद्र में से उछलकर किनारे पानी की बाढ़ आती है। आहाहा! ऐसा भगवान चैतन्य समुद्र, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ने देखा, जाना और प्रगट किया, ऐसे आत्मा का अन्दर में अनुभव अर्थात् आत्मा को अनुसरकर शान्ति को वेदता है, तब साधकरूप होता है। तब उसे सिद्धपद का साधक, ऐसा पद दिया जाता है। समझ में आया? यह सरकार-बरकार चुनने को नहीं बजाते? क्या कहलाता है? इंकलाब। कैसे? ... देते हैं न बड़े पूंछड़े? धूल में भी नहीं वहाँ। ... वहाँ दुर्गति में जाना हो तो गिरवी रखाये नहीं ... न। चला जाता है, जेपीवाला मरकर नरक में जाये। आहाहा! हम ऐसे हैं। हम सामने मिलें तो... पहले वह था। फाँसी से चढ़ाने का हो, कोई बड़ा मनुष्य निकले ... लगेगा पहले... फाँसी बन्द कर दी। बहुत सुना हुआ, होता है, उसमें क्या? यह तो भगवान जिसे मिले, उसे संसार की फाँसी नहीं होती, कहते हैं, छोड़।

मुमुक्षु : फाँसी से छूटा।

पूज्य गुरुदेवश्री : छूटा। उसको फाँसी नहीं दी। फाँसी की सजा हुई हो और ... ऐसा सुना है बहुत वर्ष पहले। छोटी उम्र में बहुत सुना हुआ और पढ़ा हुआ है, हजारों पुस्तकें। यह सुना हुआ। निवृत्ति बहुत थी। घर की दुकान का धन्धा था। बहुत पढ़ा हुआ और बहुत सुना हुआ। बहुत साधु-संतों का संग किया हुआ। बाबा का और कबीर के साधु का। परन्तु यह चीज़ दूसरी।

यह भगवान एक ऐसा आत्मा तू तो शिवपुर का साहेबा देवाधिदेव ऐसा आत्मा है, तू है भाई! ऐसे आत्मा के... दुनिया-दुनिया के स्थान में रही, उसके घर में, तेरे घर में वह

कुछ है नहीं। ऐसी अन्तर में सन्मुख होकर... असत् से उपरान्त होकर अनुभव करे, उसमें चारित्रसहित का अनुभव करे, उसकी यहाँ बात है। आहाहा! तब से साधक हुआ। अब मोक्ष का मण्डप रोपा गया। इस मण्डप में अब विवाह होकर साधु होकर जानेवाला, सिद्ध होकर जानेवाला है। समझ में आया? यहाँ से साधकदशा में... उसमें चौथे से लिया है। समयसार नाटक, परन्तु यहाँ तो सातवें से लिया है। चारित्र की ग्रहण दशा है। उत्कृष्ट बात ली है। तीन की एकता। उसमें ऐसा लिया, चौथे से बारहवें तक साधक है।

ऐसा आत्मा जब अपने आनन्द के धाम में जाता है, उसे निज स्वरूप की अन्तर में चारित्र की रमणता में भेंट होती है। चारित्र अर्थात् कोई क्रियाकाण्ड, वह चारित्र नहीं कि नग्न बाबा हो जाना वह चारित्र और पंचमहाव्रत के विकल्प उठें, वह कहीं चारित्र नहीं है। वह तो बीच में दोषवाला विकल्प है। इसमें कहा न! चारित्र तो आनन्द के धाम में रमणता में लीन हो जाये, उसे चारित्र कहा जाता है। अभी खबर भी न हो कि चारित्र किसे कहना और क्या कहना? समझ में आया? कहते हैं कि वह जब ऐसा अन्तर दशा में स्थिर होता है, तब से आत्मा साधकरूप होता है। तब उसे मोक्ष का और पूर्ण आनन्द का साधक साधनेवाला कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि... क्यों साधकरूप हुआ, उसका कारण देते हैं। **कि ज्ञान में निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं।** ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की अन्तर्मुख होकर प्रतीति, ज्ञान और रमणता हुई, उस ज्ञानभाव में तीन अन्दर अभेद में भेद पड़े हैं। अब राग नहीं, विकल्प नहीं। आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश का पूर जहाँ अन्दर से निकला। क्या कहलाता है यह? बाहुबलीजी श्रवणबेलगोला। बाहुबलीजी, वहाँ गये थे न दो बार? वहाँ उनके वह क्या कहलाता है? दो ... हजार-हजार का क्या कहलाता है तुम्हारे? बड़े ऐसे दो। उनकी सामने सर्च लाईट बाहुबलीजी पर डालते हैं। रात में अच्छा दिखता है। रात्रि में भक्ति करने गये थे, नहीं? तुम थे? दो। उसमें से लाईट निकले। बाहुबली देखे तो लाईट निकले। उसी प्रकार आत्मा में चैतन्य प्रकाश ऐसा निकले कि पूर्ण आनन्द और आत्मा को देखे, ऐसा प्रकाश-लाईट निकले। वह बात बैठे परन्तु यह कितना है अन्दर, इसकी इसे (खबर नहीं होती)। एक बीड़ी में बिक गया। आहाहा! एक ठीक से बीड़ी पीता हो वहाँ... गया।

मुमुक्षु : आत्मा के घर में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आत्मा के घर में पावर चढ़ गया। धूल भी नहीं, सुन न अब। यह लड़की और लड़के। लड़कियाँ पोटा लेने निकले न? कण्डा। एक अच्छे कण्डे का पोहटा मिला हो, क्या कहलाता है उसमें वह? टोकरी भराय ऐसा, टोकरी भराय ऐसा, कुण्डा भरे ऐसा। आहाहा! अरे! तीन लोक का नाथ चक्रवर्ती की ऋद्धि भी छोड़े, तब ऐसे कफ छोड़े वैसे एकदम छोड़ देता है। छियानवें हजार स्त्रियाँ चोटियाँ खींचती हैं। समझ में आया? हे रानियों! तुम्हारे लिये मैं रहा था, ऐसा न मानो। मुझमें आसक्ति का राग भाग था, वह मैं रहा था। अब वह राग मर गया है।... समझ में आया?

शान्तिनाथ भगवान को... शान्तिनाथ भगवान। छियानवें हजार स्त्रियाँ। जब भगवान को वैराग्य होता है, दीक्षा लेने को तैयार होते हैं, तब छियानवें हजार रानियाँ पुकार करती हैं। चोटियाँ खींचती हैं। तुम ऐसे आमन्त्रण के कारण मैं ऐसी आसक्ति को पाया था, ऐसा नहीं था। मेरी कमजोरी के कारण मुझे आसक्ति थी, इसलिए मैं रुका था। वह आसक्ति मर गयी। उस मरे हुए को जीवित कोई नहीं कर सकता। बस होओ। समझ में आया? आहाहा! छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियों को (जैसे) वह कफ छोड़े, वैसे छूटे। यहाँ जहाँ एक टोकर भराये इतना गोबर मिले तो प्रसन्न हो जाये। यह वह कहाँ है?

मुमुक्षु : गोबर के... गोबर में ही...

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा खेत पका हो तो प्रसन्न (हो)। सवेरे देखने निकले न? खेत आरपार। दो सौ बीघा का समरूप खेत हो, डूंडा पके हों तो प्रसन्न-प्रसन्न होता जाये। मरकर तुझे वहाँ जाना है वापस। याद रखना। जुआर के दाने में एकेन्द्रिय होकर। ऐसी ममतावाले अन्यत्र जाये कहाँ? आहाहा!

कहते हैं कि भगवान आत्मा अपनी ऋद्धि की समृद्धि की सम्पत्ति में जहाँ अन्दर गया, उसके **ज्ञान में निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं।** तीन भेद अन्दर में हैं, ऐसा कहते हैं। सम्यक्निश्चय अनुभव, ज्ञान और लीनता अन्तर्भूत है। **निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रारम्भ से लेकर...** लो, यहाँ तो स्पष्ट शब्द है। साधक उसे कहते हैं। वह कहे निश्चय तो तेरहवें में होता है, वह कहे ऐसा होता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन भगवान आत्मा का अन्दर निश्चय—निर्णय आया कि शुद्ध चैतन्य आनन्द का ज्ञान और लीनता, उसकी **प्रारम्भ से लेकर स्वरूपानुभव की वृद्धि करते...** स्वरूप की स्थिरता की वृद्धि करते... करते... करते... करते... आनन्द में बढ़ते... बढ़ते... बढ़ते... **जब तक निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता न हो,...** जब तक चारित्र की, रमणता की पूर्णता न हो, **तब तक ज्ञान का साधकरूप से परिणमन है।** वहाँ तक आत्मा की साधकरूप दशा है। वहाँ तक उसे सिद्धदशा नहीं है। समझ में आया?

निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता न हो, तब तक ज्ञान... अर्थात् भगवान आत्मा, चैतन्यमूर्ति के प्रकाश के नूर का पूर, उसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता न हो। दर्शन भले पूर्ण हो। समझ में आया? वह चारित्र आदि पूर्णता न हो, **तब तक ज्ञान का साधकरूप से परिणमन है।** है पर्याय अवस्था साधकरूप उसकी है। **जब निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता से...** पूर्ण जहाँ हुआ, **निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष होता है...** लो। अकेला भगवान पूर्णानन्द से प्राप्त होकर, मुक्ति हो जाती है। इसका नाम मुक्ति है।

तब ज्ञान सिद्धरूप से परिणमित होता है,... लो। ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं सिद्धदशारूप, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता आदि अनन्त गुणों की पूर्ण, पूर्ण पवित्रता की पूर्ण दशारूप होता है, उसे सिद्ध और परमात्मा कहा जाता है। शरीररहित परमात्मा कहलाते हैं। सवेरे अरिहन्त शरीरसहित की व्याख्या थी। परन्तु यह तो अत्यन्त शरीररहित होकर सिद्ध हो। णमो सिद्धाणं में आवे। अरिहंत की व्याख्या णमो अरिहंताणं में आती थी। उन्हें पुण्य ऐसे होते हैं और ऐसे होते हैं और बड़े....

क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट दैदीप्यमान हुआ है। सोलह कला से जैसे चन्द्र खिलता है अथवा जैसे चौंसठ पहरी पीपर की चरपराहट बाहर प्रगट होती है, वैसे भगवान पूर्ण जो शक्ति आनन्द आदि थी, वह पूर्ण होकर प्रगट (होती है)। **अस्खलित निर्मल स्वभाव...** वह दशा प्रगट हुई सो हुई। अस्खलित अर्थात् खले नहीं। निर्मल पूर्ण स्वभावभाव प्रगट दैदीप्यमान होता है। जो स्वभाव था, वह प्रगट हो जाता है।

इस प्रकार साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों रूप से परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तु की उपाय–उपायेता को साधित करता है। भाषा देखो! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, स्वयं ही अन्दर साधकरूप होता है और सिद्धरूप होता है। इसमें व्यवहार के विकल्प की उसे आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **इस प्रकार साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों रूप से परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान...** भाषा कैसी है! **आत्मवस्तु की उपाय–उपायेता को साधित करता है।** आत्मवस्तु को उपाय अर्थात् कारण, उपेय अर्थात् कार्य। उपाय अर्थात् साधक, उपेय अर्थात् सिद्ध। यह आत्मा ही स्वयं दोनों परिणाम को साधता है। कहो, समझ में आया इसमें? **इस प्रकार दोनों में (उपाय तथा उपेय में) ज्ञानमात्र की अनन्यता है...** क्या कहते हैं? चैतन्यस्वरूप ही पूरा भगवान ही यह स्वयं है। साधकरूप भी यह ज्ञानरूप होता है और पूर्णरूप ज्ञान का **अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है;...** ज्ञानमात्र का एकमेकपना है। उसमें भेदपना कुछ है नहीं। भारी भाषा! क्या कहते हैं? **इस प्रकार दोनों में (उपाय तथा उपेय में) ज्ञानमात्र की अनन्यता है...** अब वह पढ़े, वह समझे बिना क्या पढ़े? पृष्ठ फिरावे तो हाथ आवे नहीं।

यह आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुंज सूर्य है। यह चैतन्यसूर्य अन्तर के स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान और चारित्ररूप हो, वह भी स्वयं ज्ञानरूप होकर रहता है, उसमें अन्यपना ज्ञात होगा नहीं। आहाहा! समझ में आया? बीच में व्यवहार–ब्यवहार नहीं, ऐसा कहते हैं। उसे साधकपना कहते हैं। आहाहा!

इसलिए सदा अस्खलित एक वस्तु का... वस्तु भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान की बेहदता, अनन्त आनन्द की बेहदता, ऐसी आत्मा की श्रद्धा और शक्ति भी बेहद जिसकी शक्ति है। जिसे पूरा आत्मा प्रतीति में लेता है, ऐसी श्रद्धा की शक्ति प्रगट होने से **(ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का) निष्कम्प ग्रहण करने से,...** इस प्रकार अस्थिर न हो, उस प्रकार निष्कम्प ग्रहण करना, अनुभव में लीन होना। **मुमुक्षुओं को,...** मुमुक्षु अर्थात् आत्मा के मोक्ष के इच्छुक को, **कि जिन्हें अनादि संसार से भूमिका की प्राप्ति न हुई हो...** मुक्ति की प्राप्ति अनादि से हुई नहीं। **उन्हें भी,...** न हुई हो उन्हें भी होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मुमुक्षुओं को जिन्हें ऐसी धगश जगी है, श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति

की रमणता की जिन्हें भावना हुई है, उस जीव को अनादि संसार, निगोद, निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक (तक) अनन्त बार जैन का दिगम्बर साधु होकर गया, परन्तु आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान के भान बिना।

मुमुक्षु : निष्कम्प ग्रहण नहीं किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, निष्कम्प ग्रहण नहीं किया। आहाहा! स्थिर बिम्ब प्रभु पूरा पड़ा है। वज्र की मूर्ति जैसा चैतन्य आत्मा, उसमें निष्कम्प होकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से स्थित, उस जीव को अनादि संसार में भटकने की भूमिका में यह प्राप्ति नहीं हुई हो। **उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है;...** तत्क्षण सिद्धपद प्राप्त होता है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धपद। सिद्ध ही पूरा होता है, ऐसा कहते हैं। संसार नहीं। समझ में आया? सिद्धपद की प्राप्ति होती है। अथवा वह साधकपने में जो आनन्द आया न, उसकी प्राप्ति होती है। आहाहा! वह सिद्ध ही है। वह तत्क्षण आनन्द की, ज्ञान की प्राप्ति होती है।

फिर उसी में नित्य मस्ती करते हुए... लो, यह मस्ती करते आया। यह व्यायाम करते हैं न बड़े मगदल उठाकर? यह बड़ा मगदल उठाया। आनन्द का धाम भगवान, उसमें मस्ती करते हुए। यह धर्मी की मस्ती आनन्द के धाम में होती है। आहाहा! कहो, समझ में आया? **नित्य मस्ती करते हुए...** वापस ऐसा कहते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव में लीन होते-होते मस्ती करते, स्वरूप का अनुभव करते हुए **मुमुक्षु – जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक अन्त की (अनेक धर्म की) मूर्तियाँ हैं वे-साधकभाव से उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्ष की कोटिरूप सिद्धिभाव के भाजन होते हैं।** आहाहा! टीका है, हों! यह तो। संस्कृत टीका है।

क्रमरूप अर्थात् क्षण-क्षण में नयी-नयी अवस्थायें होती हैं। पर्याय है, वह अवस्था क्रमरूप है और अक्रमरूप गुण है-युगपद। अन्दर गुण हैं, वे एकसाथ हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि शक्ति, उनकी अवस्था हो, वह क्रम-क्रम से होती है। यह क्रम और अक्रम प्रवर्तते अनेक अन्त / धर्म की मूर्तियाँ हैं। आहाहा! .... शब्द इसमें स्थापित करते हैं।

कितनी! **अनेक अन्त की...** अर्थात् ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि धर्म जो आत्मा में हैं। **वे-साधकभाव से उत्पन्न होनेवाली...** लो। सिद्ध है, वह साधकभाव से उत्पन्न सिद्ध होते हैं, ऐसा कहते हैं। **परम प्रकर्ष की कोटिरूप...** उत्कृष्ट शक्ति की विशेषता से। **कोटि=अन्तिमता; उत्कृष्टता; ऊँचे में ऊँचे बिन्दु; हद। सिद्धिभाव के भाजन होते हैं।** सिद्धिभाव का भाजन अर्थात् सिद्धिपद को पाता है। समझ में आया? यह भाजन हुआ अर्थात् उसमें सिद्धपद रहा। आहाहा! अन्तिम श्लोक है न? सार... सार... सार...

सिद्धिभाव के भाजन होते हैं। उसकी पर्याय में सिद्धपद रहे, ऐसी योग्यता हो जाती है-ऐसा कहते हैं। **परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं, ऐसे एक ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते,...** लो! आहाहा! ज्ञानस्वभाव, जो ज्ञानस्वभाव है, उसे पकड़ते नहीं और राग और पुण्य के विकल्प को पकड़कर बैठा है, उसे साधकपना नहीं होता और उसे सिद्धपना नहीं होता, ऐसा कहते हैं। अस्ति-नास्ति करते हैं। **इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते,...** ज्ञानमात्र भावरूप, भाषा देखो! अकेला आत्मा चैतन्य-प्रकाश, ऐसा ज्ञानमात्र स्वभाव, उसे जो नहीं पकड़ते, ऐसे भाव को अन्तर्मुख प्राप्त नहीं करते, **वे सदा अज्ञानी रहते हुए,...** लो। भले साधु हो, त्यागी हो। ज्ञानस्वरूप भगवान चैतन्य। ज्ञान स्वभावभाव की अस्तिवाला पदार्थ, जानन स्वभाव की मौजूदगीवाला आत्मा, उसे ज्ञानभाव से नहीं पकड़ते। स्वसंवेदन ज्ञान, ज्ञान को प्रत्यक्षरूप से नहीं वेदते। समझ में आया?

सदा अज्ञानी रहते हुए,... देखो! उसमें नित्य मस्ती करते थे न? यह **सदा अज्ञानी रहते हुए,...** आहाहा! ज्ञानभावरूप आत्मा, ज्ञानस्वभावरूप आत्मा, आनन्दस्वभावरूप आत्मा को जो प्राप्त नहीं करते। ऐसी दशा को प्राप्त नहीं होते। **इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए,...** लो। भले साधु हो। समझ में आया? **सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भाव का स्वरूप से अभवन...** आत्मा के आनन्द और ज्ञानभाव के स्वरूप का अभवन—नहीं होना। **और पररूप से भवन...** राग की, पुण्य की क्रिया से भवन—अपने को वह देखता है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानरूपी भवन का नहीं होना, स्वरूप की स्थिरता और श्रद्धा—ज्ञान से नहीं होना और अभवन—पररूपी अभवन।

स्व से अभवन अर्थात् पररूप से भवन। फिर चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, परन्तु वह पररूप विकार है।

पररूप से भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए,... राग से, पुण्य से होना। अपने को मानो पुण्यरूप हुआ, मैं रागरूप हुआ, ऐसा देखते अर्थात् श्रद्धा करते हुए। रागरूप हुआ ऐसी श्रद्धा करता हुआ, देखता हुआ ज्ञानरूप हुआ ऐसा तो उसे है नहीं। समझ में आया? **भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए...** लो। अर्थात्? रागरूप हो, वह उसे ही देखता है, वही मैं हूँ। चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो। वह राग पररूप है। उसे **देखते हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए,...** अर्थात् राग के विकल्प का आचरण करता हुआ। ये तीन आ गये। **मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए,...** स्वरूप ज्ञानमात्र चैतन्य भगवान है, उसे छोड़कर राग का जो शुभ विकल्प है, उसे पकड़कर उसे श्रद्धा मानता हुआ, उसकी श्रद्धा करता हुआ, उसमें उसका ज्ञान करता हुआ और उसमें स्थिर होता हुआ मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो पंच महाव्रत पालता हो, अट्ठाईस मूलगुण दिगम्बर मुनि के (पालता हो), उसे श्रद्धे, उसे जाने, उसे-राग को आचरता है। भगवान रागरहित है, उसे श्रद्धता, जानता और आचरता नहीं है। ओहोहो! समझ में आया? इस विधि की पद्धति की खबर नहीं होती कि मार्ग को प्राप्त करने की और वहाँ पहुँचने की क्या विधि है? आहाहा!

कहते हैं कि स्वयं ज्ञानस्वभाव आत्मा है, उसे पकड़कर श्रद्धा, ज्ञान करके स्थिर होता है, वही साधक होकर सिद्ध होता है। ऐसा ज्ञानस्वभाव आत्मा, जिसके अस्तित्व में अकेला ज्ञाता-दृष्टापना है, ऐसे ज्ञाता-दृष्टापने नहीं होकर, राग के विकल्परूप होकर, उसे श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसमें आचरण करता है, वह मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्री है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो भगवान की भक्ति के राग में अकेला रटता है, उसे श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसे आचरण करता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! चैतन्यस्वभाव अनादि-अनन्त ध्रुव स्वभाव को नहीं पकड़ता, उसरूप नहीं होता, अनादि अज्ञानी राग को पकड़ता है, श्रद्धा करता है, राग को देखता है, राग को जानता और राग का आचरण करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह मिथ्याज्ञानी है।

मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए...

साधकपने से और सिद्धपने से दोनों से भ्रष्ट वर्तता है। आहाहा! उपाय अर्थात् साधक और उपेय अर्थात् साध्य। **अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए...** देखा? **संसार में परिभ्रमण ही करते हैं।** संसार में परिभ्रमण ही करता है। आहाहा! समझ में आया? दोनों बातें लीं। संसार छूटने की और संसार परिभ्रमण की। इन दोनों परिणाम का कर्ता वह जीव है। स्वरूप के परिणाम ज्ञान के करे, श्रद्धा करे और स्थिर हो तो साधकरूप होकर अन्दर में मस्ती करते-करते केवलज्ञान सिद्धपद को पाता है। भाव का स्वभाव चैतन्य गुण वस्तु अनादि-अनन्त चैतन्य -स्वभाव, अविनाशी गुण, उसे पर्याय में नहीं पकड़कर, उसरूप नहीं होता, रागरूप—विकल्परूप होकर (परिणमता है)। वह कषाय है। राग दाह आग। राग आग दाह। उसमें जलता है। यह ... है। शुभभाव, वह ज्वलन है, कषाय है - ऐसा कहा। ऐसे ज्वलन में स्वरूप से, शान्ति से भ्रष्ट वर्तते हुए, देखा! यहाँ तो कर्म से होता है और उसके अभाव से होता है, यह बात यहाँ (नहीं की है)। स्वयं अपने स्वरूप की श्रद्धा नहीं करता, राग की श्रद्धा करता है, राग को जानता है और राग का आचरण करता हुआ **मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए,...** स्वयं वर्तता हुआ, ऐसा है। पर को कुछ वर्ताया है, ऐसा नहीं है। अभी बड़ा विवाद-तकलीफ। **अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में परिभ्रमण ही करते है।** लो। **'एव'** है न? **'विभ्रमन्त्येव'** ऐसा संस्कृत में शब्द है। परिभ्रमण ही करता है। वह ज्ञानस्वभावभाव, ज्ञातास्वभावभाव, दृष्टास्वभावभाव, आनन्द-स्वभावभाव उसे अन्तर में नहीं पकड़ता, उसरूप नहीं होता, उसकी श्रद्धा नहीं करता, नहीं जानता, नहीं श्रद्धा करता, राग की क्रिया के परिणाम में उसे श्रद्धा करता हुआ, जानता और आचरण करता हुआ मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्री होकर अन्तर भ्रष्ट होकर संसार में ही भटकता है। कहो, समझ में आया?

व्यवहार से उसे श्रद्धा ... आता है व्यवहार से, देखो! पुरुषार्थसिद्धियुपाय में नहीं आता? निश्चय और व्यवहार दो मुक्ति के मार्ग हैं। दो से मुक्त होता है। यह तो आरोप करके कथन किया है। यहाँ तो एक ही बात है। सार में सार कलश चढ़ाया है। जैसे मन्दिर के ऊपर कलश चढ़ाते हैं, वैसे चढ़ाया है! भगवान! तेरे स्वभावभाव को पकड़, उसे पकड़कर श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर, उसमें लीनता कर, उसमें स्थिर हो। वह सम्यग्दृष्टि, ज्ञान और चारित्रवन्त होते हुए साधकरूप होकर सिद्ध का भाजन करता है। अर्थात् वह

सिद्ध होगा। वह सिद्ध होगा ही। जैसे यहाँ परिभ्रमण ही करता है। वैसे सिद्ध होगा ही। ऐसा है, देखो! समझ में आया? सिद्धिभाव का भाजन होता है, ऐसा वहाँ कहा न? अब तुझे ठीक पड़े, वैसा कर—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : जहाँ रुचे वहाँ जा।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ रुचे वहाँ जा। यह आता है न? आहाहा! परन्तु जिसे वस्तु की खबर ही नहीं होती। द्रव्य अर्थात् क्या? गुण अर्थात् क्या? यह पर्याय बदलती है परलक्ष्य से और स्वलक्ष्य वह क्या? ऊपर-ऊपर से अन्ध होकर भटकता है।

कलश - २६६

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(वसंततिलका)

ये ज्ञान-मात्र-निज-भाव-मयी-मकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथ-मप्यपनीत-मोहाः।
ते साधकत्व-मधिगम्य भवन्ति सिद्धा,
मूढास्त्वमू-मनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ।।२६६।।

श्लोकार्थ : [ये] जो पुरुष, [कथम् अपि अपनीत-मोहाः] किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है, ऐसा होता हुआ, [ज्ञानमात्र-निज-भावमयीम् अकम्पां भूमिं] ज्ञानमात्र निज भावमय अकम्प भूमिका का (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस-मय निश्चल भूमिका का) [श्रयन्ति] आश्रय लेते हैं, [ते साधकत्वम् अधिगम्य सिद्धाः भवन्ति] वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; [तु] परन्तु [मूढाः] जो मूढ़ (-मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं, वे [अमूम् अनुपलभ्य] इस भूमिका को प्राप्त न करके [परिभ्रमन्ति] संसार में परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ : जो भव्य पुरुष, गुरु के उपदेश से अथवा स्वयमेव काललब्धि को प्राप्त करके मिथ्यात्व से रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं; वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र-निज को प्राप्त नहीं करते, वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।२६६।

कलश - २६६ पर प्रवचन

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- लो २६६। वह टीका थी।

ये ज्ञान-मात्र-निज-भाव-मयी-मकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथ-मप्यपनीत-मोहाः।
ते साधकत्व-मधिगम्य भवन्ति सिद्धा,
मूढास्त्वमू-मनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ।।२६६।।

लो। अब वापस यह तीसरी टीका का सार। एक कलश लिया। समझ में आया? यह अब आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५७०, श्लोक-२६६ शुक्रवार, पोष शुक्ल १२
दिनांक - ०८-०१-१९७१

समयसार, २६६ कलश। कल पाँच मिनिट चल गया था न? सवेरे पौन घण्टे याद रह गया। २६६

ये ज्ञान–मात्र–निज–भाव–मयी–मकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथ–मप्यपनीत–मोहाः।
ते साधकत्व–मधिगम्य भवन्ति सिद्धा,
मूढास्त्वमू–मनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ।।२६६।।

श्लोक में संसार में भटकता है, वह कैसे मिटे, इन दो की बात है। यह अन्दर आत्मा जो वस्तु है, यह देह के रजकण से भिन्न चीज़ है। यह तो मिट्टी–धूल है।

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। और कब क्या यह राख नहीं खबर पड़ती इसे? पके तब नहीं कहते कि मेरी मिट्टी पकाऊ है। ऐसा कहते हैं या नहीं? मेरी मिट्टी पकाऊ है। मेरा आत्मा पकाऊ है, ऐसा कहते हैं? यह तो मिट्टी है, जड़ है, धूल है। जगत की धूल है। यह राख होकर श्मशान में उड़ जाती है। यह कहाँ आत्मा है? यह आत्मा देह के रजकणों से और पुण्य–पाप के विकल्प जो वृत्ति होती है, उससे भिन्न चीज़ है। अनादि से अज्ञानी, जो अपना आनन्द और ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसे अन्तर में अपना न मानकर, पुण्य और पाप के जो शुभ–अशुभराग, विकल्प होते हैं और शरीर मेरा मानकर, मिथ्या भ्रमणा करके चार गति के दुःख में भटकता है। बराबर होगा? सुमनभाई! यह सब दुःखी होंगे?

मुमुक्षु : इसे अपना पूछो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे तो सब विचार होंगे। चतुर व्यक्ति है न। इसे आठ हजार का वेतन महीने में है, यह दुःखी है। दुःख का सरदार है। पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह आकुलता है न? चिदानन्दस्वरूप आत्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप, सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द जिसका त्रिकाली स्वभाव आत्मा का है, वह उसकी वस्तु है।

श्रीमद् में एक आता है। अभी स्मरण करते थे, हाथ नहीं आया वह। वह श्लोक आता है। 'ओधवजी अब.... साधन क्या करे' हाथ नहीं आया। 'भूल पड़े तो पड़े भजन में भंग जो।' इतना तो याद आया था परन्तु हाथ नहीं आया। 'ओधवजी अब ... साधन क्या करे?'

भगवान आत्मा इन देह के रजकणों के परमाणु भिन्न जड़ हैं। यहाँ आओ। यहाँ जगह है। वहाँ जगह होगी। पण्डित आये। संस्कृत के प्रोफेसर। पाँच मिनिट देरी हुई। कहो, समझ में आया? अरे! अपनी निज चीज़ क्या है? और उस चीज़ में क्या स्वभाव और शक्ति तथा सामर्थ्य है? उसके भान बिना अनादि की मूर्खाई से यह शरीर मेरा, पैसे मेरे, धूल मेरी, मकान मेरे, स्त्री मेरी; जो इसके नहीं हैं। वे पृथक् पड़ जाते हैं, वे इसके नहीं। पृथक् पड़े, वे इसके नहीं हैं और इसके हों वे पृथक् नहीं पड़ते। इसकी इसे खबर नहीं है।

यह आत्मा... यहाँ कहते हैं कि यहाँ तो पहले सुलटी बात ली है। फिर वह लेंगे। वास्तव में तो प्रभु आत्मा, अपने स्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप के विकल्प उठें, उन्हें माने। उनसे लेकर यह शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, परिवार, राग जो सब पर चीज़ है पर, पर स्वयं से रहा हुआ है। पर चीज़ स्वयं से रही हुई है, आत्मा से रही हुई नहीं। यह शरीर है, वह शरीर जड़रूप होकर रहा है। वह आत्मारूप होकर यह शरीर नहीं रहा। क्योंकि आत्मारूप होकर रहे तो आत्मा तो अरूपी है तो अरूपी हो जाये। ऐसा है नहीं। कभी भी विचार (किया नहीं)। यह दुनिया के काले-सफेद रंग और बाहर में प्रीति कर-करके मर गया। चौरासी के अवतार में गोता खाकर अनन्त बार मर गया। अनन्त बार करोड़ोंपति हुआ, अनन्त बार रंक हुआ, अनन्त बार नरक में गया, अनन्त बार कीड़ा, कौआ, कुत्ते के भव किये। समझ में आया?

भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु! सत् अर्थात् शाश्वत् अविनाशी तथा ज्ञान और आनन्द का धारक, ऐसी चीज़ इसकी स्वयं के घर में पड़ी है परन्तु उसके अविनाशी के तत्त्व की इसको खबर नहीं है। नाशवान जो यह शरीर, वाणी, मन, धूल, खबर है कि मरते हुए एक भी साथ में नहीं आता। सब डॉक्टर भी मुँह फाड़कर खड़े रहते हैं। डॉक्टर भी स्वयं मर जाते हैं। भावनगर का वह डॉक्टर था न? हेमन्तकुमार वैद्य-वैद्य। वह

ऑपरेशन करता था, वहाँ (कहा), मुझे कुछ होता है। उड़ वहाँ का वहाँ। शरीर तो जड़ है। उसकी अवधि के कारण आया है। इस अवधि में एक समय बढ़ेगा नहीं। एकदम जायेगा। वह तो जड़, मिट्टी, धूल है।

स्वयं चैतन्य अन्दर ज्ञान का धारक, उसे जाननेवाला—घट को जाननेवाला घट से भिन्न है। घटमय जाननेवाला है नहीं। घड़ा-घड़ा। घड़े को जाननेवाला घड़ेमय नहीं है। उस घड़े को जाननेवाला ज्ञानमय है, घड़े से भिन्न है। उसी प्रकार घट यह शरीर। इसको घट कहते हैं न? घट में बसना अब छोड़ दे, भगवान! यह चौरासी के अवतार करके तेरा कचूमर निकल गया। कहीं सुख नहीं है। राग, द्वेष और आकुलता में दु:ख का कीड़ा है। वह इस घट का जाननेवाला, वह घटमय नहीं है। घटमय नहीं अर्थात् उसमय नहीं। वह अत्यन्त भिन्न चीज़ है। आत्मा वह घट—देह के रजकण-रजकण से भिन्न चीज़ है। वह तो भिन्न परन्तु अन्दर में पुण्य-पाप के भाव होते हैं—यह कमाने के, भोग के, विषय के, वासना के, ये पाप के भाव हैं, वे भी स्वरूप से भिन्न चीज़ है। और यह दया, दान, व्रत, भक्ति, भजन और भक्ति कहते हैं न? वह भी राग है, विकल्प है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! धर्मिष्ठ, धर्मिष्ठ कहते हैं न? बापू! धर्मिष्ठ किसे कहना, उसकी बात बहुत महँगी है। धर्मिष्ठ होवे तो उसकी दशा तो अन्दर दूसरी बदल जायेगी। समझ में आया?

भगवान अनादि-अनन्त वस्तु है। है, उसकी उत्पत्ति नहीं; है, उसका नाश नहीं; है, उसकी शक्ति से खाली नहीं। उसमें तो अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द। कभी देखने, श्रद्धा करने, मानने निवृत्त कहाँ हुआ है? दुनिया के अज्ञान के और मोह की पट्टियाँ बाँधी हैं। ऐसा का ऐसा पट्टियाँ बाँधकर अन्ध-अन्ध होकर चलता है। पण्डितजी! यह सब करोड़पति चतुर-बतुर कहलाते हैं न? होशियार कहलाते हैं या नहीं सब? ... सब। भिखारी है। आत्मा की अन्तर की लक्ष्मी अनन्त आनन्द और ज्ञान और आनन्द के स्वभाव को छोड़कर, बाहर में झपट्टे डालता है कि यह हो... यह हो.. धूल हो। ऐसी जिसे इच्छा हुई, वह सबको भगवान कहते हैं कि वे रंक, भिखारी हैं। सुमनभाई! सच्ची बात होगी? ऐई! पण्डितजी! आहाहा!

अरे! तेरा स्वभाव क्या? तू कौन है? कहाँ है? कितना है? कहाँ से है? कुछ खबर

नहीं होती। जगत की सब लगाई है। दुनिया की, शरीर की, स्त्री की, परिवार की सब धूल धमाका। राग, एक रजकण भी साथ आवे ऐसा नहीं है। उसे अपना (माना), जो आत्मा में नहीं, उसे अपना माना और अपना है, उसे यह भूल गया। इस अज्ञान के कारण, मिथ्याभ्रम के कारण चौरासी के अवतार अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनेक बार अनन्त बार किये हैं। अनादि का है न, यह कहाँ नया है? अब इसे जब धर्म करना हो तो धर्म कैसे होगा? यह बात चलती है। समझ में आया? वह धर्म कोई दया पालना, दान करना, व्रत करना, तप करना, यह धर्म-बर्म नहीं है। समझ में आया? यह धर्म की बात करते हैं, देखो!

जो पुरुष,... जो कोई आत्मायें। पुरुष शब्द से आत्मा। **'कथम् अपि अपनीत-मोहा:' किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है...** अहो! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का धाम रसकन्द है। चिदानन्द—चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द का उसका रूप है। ऐसा भान करके, और जिसे पुण्य और पाप के विकल्प मेरे—ऐसा जो मोह, उसे जिसने टाला है, उसे धर्म होता है। आहाहा! नवनीतभाई! आहाहा! दुनिया को अन्ध के अन्ध। बतानेवाले भी अन्ध और चलनेवाले भी अन्ध। हो गया धर्म और मर गये, जाकर जाये चौरासी के अवतार में।

कहते हैं कि एक बार सुन, भाई! **किसी भी प्रकार से...** सत् समागम द्वारा जो तेरे स्वरूप का अन्दर आनन्द का भान हो। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द, जैसे शक्ककन्द है, वैसे मैं अतीन्द्रिय आनन्द का और ज्ञान का कन्द हूँ। आहाहा! ऐसा अन्तर में भान होने से अनादि का यह ज्ञान और भान हुआ नहीं, ऐसा भान होने पर उसे **'अपनीत-मोहा:'** शरीर-वाणी मेरे, पुण्य-पाप विकल्प मेरे, वह मेरा कर्तव्य है—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, भ्रमभाव उसका भगवान आत्मा अपने निज स्वभाव की सम्हाल में जाता है, तब उसका वह मोह दूर होता है। इसके अतिरिक्त मोह दूर नहीं होता। कहो, समझ में आया? भाई!

पाँच-पच्चीस लाख दान में दिये और कोई धर्म हो जाये। दुनिया तो उसे बड़ा आगे करके फाँसी पर चढ़ा दे। समझ में आया? धर्मधुरन्धर पदवी दे देवे, लो! यदि पाँच लाख में से दो लाख दे देवे तो धर्म धुरन्धर का पद दे दे। वह प्रसन्न हो जाये और वे भी प्रसन्न

हो जायें, दोनों प्रसन्न हो जायें। ऐ... सुमनभाई! धूल भी तेरा नहीं। पाँच लाख तेरे कब थे? वह तो जड़, मिट्टी, धूल है। तेरे पास नजदीक में आ गये तो तेरे हो गये? यह शरीर नजदीक आया, वह कहीं इसका है? वह तो मिट्टी है। वह तो अजीव होकर रही हुई चीज़ है। ऐसे लक्ष्मी भी अजीव जड़ होकर रहा हुआ पदार्थ है। वह जड़ पदार्थ तेरा है तो तूने दिया और लिया? समझ में आया? धर्म सूक्ष्म बात है, बापू! वह धर्म एक सेकेण्ड हो तो इसके जन्म-मरण गल जाये, टल जाये ऐसा धर्म कहा जाता है। यह पूजा कर डाली, भगवान की भक्ति कर डाली, व्रत पालन किये, ग्यारस के यह किये, सूर्यास्त पूर्व भोजन किया, कन्दमूल नहीं खाये, और धर्म हो जाये, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं कि धर्म तो किसी भी प्रकार से—आत्मा के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा... अहो! इसकी जो मति अनादि से शुभ और अशुभ विकल्प अर्थात् राग में थी, उस मति को वहाँ से हटाकर शुद्ध चिदानन्द घन, आनन्दकन्द अचल अनुपम अनन्त आनन्द का धाम भगवान आत्मा स्वस्वरूप से है, उसमें जिसने दृष्टि को लगाया, वह किसी भी प्रकार से अर्थात् कोई भी पुरुषार्थ से। समझ में आया? दुनिया से दूसरा प्रकार है, भाई! दुनिया चलती है दूसरे रास्ते और मार्ग कहीं दूसरा है। अनन्त काल में, अनन्त अवतार में जो किया, वह का वह करे, तब तक नया कुछ नहीं है। ऐसे दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा भी अनन्त बार की है। और पाप के हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, कमाना-धमाना—ऐसे पाप के परिणाम भी अनन्त बार किये हैं। यह अनन्त बार करके चार गति में अनन्त बार भटका है।

धर्म की चीज़ तो कहते हैं, **'कथम् अपि अपनीत-मोहाः'** अर्थात्? आत्मा के स्वभाव की शुद्धता, ध्रुवता, नित्यता, उसकी सावधानी करने से; पर की सावधानी का जो मिथ्यात्वभाव था, उसका उसे नाश होता है। समझ में आया? यह क्रिया अन्तर की है, बाहर की क्रिया नहीं। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्यघन आनन्द का रसकन्द, चिद्घन है। उसके ऊपर सावधानी की दृष्टि पड़ने से, अपूर्व पुरुषार्थ अनन्त काल में नहीं हुआ, अनन्त काल में नहीं किया, ऐसे पुरुषार्थ से आत्मा के स्वभाव को पकड़ने से **'अपनीत-मोहाः'** यह शरीर मेरा और पुण्य-पाप के भाव, विकल्प हो, वह मेरा, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, पर में सावधानी का भाव; स्वस्वरूप के सावधानी के

भाव में पर की सावधानी का मिथ्याभाव नाश होता है। समझ में आया? यह धर्म है, बापू! धर्म तो दुनिया माने, ऐसा नहीं। यह अनन्त जिन्दगी चली गयी, ऐसे अनन्त भव किये हैं। स्त्री-पुत्र छोड़कर साधु हुआ परन्तु बुद्धि के बाबा हो। भवसागर में डूब मरे। समझ में आया?

आत्मा अन्दर ज्ञान की मूर्ति है। कहेंगे अभी, देखो! ज्ञानमय निजभाव। वस्तु भगवान आत्मा स्वरूप चैतन्यमय है। उसका स्वरूप चैतन्य के आनन्दमय है। आहाहा! सवेरे वे तीन लड़के आते हैं न? उन तीन का नाम ऐसा है, भाई! शशीभाई (शशी) भाई के तीन लड़के आते हैं। बड़े का नाम चेतन है, बीचले का नाम स्वरूप है और छोटे का नाम आनन्द है। वह तो हम ऐसे जंगल गये थे तो तीनों साथ में आये। अभी नहीं आये। विद्यालय गये। चेतन, स्वरूप, आनन्द। मैंने कहा ठीक, भाई! यह धर्म के नाम रखे। वह 'खारा' है। 'खारा' है न? शशीभाई। नाम तो बहुत अच्छा है। चैतन्य, स्वरूप, आनन्द। भाई कहे यह नाम गजब है यह। आत्मा तो चैतन्यस्वरूपआनन्द है। तुझे खबर नहीं, बापू! आहाहा! तुझमें तो आनन्द का, सुख का सागर भरा है। अरे! परन्तु कहाँ देखे? कभी देखने की दरकार नहीं, कभी मानने की दरकार नहीं की। वह चीज़ क्या है, पहले विश्वास लाने की दरकार नहीं की। ऐसा आत्मा पहले विश्वास में आवे, पश्चात् स्वरूप सन्मुख हो। समझ में आया? जिसका विश्वास है, उसमें आवश्यकता मानकर उसमें वीर्य को स्फुरित करता है। पूरे दिन यह कमाना, खाना, भोग, विषय, इज्जत, धूल-धमाका। अज्ञान की मूढ़ता में उलझकर इस प्रकार अनन्त बार मर गया। यह दु:खी है।

मुमुक्षु : परन्तु तब दुनिया कहाँ आगे बढ़ी थी?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बढ़ा था? दुनिया कहाँ बढ़ी थी? पीछे है सब। दुनिया को भान कब था। दुनिया किसे कहना और मैं कौन हूँ, और कहना किसे, इसका भान नहीं है। आहाहा!

प्रभु आत्मा अन्दर में वस्तु है, अस्ति है, हयाति है, मौजूदगी है, और उसमें अनन्त-अनन्त जिसका ज्ञान, आनन्द स्वभाव है, वह तो अनन्त अपरिमित स्वभाव से भरपूर आत्मा है। तीन काल—तीन लोक को एक समय में जाने तो भी उसका ज्ञान कम न हो,

निकलता ही रहे, ऐसी बड़ी खान है। परन्तु भान कहाँ है ? यह पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ बाहर से मिले, इसलिए ऐसा हो जाता है कि हम बड़े धनाढ्य हो गये। धूल भी नहीं, भिखारी है, सुन न। यह चाहिए... यह चाहिए... यह चाहिए... कुछ नहीं चाहिए। मेरा आत्मा आनन्द का धाम है। मैं एक सुखसागर से भरपूर चैतन्य हूँ। मेरी शान्ति, मेरा समाधान, मेरे स्वभाव में मुझमें है। आहाहा! समझ में आया ?

यह कृष्णकुमार एक बार यहाँ व्याख्यान में आये थे। वह दरबार आये थे न ? वे और निर्मल दो आये थे। (संवत्) १९९७ के वर्ष में। यह मन्दिर हुआ था। दोनों आये थे। उन्हें कहा था। यहाँ दो बार आये थे। एक बार तब आये और एक बार (संवत्) २००९ में व्याख्यान सुनने आये थे। कहा, दरबार! यह थोड़ा माँगे, वह छोटा भिखारी और अधिक माँगे, वह बड़ा भिखारी। महीने में पाँच हजार चाहिए हो, वह छोटा भिखारी, लाख चाहिए हो, वह बड़ा भिखारी। माँगे, वह भिखारी और न माँगे, वह बादशाह। आत्मा आनन्द का धाम है। मुझे परवस्तु नहीं चाहिए।

मुमुक्षु : दरबार ने हाँ किया था ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ किया था। दरबार कहे, सत्य बात, महाराज! यह करोड़ का तालुका धूम-धमाका है। उसमें कुछ नहीं। रंक होकर मर गया। आहाहा! चलो... जाओ। भटकने चौरासी के अवतार में। आहाहा! बापू! तुझे खबर नहीं।

तेरा निजनिधान अन्तर में आनन्द और ज्ञान से भरपूर स्वभाव है। वस्तु का स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है। ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से अनन्त काल में जिसने यह दृष्टि नहीं की, साधु हुआ, बाबा हुआ, पश्चात् स्त्री-पुत्र छोड़े परन्तु मिथ्यात्वभाव को नहीं छोड़ा। मैं कुछ बाबा हूँ, मैं साधू, मैं क्रिया करता हूँ, मैं दया पालता हूँ और भक्ति करता हूँ, यह सब अभिमान मिथ्यात्व के हैं। देवजीभाई! मार डाला।

किसी भी प्रकार से... उसका अर्थ फिर अन्त में डाला है। आहाहा! पुरुषार्थ। चैतन्य में तो पुरुषार्थ अर्थात् वीर्य तो अनन्त पड़ा है। ऐसे अनन्त वीर्य में से पुरुषार्थ की वर्तमान दशा द्वारा भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप इदं चिदानन्द है, उसमें दृष्टि देने से, उसमें सावधान होकर दृष्टि देने से उसे सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की पहली दशा प्रगट होती है, तब

उसे पर में सावधानी का मोह नाश होता है। पश्चात् आत्मा का भान होने पर (भी) रागादि हों परन्तु उनकी सावधानी नहीं होती। आहाहा! भारी बात, भाई! समझ में आया?

अभी तो मस्तिष्क में प्रविष्ट होना कठिन पड़े। अभी पूरी बात क्या है, उसे ख्याल में आना कठिन पड़े। कान में सुनने को मिली नहीं, उसमें कब विचारे? ऐसे का ऐसा अन्ध होकर अनन्त काल भटका करता है। अनन्त बार रंक हुआ, अनन्त बार राजा हुआ, अनन्त बार नरक का कीड़ा हुआ। चींटियाँ और कौवे के अवतार अनन्त किये। आदिरहित आत्मा रहा कहाँ? अवतार में। अवतार बिना इसे आत्मा का मोक्ष हुआ नहीं। मोक्ष हुआ हो तो फिर से अवतार न ले। चना सिंक जाने के बाद उगता नहीं है। अनादि काल से भटकता है, भाई! उसे खबर नहीं। ऐसे अनन्त-अनन्त काल देखो। भूतकाल देखो तो इसे कहीं कोई भव बिना का जीव नहीं मिलेगा। इससे पहले... इससे पहले... इससे पहले... इससे पहले... इससे पहले... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... आदि बिना के भव इसने किये हैं। आहाहा!

पर में सावधानी के भाव से ऐसे भव में भ्रमण करता है। पर में सावधानी अर्थात् मिथ्यात्व। संक्षिप्त व्याख्या। पर में सावधानी अर्थात् मिथ्या विपरीत दृष्टि, मिथ्या भ्रम। यह पर में सावधानी के भाव से, स्व की सावधानी से चूका हुआ। धीरूभाई! यह तो बहुत संक्षिप्त है। संक्षिप्त व्याख्या। एक म्यान में दो तलवार नहीं बैठती; इसी प्रकार जिसे पुण्य और पार तथा पुण्य-पाप के फल में उसे रुचि और प्रेम है, उसे इसका आत्मा आनन्दकन्द है, उसका उसे प्रेम नहीं है। समझ में आया? और जिसे सच्चिदानन्द प्रभु! अहो! जो हूँ, वह मैं हूँ। मेरे स्वभाव में पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण वीर्य से भरपूर स्वभाववाला मैं हूँ। अरे! इसके कहाँ से विश्वास आवे? इसे कहाँ से बैठे? कभी इसने उस ओर गति करने की रुचि भी नहीं की। आहाहा!

कहते हैं, आचार्य ने बहुत संक्षिप्त में बात समाहित की है। **किसी भी प्रकार से... 'कथम् अपि'** है न? **जिसका...** अर्थात् आत्मा का **मोह दूर हो गया है...** अरे! मैं तो आत्मा हूँ। अनादि-अनन्त मेरी चीज़ है। मेरी कोई उत्पत्ति नहीं, मेरा कोई भविष्य में नाश हो, ऐसा मैं नहीं। मैं तो हूँ, हूँ और हूँ। ऐसे अविनाशी के अन्तर के आनन्द और ज्ञान के

भाव को पकड़ने से, इसका नाम सम्यग्दर्शन और इसका नाम धर्म। बाकी सब थोथा, एक बिना के शून्य। समझ में आया?

ऐसा होता हुआ,... अब क्या कहते हैं? **'ज्ञानमात्र-निज-भावमयीम् अकम्पां भूमिं' ज्ञानमात्र निज भावमय...** कहते हैं कि अपना भाव क्या है? भाववान आत्मा। शक्कर भाववान और मिठास, मिठास और सफेदी, यह उसका भाव। इसी प्रकार आत्मा भाववान। उसका भाव क्या है? जानना... जानना... जानना... जानना... प्रज्ञाब्रह्मा। ज्ञाता स्वभाव त्रिकाल है, दृष्टा स्वभाव त्रिकाल है, आनन्द स्वभाव इसका त्रिकाल है। ऐसे **ज्ञानमात्र निज भावमय...** आहाहा! यहाँ पर्याय लेनी है न वापस, पर्याय लेनी है। जीव तो त्रिकाल ज्ञान है परन्तु उसे पकड़ने से पर्याय में—हालत में ज्ञानमय दशा हुई। अरे रे! गजब बात! जो अनादि के पुण्य और पाप, राग और द्वेष की दशा है, वह जहर का पेय और जहर का स्वाद है। समझ में आया? वह दु:खी, दु:खी और दु:खी। वह दु:ख के पर्वत में पड़ा है। आहाहा! यह बात बैठे?

मुमुक्षु : .... सुखी थे तो आये किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसके लड़के को बैठती है या नहीं?

मुमुक्षु : बैठेगी। आज नहीं तो कल बैठेगी। बैठाये बिना छुटकारा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके पास दो करोड़ और उसके पास तीन करोड़। दो लड़कों के पास पाँच करोड़ हैं। इनके दो लड़कों के पास पाँच करोड़ रुपये हैं। उन करोड़ में से सुखी होंगे या नहीं?

मुमुक्षु : करोड़ मैं करोड़... हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भांगी जायेगी, अब सुन न। तेरे करोड़ तो जड़ हैं, मिट्टी-धूल है। बहिन का पूछते थे। ताराबहिन नहीं? .... सवेरे जाकर कहा था न? .... भाई! सब है परन्तु निर्णय करने की निवृत्ति कब है? पूछा था या नहीं? हैं या गये? ठीक। समझ में आया?

मुमुक्षु : मोटर आयी थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर लेने आयी थी। आयी ही हो न। आहाहा! धूल में भी नहीं,

वह तो दु:खी है। तुम्हारा लड़का, हों! भाई! दु:खी है? तुम जा आये न? पौने दो महीने रह आये या नहीं? स्विट्जरलैण्ड जा आये।

मुमुक्षु : इस बात में तो सुखी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी सुखी नहीं। उसे कोट पहनना पड़ा था। यह पतलून पहनना पड़ा। स्विट्जरलेण्ड में ऐसे वस्त्र से नहीं जाया जाता।

मुमुक्षु : ... स्विट्जरलैण्ड में एक दिन शरीर को दु:ख नहीं हुआ था। साहेब! यहाँ तो रोज दु:ख।

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:ख कहना किसे? दु:ख की व्याख्या क्या? राग और द्वेष के भाव हों, वह दु:ख है। कहो, अब दु:ख की व्याख्या क्या? दु:ख कहना किसे, इसका भान नहीं होता। राग और द्वेष। यह ठीक है, मुझे यह ठीक पड़ा, पैसे ठीक पड़े, स्त्री ठीक पड़ी, लड़का ठीक बोले। यह सब राग है, उसमें अकेली दु:ख की, आकुलता की गन्ध है। भान बिना के सन्निपातिया। सन्निपात का रोग हो, दाँत निकाले (खिलखिलाकर हँसे) सुखी होगा? आठ व्यक्ति पकड़े तो रहे नहीं। और खिलखिलाकर दाँत निकाले। ... आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो दर्द होवे तो। निरोगी को ऐसा कुछ नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सबको दर्द ही पड़े हैं। यह राग मेरा, पुण्य मेरा, शरीर मेरा, मिथ्यात्व का बड़ा भ्रान्ति का रोग पड़ा है। सन्निपात लगा है, धीरुभाई! यहाँ कहाँ मक्खन है, वह यहाँ लगाना है। बात यह है। समझ में आया?

श्रीमद् ने नहीं लिखा? श्रीमद् में आता है न? 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान, गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं।' भगवान आनन्द और ज्ञान का धाम, उसे भूलकर राग और पुण्य, पाप के फल मेरे। ऐसी जो भ्रान्ति, उसके समान आत्मा को कोई सन्निपात का रोग नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वात, पित्त और कफ बिगड़े, तब ऐसा सन्निपात होता है। उसी प्रकार यहाँ यह मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अनादि का सन्निपात (हुआ है)। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि काम, क्रोध के परिणाम, वे मेरे; उसका ज्ञान वह मेरा, ऐसा ज्ञान इतना मैं, उसमें रहना वह चारित्र। यह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का सन्निपात वक्री

हुआ है इसे। समझ में आया? फिर दाँत निकाले। हम प्रसन्न हैं, बादशाही है। सुमनभाई! यह तुमको तो सब बहुत बुलाते हैं जहाँ-तहाँ कुर्सी डालकर। श्रीखण्ड-पूड़ी और अमुक अमुक। ... डाले और यह करावे। अरबी के और बाग-बगीचे में चारों और बड़ी कुर्सी डाली हो और बैठे हो। पार्टी दे। सब दु:ख की पार्टी है। जगत से भारी उल्टा, भाई यह। जगत उल्टे रास्ते पड़ा है, उससे यह उल्टा है। उल्टे से उल्टा है। शशीभाई! आहाहा!

कहते हैं, अरे! तेरी भूमिका कौन है? बापू! तेरी जगह कौन है? तेरा भाव कौन? यदि यह तेरा भाव पुण्य और पाप, शरीर, फल यह नहीं, ऐसा कहते हैं। तेरा भाव तो ज्ञानमात्र निजभाव। आहाहा! जानने का स्वभाव, अविनाशी स्वभाव जानना, ऐसा जो त्रिकाल निजभाव, उसे पकड़कर जो ज्ञान की निर्मलदशा हो, वह **'निज-भावमयीम् अकम्पां भूमिं'** भूमिका, वह तेरी दशा और वह तेरा स्वरूप है। आहाहा!

फिर से। यह कहीं एकदम गले उतरे, ऐसा नहीं है। गले दूसरी बहुत विपरीतता घुसी है न, (इसलिए) उतरना कठिन पड़े। समझ में आया? कहते हैं कि भगवान आत्मा **ज्ञानमात्र...** देखो! भाषा क्या है? ज्ञानमात्र मैं चैतन्यबिम्ब हूँ। ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से, जिसकी वर्तमान दशा में, ज्ञानमात्र दशा, पुण्य-पाप के विकल्प की रुचि छूटकर स्वभाव की दृष्टि होने से, ज्ञान प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप भगवान, वह ज्ञानमात्र निजभाव। निर्मल वीतरागी पर्याय निजभावमय अकम्प भूमि। आहाहा! वह स्थिर भूमि दशा में जमी, ऐसा कहते हैं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप तो कम्प... कम्प... कम्प कम्पवाले हैं वे सब। यह अकम्प भूमि है। प्रभु आत्मा ज्ञानमय दशा को एकाग्र होने से जो प्रगट करके, स्वसन्मुख होकर, स्वभाव सन्मुख होकर, ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय, शान्तिमय दशा हुई, उसे यहाँ ज्ञानमय दिशा कहने में आता है। और वह निजभावमय। वह अपनी निर्मल पर्याय अपने में अभेद हुई। आहाहा! अरे! यह तो अभेद क्या? उसमें भाषा ग्रीक-लेटिन (अटपटी) जैसा लगे। कभी अभ्यास किया नहीं।

कहते हैं, अकम्प भूमि। वस्तु आत्मा आनन्द है, ज्ञान है, ऐसे स्वसन्मुख होकर, जो ज्ञान की निर्मलता, एकाग्रता होकर जो प्रगटी, वह अकम्प भूमि है। अकम्प अर्थात् धर्मभूमि है। अरे रे! गजब ऐसी धर्म की व्याख्या! वह तो सब चारों ओर हो...हा...

हो...हा... होता है। जरा सी दया पाले, कोई व्रत पाले, कोई दान दे, वहाँ धर्म-धर्म। धूल में भी नहीं। धर्म तो उसे कहते हैं कि जिसमें जन्म-मरण गलकर आत्मा की आनन्ददशा आवे, उसे धर्म कहते हैं। धर्म, वह कोई साधारण चीज़ है? अनन्त काल में इसमें एक सेकेण्डमात्र भी धर्मभूमिका को प्रगट नहीं किया। समझ में आया? आहाहा!

(अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस-मय निश्चल भूमिका का)... आश्रय करते हैं। अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, उसका आश्रय और स्थिरता प्रगट करता है, वह अकम्पभूमि। उसका स्वरूप तो ज्ञान जानना-देखना है। पुण्य-पाप के विकल्प जो वृत्तियाँ उठती हैं, वे तो दु:खदायक हैं। और उसमें सावधानी होना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। स्वभाव में एकाग्र होने पर **अकम्प भूमिका का आश्रय लेते हैं, वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं;...** उसमें आया था न पहले? क्या आया था उसमें? नहीं आया था?

मुमुक्षु : भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई थी, उसे होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बस यह। भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई थी, उसे होती है। तत्क्षण भूमिका की प्राप्ति होती है। है यह? आहाहा!

ध्रुव वस्तु नित्य अविनाशी भगवान, ज्ञान और आनन्द का धाम उसका स्वभाव त्रिकाल, उसका आश्रय लेकर एकाग्र होने से निज ज्ञानमय दशा, वीतरागमय दशा, शुद्ध दशा, शुद्ध उपयोग की दशा, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। पुण्य-पाप के भाव तो अशुद्ध हैं, मलिन हैं, दु:ख है। जिसमें ऐसे शुद्धभाव की भूमिका प्रगट की है। आहाहा! शुद्धभाव और शुभ क्या? **वे साधकत्व को प्राप्त करके...** वह अपने आनन्दपने के, मुक्तिपने की कारणरूप दशा पाकर। मुक्ति अर्थात् पूर्ण आनन्द की प्राप्ति। मुक्ति अर्थात् सिद्धि अर्थात् पूर्ण दु:ख का अभाव और पूर्ण आनन्द जैसा है, वैसे आनन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति है। ऐसी मुक्ति का साधकपना प्राप्त करते, स्वस्वरूप की दृष्टि होकर एकाग्र होने से अकम्पदशा प्रगट हुई, वह सिद्ध होते हैं। इस मिथ्यादर्शन में राग-द्वेष को पाकर संसार होकर भटकता है। समझ में आया? बात पकड़ना कठिन पड़े।

'साधकत्वम् अधिगम्य' साधकपने का अनुभव करके। मैं शुद्ध आनन्द हूँ, ऐसे

आनन्द का अनुभव करके। **'सिद्धाः भवन्ति'** उस आनन्द के अनुभव करते-करते पूर्णानन्द को प्राप्त कर परमात्मा होता है। सिद्ध अर्थात् संसारदशा का नाश होकर उसे अशरीरी सिद्धदशा प्रगट होती है। इसमें देवपद कब मिलेगा? यह तो सेठाई का पद कहलाये। यह स्वर्ग का सुख। धूल में भी स्वर्ग का सुख नहीं। वहाँ सब अंगारे हैं। कषाय का राग-विकल्प उठे, यह इन्द्राणी अच्छी है, ये पुण्य के फल अच्छे हैं। दु:ख का कीड़ा है। समझ में आया? आहाहा! निजाधीन वस्तु को भूलकर पर में सुख माने, वह बड़ा मूढ़ जीव है। आहाहा! अपने आनन्दस्वभाव को सच्चिदानन्द, प्रभु शाश्वत् आनन्द अपने में है, उसे भूलकर, कहीं भी आनन्द की अधिकाई और सुख लगे, ठीक लगे, पुण्यभाव में, पापभाव में, फल में, सामग्री में, साधन में सुख लगे, वह मूढ़ है, कहते हैं। आत्मा की हिंसा कर रहा है। आत्मा के आनन्दमय जीवन का निषेध करके यह रागमय जीवन अच्छा है, ऐसे आत्मा की हिंसा कर रहा है। समझ में आया?

साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो मूढ़ हैं, देखो! अब आया। **(-मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं...** आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानानन्द सहजानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा स्वयं आत्मा है। उसमें सहज आनन्द है, स्वाभाविक आनन्द है। यह तो कल्पना है कि इसमें सुख है। धूल में भी सुख नहीं है। पैसे में नहीं, इज्जत में नहीं, शरीर में नहीं। कितना सुख होगा?

मुमुक्षु : जरा भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं?

मुमुक्षु : आपके पास तो ऐसा ही कहा जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो न्याय से कहा जाता है न! मस्तिष्क में बैठना चाहिए न पहले। यहाँ कि वहाँ क्या है, वह सत्य होना चाहिए न? सत्य होना चाहिए न? आहाहा! वह बेचारे बाहर में सुख माननेवाले मरते मुँह फाड़कर... आहाहा! चले जाते हैं। नरक और निगोद, पशु के अवतार होकर भटकते हैं। दु:खी है, यह इसे खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया? मूढ़ जीव है। **इस भूमिका को प्राप्त न करके...** देखो! यह चैतन्य ज्ञानमय आनन्दमय वस्तु है, उसे पर्याय में—अवस्था में नहीं प्राप्त करके राग को,

द्वेष को, पुण्य-पाप को प्राप्त करके संसार में भ्रमता है। चाहे तो साधु हुआ हो तो भी भटकता है। उसे स्वरूप का साधन क्या है, इसकी खबर नहीं है। साधे इति साधु। साधक है न?

भगवान ज्ञानस्वरूप है। अतीन्द्रिय आनन्द की सत्ता अस्तिवाला पदार्थ है, अनादि-अनन्त है। ऐसे स्वभाव को साधकरूप से परिणमकर आनन्द की दशा प्राप्त करता है, वह साधक है—वह धर्म का साधनेवाला है। बाकी बाबा हुए, वस्त्र बदले (छोड़े), स्त्री-पुत्र छोड़े और हो गये साधु। वह साधु-फाधु है नहीं। समझ में आया? कहते हैं, ऐसे मूढ़ जीव, वे व्रत को, तप को, दया और दान के विकल्प में अपनापन माननेवाले और वह धर्म है, ऐसा माननेवाले मूढ़ जीव इस भूमिका को नहीं पाकर, आत्मभूमिका शुद्ध चैतन्य को नहीं पाकर, आत्मा की दशा को नहीं पाकर **संसार में परिभ्रमण करते हैं।** है? **'परिभ्रमन्ति'** उसके अवतार का अन्त नहीं है। कितने अनन्त अवतार किये और पर को अपना मानेगा तथा स्वरूप को भूलेगा, तब तक कितने अवतार होंगे, इसका अन्त नहीं है। आहाहा!

मरते हुए श्वास भी नहीं लिया जाता, हों! इसके पास पैसा हो तो वहाँ पैसा क्या करे? डॉक्टर आये हों तो दो पाँच हजार रुपये। ... चढ़ाओ एक इंजैक्शन। दे सकते नहीं तो यह रक्त का ग्लूकोज चढ़ाओ। यहाँ बन्द है तो यहाँ छेद पाड़कर डालो। अरे रे! पागल ही पागल सब इकट्ठे हुए हों न। ऐई! धीरुभाई! ... लिया जाता हो। डबल निमोनिया हो। सब इकट्ठे हुए हों। अब कब मरेगा? मरेगा अर्थात् स्थिति पूरी कब होगी, ऐसा। अब देखो, दो घड़ी देखो। बहुत पीछे लगना रहने दो। ऐसा कहते हैं। कोई चतुर व्यक्ति हो, वह आकर कहे, अभी देखो। देखो अर्थात् क्या कि अभी घण्टे-दो घण्टे में निपट जायेगा। यहाँ से उठ जायेगा बेचारा। आहाहा! पण्डितजी! आहाहा!

बापू! तेरा स्वरूप भगवान इस शरीर के रजकण-मिट्टी से अत्यन्त भिन्न है। तेरी प्रभुता तो तेरे स्वभाव में है। इन पुण्य-पाप के भाव और इनके फल में तेरी प्रभुता माने, तू मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया? यह दो-पाँच करोड़ रुपये हों और बड़े बगीचा बनाये हों, कुर्सी में बैठा हो और अरबी के पत्ते में श्रीखण्ड-पूड़ी चढ़ावे और एक-दूसरे, एक-दूसरे की महिमा करते हों और दाँत निकाले। होवे तो सब पागल। सुमनभाई! पागल है। पागल है? पागल जैसा?

मुमुक्षु : पागल ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैंने एक बार कहा, भाई! ऐसे हों वे पागल जैसे हैं। यह कोई मस्तिष्कवाला खड़ा हुआ। बारह वर्ष हुए, तेरहवाँ लगा। कहा, पागल जैसे हैं। कहे, नहीं। पागल जैसे नहीं। जैसे नहीं। पागल ही है। सुमनभाई! पहले एक बार कहा नहीं था? ... पागल है, पागल। पागल जैसा क्या? जैसा तो उपमा दी कहलाये। स्वयं पागल है, उसमें उपमा किसकी देना?

मुमुक्षु : कोई पागल है, उसके साथ मिलाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिलाया। आहाहा! बात तो ऐसी है। पागल ही है। आहाहा! प्रभु! परन्तु पाँच-पाँच हजार और दस-दस हजार का वेतन लाना हो तो भी? वह भी पागल कहलाता होगा? अरे! लाख लाता हो या दस लाख लाता हो तो क्या हुआ? क्या धूल हुआ? वह कौन लाता है? वह तो तेरे पूर्व के पुण्य के रजकण पड़े हों, वह जले तब ऐसा दिखता है। उसमें तुझे क्या है? वह तो पुण्य की नोट लेकर आया हुआ, वह अन्दर से जल जाता है, तब इसे दिखता है कि इसको दो करोड़ मिले, धूल करोड़ मिले। भगवान तो कहते हैं कि वह जला, तब इसमें बाहर दिखता है और तू कहे, मुझे मिले। मिले तो उसे कहते हैं जिसकी... भाई! आहाहा! अनन्त आनन्द का धाम भगवान सच्चिदानन्द प्रभु! उसमें से एकाग्र होकर शान्ति और ज्ञान निकाले, यह उसे मिला। बाकी सबको जला। समझ में आया? आहाहा! देवजीभाई! इस वर्ष तो वहाँ वर्षा बहुत होगी। पटेलिया को खाद बहुत हो। बहुत आमदनी।

मुमुक्षु : चार वर्ष का पका हुआ एक वर्ष में हो तो होगा तो सही न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वैसे तो यह बारह महीने में लाख-लाख की आमदनी वाले हैं। कैसी .... कानातलाब। इस वर्ष तो बहुत होगा।

मुमुक्षु : है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है। वर्षा बहुत आयी न? क्या आयी? धूल आयी, धूल। अरे! भगवान! तेरा अमृत लुटता है, प्रभु! आहाहा! यह अमृत का सागर / समुद्र अन्दर में डोलायमान होता है। आहाहा! तुझे खबर नहीं। बेखबर होकर घूमता है। बेखबर अर्थात् दो

खबर होगा ? खबर बिना का। अरे ! भगवान ! तेरी निज निधान की पूँजी में अनन्त आनन्द और शान्ति है। प्रभु ! तू बाहर कहाँ खोजने जाता है ? बाहर में खोजने जाये उतना अन्दर का खो जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

'अमूम् अनुपलभ्य' इस भूमिका को प्राप्त न करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। आनन्द का धाम, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद है, ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद को स्वसन्मुख होकर नहीं पाकर, परसन्मुख होकर राग-द्वेष के मैल का स्वाद लेकर चार गति में भटकता है। समझ में आया ? आहाहा ! परन्तु इसमें ऐसा दु:ख दिखाई नहीं देता। परन्तु किसका दिखाई दे ? सन्निपातिया को दाँत आता है तो उसे कहाँ दु:ख दिखता है ? वह सुखी है ? निकालता है दाँत। लींबड़ा की बात है। बहुत वर्ष हुए। लींबड़ा नहीं... यह लींबड़ा नहीं ? इस रास्ते में आता है। ३२ वर्ष का युवक था। उसे बराबर सन्निपात हुआ, दाँत निकाले (हँसे) और वस्त्र निकाले... सवेरे नहीं निकाले, लोग कहे। वे कहे बल है न इतना ? दाँत निकालता है न ?

मुमुक्षु : वह अस्त हो जानेवाला ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! मर गया सवेरे से पहले। ३२ वर्ष का युवक। यह लींबड़ा है न ? हम बाहर दुकान में उतरे थे। ओहो ! रोना-धोना लगावे। किसका रोना-धोना लगाया है ? देखनेवाले को किसका रोग है ? देखनेवाले को कहाँ रहना है यहाँ ? सुन न। 'मरनारा ने शीद रोवो तमे, रोनारा नहीं रहेनार रे।' तू कहाँ रहे ऐसा है ? तेरा स्वरूप तो अविनाशी है और यह शरीर तो छूट जायेगा। एकदम चला जायेगा। अज्ञानभाव सेवन कर जिन्दगी बितायी है, चला जायेगा चौरासी के थोर के काँटे के अवतार में। कहीं पता नहीं पायेगा। आँधी का उड़ता तिनका कहाँ जाकर पड़ेगा ? आँधी में तिनका उड़ता है न, तिनका ? उसी प्रकार अज्ञानभाव—भान बिना के मूढ़ जीव देह छोड़कर कहाँ जायेंगे ? आहाहा ! कभी इसने विचार किया नहीं। यहाँ आचार्य कहते हैं, एक लाईन दोनों लिये हैं। ओहोहो !

भावार्थ – जो भव्य पुरुष,... लो। सम्बोधन भव्य से किया। जो कोई आत्मार्थी जीव, विषय और रागार्थीपना जिसने छोड़ा है, राग और पुण्य के विकार भाव का अर्थीपना जिसने छोड़ा है, जिसने आत्मा का अर्थीपना प्रगट किया है। आहाहा ! ऐसा जो भगवान

आत्मा, **गुरु के उपदेश से...** लो। ऐसा कहा कि गुरु के उपदेश से अर्थात् गुरु ने उसे ऐसा उपदेश दिया है। समझ में आया? भाई! तेरा स्वरूप तो इन पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, भगवान! उसे अन्दर में पहिचान और श्रद्धा कर। समझ में आया? गुरु का उपदेश मिला तो भी ऐसा मिला है, यह कहते हैं।

अथवा स्वयमेव काललब्धि... पुरुषार्थ की ऐसी योग्यता जगी। आहाहा! समझ में आया? सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण प्रकाश चैतन्य के नूर का पूर, ऐसा भगवान आत्मा अन्तर में जाकर जिसने पुरुषार्थ द्वारा, गुरुगम से यह सुना और या अपने आप पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया। समझ में आया? **'कथम् अपि'** कहा था न? दो प्रकार किये। वह इस प्रकार। शास्त्र भाषा। ऐसे गुरु उपदेश से अर्थात् स्वयं से अन्दर प्राप्त किया। ओहोहो! 'प्याला मुझे पिलाया रे गुरु ने मेरे प्रेम से। पहले प्याले में राग के और मिथ्यात्व के भव टाले और आनन्द का पूर जमा। दूसरे प्याले में चारित्र की दशा प्रगट हुई और शुक्लध्यान और केवल हुआ।' ऐसा प्याला गुरु ने पिलाया, कहते हैं।

मुमुक्षु : भगत बोलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगत बोलता है न? समझ में आया? आहाहा!

चैतन्य परमेश्वर अन्दर पूरा पड़ा है परन्तु रंक होकर भिन्न पड़ा है क्या हो? चक्रवर्ती की रानी होकर, चक्रवर्ती होकर माँगे। चक्रवर्ती ने वाघरण को रखा हो, परन्तु वह आदत पड़ गयी है न? उसको दाँतुन देकर रोटी लेना। शाम को वाघरण देने आवे न? पहले हमें देते, अब तो होता है न। यह तो ६०-७० वर्ष पहले की बात है। दो रोटियाँ दे, आधी रोटी दे और सात-आठ-दस दाँतुन दे जाये। चक्रवर्ती ने वाघरण को रानी बनाया हो। उस वाघरण की आदत मिटेगी? गोखला में जाकर रोटी रखे, दाँतुन हाथ में रखे। ऐ माँ-बाप! दाँतुन लो। दाँतुन रखकर रोटी ले। वहाँ अन्त में घर के गोखला में रोटी रखकर, दाँतुन रखकर फिर ले। यह उसने ऐसा अनादि से किया है, हों! यह तो दृष्टान्त है। आहाहा! भाई! क्या किया है परन्तु उसने?

भगवान आनन्द का धाम प्रभु है न, नाथ! तुझमें आनन्द की पूर्णता पड़ी है, हों! उसे गुरुगम से और या पुरुषार्थ की जागृति सीधी। देखो! **मिथ्यात्व से रहित होकर,...**

देखो! मिथ्यात्व अर्थात् भ्रमणा। पर में सुख है, पुण्य में सुख है, पाप में सुख है, पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, स्त्री का शरीर तो हड्डियाँ, माँस, रक्त और चमड़ा है। धूल है, तो भी उसमें सुख है। धूल में—इस माँस में सुख है। आहाहा! यह चमड़े का मंथन। इस चमड़े के मंथन का सुख है। मूढ, वह कितना मूढ परन्तु कोई? उसके मूढ की दशा है कुछ? समझ में आया?

कहते हैं, प्रभु! यह बड़ा मिथ्यात्वभाव है, हों! तेरा झूठा भाव है, भाई! शरीर के मंथन में, शरीर के रगड़ में तुझे ठीक लगे, माँस और हड्डियाँ, चमड़ा। प्रभु! तुझे मिथ्या भ्रम है। तुझमें आनन्द है, उसे तू भूल गया। आहाहा! समझ में आया? उस **मिथ्यात्व से रहित होकर,...** पर्दा छोड़ दिया। नहीं, मेरा सुख मुझमें है। मेरा स्वभाव सुखमय-आनन्दमय है। मेरा आनन्द कहीं नहीं होता। मेरे अतिरिक्त मेरा आनन्द नहीं होता और मैं आनन्द से खाली नहीं होता। आहाहा! ऐसी दृष्टि होने पर, उसे मिथ्यात्व का नाश होता है। भ्रमणा का भंग पड़ता है।

ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं,... लो। क्या कहा? वह पुण्य और पाप तथा शरीर इसका स्वरूप नहीं है। ज्ञान, जानना चिद्ब्रह्म, ज्ञानानन्द प्रभु, ऐसे ज्ञानस्वरूप को अन्तर से प्राप्त करता है, उसे धर्म कहा जाता है। बाकी सब बिना एक के रण में शोर मचाने जैसी बातें हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा! लोगों को कठिन लगता है। कभी सुना नहीं। सुना न हो, इसलिए कहे, ऐसा धर्म, भाई! धर्म तो ऐसा होता है, बापू! अनन्त काल से किया नहीं, सुना नहीं कि धर्म कैसा होता है? एक समय के धर्म से जन्म-मरण टलते हैं और आत्मा के आनन्द के स्वाद का वेदन आता है, उसे धर्म कहते हैं। दु:ख का स्वाद है, उसे छोड़कर आनन्द का स्वाद आवे, उसे धर्म कहते हैं। लालजीभाई! पैसेवाले सब दु:खी होंगे?

मुमुक्षु : दु:खी ही है। दु:ख का समुद्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा? तेरा पिता दु:खी कहाँ है?

मुमुक्षु : हाँ, वह भी दु:खी ही है। सम्यग्दर्शन के बिना सब दु:खी ही हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरा पिता तो हुण्डी का व्यापारी है।...

मुमुक्षु : जरा भी नहीं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस। राग-द्वेष तो करे न?

मुमुक्षु : राग-द्वेष करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, तब राग-द्वेष करे और दुःखी हो।

मुमुक्षु : हाँ, और संसार में भटके।

पूज्य गुरुदेवश्री : भटके। आहाहा!

ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं,... वस्तु तो यह है। समझ में आया? **उसका आश्रय लेते हैं;...** अब फिर स्वरूप को पाता है और उसका आश्रय करता है। उसकी उस वस्तु में बारम्बार लीन होता है। **वे साधक होते हुए...** आत्मा के आनन्द के साधनेवाले होते हुए... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की वीणा बजाते हुए। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान है, उसमें एकाग्र होकर शुद्धता बढ़ाते हुए **सिद्ध हो जाते हैं;...** परमात्मा हो जाते हैं। (जैसे) सोलह कला से चन्द्र खिले, वैसे आत्मा पूर्ण दशा को प्राप्त होता है। उसे फिर संसार परिभ्रमण नहीं होता। पद्धति यह है। इसके अतिरिक्त दूसरी पद्धति माने तो वे भ्रमणा में पड़े हैं। समझ में आया?

परन्तु जो ज्ञानमात्र-निज को प्राप्त नहीं करते,... आहाहा! क्या कहते हैं? जानना... जानना... जानना... ऐसा मेरा निज स्वभाव, ऐसे निज स्वभाव को जो अन्तर में प्राप्त नहीं करते। आहाहा! भाषा देखो! संक्षिप्त में कहा है। ज्ञानमात्र ऐसा निजभाव। जानना, ज्ञाता-दृष्टापने का जो भाव, वह निज भाव, ऐसा भान होना, वह निज भाव, उसे जो प्राप्त नहीं करते, स्वयं को। **ज्ञानमात्र-निज को...** ऐसी भाषा कहते हैं। क्या कहा यह? भाषा सादी है परन्तु इसके भाव बहुत ऊँचे हैं। **ज्ञानमात्र-निज को...** स्वयं तो ज्ञान जानने-देखनेमात्र स्वभाव है। उसका वह पुण्य-पाप का विकल्प और शरीर-फरीर उसका कोई स्वरूप है नहीं।

ज्ञानमात्र-निज को... भाव को **प्राप्त नहीं करते,...** अज्ञानी। **वे संसार में परिभ्रमण करते हैं।** उसके कारण चार गति में भटकता है। बहुत सरस बात थी। उल्टी-

सीधी दोनों थी। आहाहा! वस्तु तो यह है। महँगा लगे, सस्ता लगे परन्तु मार्ग यह है। सुमनभाई! दूसरा मार्ग नहीं होगा? बुद्धिवाले को दूसरा कोई मार्ग नहीं होगा?

मुमुक्षु : यह हो तो ही बुद्धि कहलाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब आठ-आठ हजार का वेतन लावे और बुद्धि नहीं? ... यह तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है। क्या बुद्धि से आता है? बुद्धिवाले तो बहुत होते हैं। बुद्धि के बारदान हों और महीने में पाँच-पाँच लाख पैदा करे। बुद्धि के बारदान। बारदान समझ में आया?

मुमुक्षु : बुद्धि का खोखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोखा। बुद्धि के खां हों तो महीने में दो हजार पैदा करना मुश्किल पड़ता है। पसीना उतरता है। वह कहाँ इसका है। वह तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है। यह तो पुरुषार्थ से आत्मधर्म होता है, जो अनन्त काल से किया नहीं और विपरीतता भी पुरुषार्थ से होती है, ऐसा कहते हैं। राग-द्वेष मेरे, पुण्य-पाप मेरे—यह मान्यता तो विपरीतता से अपने पुरुषार्थ से होती है। वहाँ कोई कर्म-फर्म नहीं आता। धर्म भी अपने स्वरूप की सावधानी करना, वह पुरुषार्थ से होता है। वह कहीं कर्म में मांडा और हो, ऐसा है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २६७

इस भूमिका का आश्रय करनेवाला जीव कैसा होता है सो अब कहते हैं:-

(वसंततिलका)

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां,
यो भावयत्यहरहः स्व-मिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः।।२६७।।

श्लोकार्थ : [यः] जो पुरुष, [स्याद्वाद-कौशल-सुनिश्चल-संयमाभ्यां] स्याद्वाद में प्रवीणता तथा (रागादिक अशुद्ध परिणति के त्यागरूप) सुनिश्चल संयम-इन दोनों के द्वारा [इह उपयुक्तः] अपने में उपयुक्त रहता हुआ (अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ) [अहः अहः स्वम् भावयति] प्रतिदिन अपने को भाता है (-निरन्तर अपने आत्मा की भावना करता है), [सः एकः] वही एक (पुरुष); [ज्ञान-क्रिया-नय-परस्पर-तीव्र-मैत्री-पात्रीकृतः] ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ, [इमाम् भूमिम् श्रयति] इस (ज्ञान मात्र निजभावमय) भूमिका का आश्रय करता है।

भावार्थ : जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुष को इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो क्रियानय को ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्म से सन्तुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो पुरुष अनेकान्तमय आत्मा के जानता है (अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है (-रागादिक अशुद्ध परिणति का त्याग करता है), और इस प्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिका का आश्रय करनेवाला है।

ज्ञाननय और क्रियानय के ग्रहण-त्याग का स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय संग्रह' ग्रन्थ के अन्त में कहा है, वहाँ से जानना चाहिए।।२६७।।

प्रवचन नं. ५७१, श्लोक-२६७ शनिवार, पोष शुक्ल १३
दिनांक - ०९-०१-१९७१

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां,
यो भावयत्यहरहः स्व-मिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः।।२६७।।

जो पुरुष, 'स्याद्वाद-कौशल-सुनिश्चल-संयमाभ्यां' स्याद्वाद में प्रवीणता... आत्मा नित्य है, अनित्य है; एक है, अनेक है इत्यादि स्वरूप का जाननेवाला प्रवीण होता है। यह पहला सम्यग्दर्शन कहा। वस्तु नित्य होने पर भी उसकी वर्तमान पर्याय—अवस्था पलटती है। वह पर्याय की क्षणिकता और नित्यता दोनों स्याद्वाद से सिद्ध होते हैं। कोई एकान्त नित्य ही कहे और एकान्त अनित्य कहे तो वह सिद्ध नहीं होता। त्रिकाली ज्ञायकभाव अपनी वस्तु है, स्याद्वाद से सिद्ध होती है। समझ में आया? नित्य है। द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य है। त्रिकाल द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है। वर्तमान बदलने की अपेक्षा की पर्यायदृष्टि से अनित्य है। दोनों वस्तु का स्वरूप है।

जो पुरुष स्याद्वाद में प्रवीण... द्रव्य से शुद्ध है और पर्याय से क्षणिक अवस्था में पलटती है। **तथा (रागादिक अशुद्ध परिणति के त्यागरूप)...** संयम लिया। वस्तु आनन्द और ज्ञान से तत्त्वरूप है, उसका ज्ञान होने से, सम्यग्दर्शन होने से, वह स्याद्वाद में प्रवीण हुआ कहलाता है। चतुर हुआ। मेरी शुद्ध अवस्था—पर्याय उसमें नहीं है, पर्याय में द्रव्य नहीं है। पर की बात यहाँ है ही नहीं। पर तो स्वतन्त्र काम करता है। वस्तु स्वयं जिसे आत्मा का हित करना है, उसे त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक ध्रुव के स्वरूप में निपुण होकर, एक समय की पर्याय उसमें नहीं है। पर्याय, पर्याय में है, वस्तु में नहीं। ऐसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन में निपुण हुआ। अशुद्ध रागादि परिणति का त्याग। अर्थात् अशुद्ध विकारी परिणाम का उसमें अभावरूप परिणमन है।

शुद्धस्वभाव नित्य है, ऐसी दृष्टि हुई, शुद्ध का परिणमन है और रागादि का अशुद्ध

परिणमन नहीं, इसका नाम संयम। समझ में आया? कोई कहे कि हमें शुद्ध परिणमन द्रव्य शुद्धि है परन्तु अशुद्ध परिणाम टले नहीं हैं तो यह बात सत्य नहीं है। वस्तु शुद्ध चैतन्यघन है, उसका ज्ञान और दृष्टि होने से, अस्तिरूप तो शुद्ध है, उसका परिणमन शुद्ध होता है, परन्तु उसी क्षण में अशुद्धता का त्याग न हो तो उसे शुद्धता का भान नहीं है। पण्डितजी! आहाहा! समझ में आया? भाई! यह मार्ग तो ऐसा अलौकिक है। जन्म-मरण के अन्त की बात है। कभी मोक्षदशा हुई नहीं। इस भाव के कारणरूप चैतन्य का गंज प्रभु आत्मा, अनन्त आनन्द और ज्ञान के स्वभाववाला तत्त्व, उसे पकड़ने से, उसमें एकाग्र होने से शुद्धता का धारावाही प्रवाह परिणमता है और शुद्धता के परिणमन के साथ अशुद्धता का परिणमन उसमें नहीं होता। समझ में आया इसमें? क्या इसमें समझना अब? देवजीभाई! ऐसा मार्ग है।

चैतन्य आनन्द और ज्ञान के स्वभाववाला ध्रुवतत्त्व, उसकी अन्तर सन्मुख दृष्टि होने से, उसकी शुद्धता की परिणति निर्मल होती है और उसी काल में उसे अशुद्धता के रागरूप परिणमन नहीं। धारा शुद्ध की है, अशुद्धता नहीं। जितना शुद्ध परिणमन है, उतना ही अशुद्ध परिणमन उसमें साथ नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तब उसे शुद्धपरिणमन होकर रागादि रहित का परिणमन हो, उसे संयम कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? यह कहीं बाहर से प्रगट हुई चीज़ नहीं है। वस्तु अन्तर्मुख है, अन्तर वस्तु है। कहते हैं, यह चैतन्य भगवान आत्मा अन्तर्मुख में परिणमने से, उसे बहिर्मुख की अशुद्ध परिणति वहाँ नहीं होती। समझ में आया? यहाँ तो ऐसा कहा, स्याद्वाद की निपुणता, अशुद्ध राग का त्याग। स्याद्वाद की निपुणता अर्थात् शुद्ध हूँ, ऐसा भान और अशुद्धता का अभाव, इसका नाम संयम। महाव्रतादि के विकल्प हैं, उनका अभाव, वह संयम, ऐसा कहते हैं।

(रागादिक अशुद्ध परिणति के त्यागरूप) सुनिश्चल संयम... जैसी वस्तु है, वैसी जहाँ दृढ़ता, ज्ञान और प्रतीति हुई, ऐसा ही उसका आश्रय लेकर अशुद्धता परिणति का त्याग होकर, सुनिश्चल हुआ। स्थिर... स्थिर... स्थिर... स्वरूप में स्थिर, ऐसी जो चारित्र अर्थात् संयमदशा। लो, यह संयम चारित्र। लोग कहते हैं कि ऐसा अन्दर से पचना मुश्किल पड़े। परन्तु मार्ग तो यह है, दूसरा करना क्या? सत्य की रीति और सत्य का प्रकार ही यह है। उसे दूसरा शिथिल करके असत् करना है? असत् तो अनादि से कर रहा है।

समाज के लिये कुछ हल्का चाहिए। अरे! भगवान! उसका स्वरूप है, उससे हल्का अर्थात् विपरीत, उल्टा करना, वह इसका स्वरूप है ? तो इसे कहे ऐसा बताओ कि राग की मन्दता क्रिया हो और उसके द्वारा धीरे-धीरे सत्य को प्राप्त करे। अरे! कभी नहीं प्राप्त करेगा, भाई! आहाहा!

सत् स्वरूप ही भगवान आत्मा का शुद्ध और पवित्र है। ऐसा ही सत् का सत्पना है। उस सत्पने का आश्रय लेकर, इसका अर्थ हुआ कि उतना असत्पने का आश्रय छूट गया है, उतनी अशुद्धता भी टल गयी है। आहाहा! शुद्धता का अनुभव होने से अशुद्ध का अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? अकेला अशुद्ध का अनुभव है, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! शुभभाव का वेदन भले हो। एकान्त से वह अशुद्धभाव का वेदन है, वह तो मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि वस्तु अशुद्ध नहीं है। आहाहा!

अपनी शरण में जाने से। ऊपर कहा था न ? ज्ञानमात्र ऐसे अपने को प्राप्त करने से और पाते नहीं, ऐसे इसमें दो ले लेना। आहाहा! चैतन्य का मार्ग प्रभु! दु:ख से मुक्त होने का, सुख की प्राप्ति का अपूर्व उपाय है, अपूर्व मार्ग है। उसे पहले श्रद्धा के पक्ष में, उसे लक्ष्य में लेना पड़ेगा। यह कहीं बातें या बोलने से या जानपना बाहर करने से कहीं प्राप्त हो, ऐसी चीज़ नहीं है। समझ में आया ? क्या हो ? जो चीज़ है, ऐसा ही सत्य हो और ऐसे सत्य की शरण ले तो वह सत्य प्रगट हो। राग की मन्दता की शरण ले तो वह तो अशुद्धता है और अशुद्धता की शरण में तो अशुद्धता ही प्रगट होती है और माने कि मुझे धर्म होता है तो वह तो मिथ्यात्व होता है। भारी कठिन काम, देवजीभाई! कृषिकार है। कानातलाब के किसान हैं।

मुमुक्षु : आत्मा है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा है न, आत्मा कब किसान था ? कणबी का अर्थ यह है कि कण रखकर बी भोगे, उसका नाम कणबी। आत्मा के आनन्द की जाति को रखकर आनन्द को भोगे। पण्डितजी! ऐसा बनारसीदास में है, हों! शास्त्र में तो बहुत बातें पड़ी हैं। ऐसी बनारसीदास ने व्याख्या की है।

मुमुक्षु : निज आत्मभोगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'कण राखी बीज भोगवे।' कण... कण। तत्त्व का कण रखकर आनन्द को भोगे। दृष्टि में ऐसा द्रव्यस्वभाव रखकर पर्याय में आनन्द को भोगे, उसे कणबी (किसान) कहते हैं। उसमें कहाँ वहाँ, बनिया भी ऐसा करे, वह कणबी। धर्म का व्यापारी वह कणबी। आहाहा! जिसकी खेती में आनन्द पके, अढळक आनन्द पके। आहाहा! पर से अत्यन्त उदास चीज़ है। राग से भी उदास। अन्त में तो यह कहा न? आहाहा!

ऐसा स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षित तत्त्व निर्मल है और उसमें मलिनता नहीं है, ऐसा जो स्याद्वाद का ज्ञान, वह तो ज्ञान और श्रद्धा हुई। पश्चात् शुद्धता का परिणमन होने से, अशुद्धता का त्याग वर्ते अर्थात् अशुद्धता का परिणमन नहीं, उसका नाम अशुद्धता का त्याग है। आहाहा! देखो! **(अशुद्ध परिणति के त्यागरूप)...** त्यागरूप। त्याग करना नहीं। इस शुद्धता के स्वभाव सन्मुख, स्वभाव का सागर भगवान आत्मा के सन्मुख देखने से, उसमें एकाकार होने से शुद्धता के परिणमन में अशुद्धता का त्याग हो जाता है। अशुद्धता की उत्पत्ति नहीं और अशुद्धता का परिणमन नहीं होता। आहाहा! कहो, समझ में आया?

भगवान तीर्थंकरदेव परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा है, उसमें दो भाग है। एक नित्य का भाग और एक अनित्य का भाग। नित्य ध्रुव है और उस नित्य ध्रुव में अनन्त आनन्द आदि शक्तियाँ हैं और उनकी अवस्था /हालत / दशा बदलती है। इन दो का वास्तविक ज्ञान करके। सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं होती। समझ में आया? रतिभाई! आहाहा! मार्ग ऐसा है।

सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप आत्मा का है। सत्... सत्... सत्... सत्... सत्। सत् का सत्यपना वह शुद्ध और आनन्द है। ऐसे आनन्द के भानवाला, आनन्दरूप परिणमते, होते हुए यह दया, दान, विकल्प के रागरूप न हो, इसका नाम सम्यग्ज्ञानसहित का संयम कहने में आता है। समझ में आया? भारी .... बात अभी पकड़ना मुश्किल पड़े। उसमें बैठे कहाँ से? अनन्त काल से भटकता है, अनन्त काल से। अपनी जाति में अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... पड़ी है। ऐसी शान्ति पर दृष्टि पड़ने से, कहते हैं कि यह सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है और सम्यग्ज्ञान होता है कि मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ। एक समय की पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता थोड़ी हो, तो वह मुझमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा अन्तर में सम्यक् सर्वज्ञ परमेश्वर ने, तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा कहा, वैसा आत्मा अन्दर शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो, जिसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। आहाहा! भगवान आत्मा एकरूप वस्तु, उसकी शक्ति अर्थात् गुण अर्थात् स्वभाव उसमें अनन्त है। आहाहा! वह सत्प्रभु आत्मा, उसका सत्त्व अनन्त शक्तिवाला है। उसके स्वभाव में बेहद अपरिमित आनन्द और ज्ञान आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। उसकी अन्तर्दृष्टि अनुभव होने से, जो शुद्धता दशा में प्रगट हो, वह धर्म है। और वह शुद्धता परिणमने से अशुद्धता का परिणमन रुक जाता है। अर्थात् कि वहाँ अधर्म का परिणमन नहीं होता। समझ में आया?

(रागादिक अशुद्ध परिणति के त्यागरूप) सुनिश्चल संयम... उसे संयम कहते हैं। बाहर से वस्त्र बदले और नग्न होकर घूमे या स्त्री-पुत्र न हो, इसलिए संयमी है—ऐसा नहीं है, भाई! अन्तर भगवान आत्मा परमानन्द का धाम है, उसे अवलम्ब कर जो शुद्धता अन्दर प्रगट हो और उसमें अशुद्धता का अभाव हो, उसका नाम संयम और उसका नाम सम्यग्दर्शनसहित का चारित्र है। समझ में आया? आहाहा! चारित्र अर्थात् चरना। भगवान आनन्दधाम है। भगवान कौन सा? यह भगवान। भगवान हो गये, वे तो उनके हुए, उसमें इसे क्या है? समझ में आया? आहाहा!

भग अर्थात् आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी का जिसका रूप है, ऐसा भगवान आत्मा। आहाहा! अन्तर में अपने स्वरूप का अपेक्षित ज्ञान से भान करता है, अशुद्धता नहीं, शुद्धता है इत्यादि। उसे फिर स्थिर होने से, स्वरूप में अन्दर आनन्द में स्थिर होने से, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में स्थिर होने से उसे दुःख का, अशुद्धता का परिणमन टलता है। उसे यहाँ चारित्र और संयम कहा जाता है। वस्तु ऐसी कठिन है। जगत अनादि से चौरासी के अवतार में भटक रहा है। जैन का साधु भी अनन्त बार हुआ परन्तु मिथ्यादृष्टि राग को धर्म माना और क्रिया को धर्म माना। भगवान अन्दर आनन्दकन्द है और राग से भिन्न है, उसके भान का स्पर्श किया नहीं, अनुभव किया नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, भगवान! हे आत्मा! तेरी खान में तो आनन्द और शुद्धता पड़ी है न, प्रभु! आहाहा! उस तेरी प्रभुता के सामर्थ्य को अन्दर सम्हाल, अन्तर्मुख देख, अन्तर्मुख जा। जहाँ पूरा निधान पड़ा है। आहाहा! क्या करना इसमें? लोगों को सूझ नहीं पड़ती। अनादि

अज्ञान से भटक रहा है न ? कहते हैं कि अन्दर के स्वरूप में जाने से शान्ति की, आनन्द की, वीतरागी परिणति अर्थात् दशा होती है, उसमें राग के अभावरूप परिणमे, इसका नाम सम्यग्दर्शन और चारित्र है और वह मोक्ष का मार्ग है। बाकी सब जगत में भटकने की जगत की बातें हैं। आहाहा!

अपने में उपयुक्त रहता हुआ... देखो! **(अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ)...** राग और पुण्य की क्रिया में वर्तमान ज्ञान का व्यापार जो है, वह अधर्म है। वह ज्ञान का व्यापार अन्दर जो ज्ञान की व्यक्त प्रगट दशा है, उघाड़ (है), उसे अन्तर में जोड़ता हुआ। आहाहा! **अपने में उपयुक्त रहता हुआ...** देखो! **'इह उपयुक्तः'** आत्मा में। शुद्ध चैतन्य के स्वरूप को जानता हुआ, अन्तर में उपयुक्तरूप रहता हुआ **(ज्ञानस्वरूप आत्मा में लगाता हुआ) 'अहः अहः स्वम् भावयति' 'अहः अहः'** अर्थात् **प्रतिदिन अपने को भाता है...** आहाहा! निरन्तर धर्मी की दृष्टि वीतराग परमात्मा के घर में जब आया, तब उसके अन्तर स्वरूप सन्मुख की निरन्तर ज्ञानी की दृष्टि होती है। समझ में आया ? भारी कठिन काम! **'अहः अहः'** अर्थात् दिन प्रतिदिन अपने को पाता है। **(–निरन्तर अपने आत्मा की भावना करता है),...** शुद्ध और आनन्दस्वरूप मेरा, उसमें एकाग्रता प्रतिदिन **प्रतिदिन करता है...** अथवा सदा धर्मी की दृष्टि तो अखण्ड आनन्दकन्द ऐसा प्रभु आत्मा, उसके ऊपर निरन्तर उसकी द्रव्यदृष्टि रहती है। ज्ञानी की, धर्मी की दृष्टि व्यवहार के विकल्प पर नहीं होती। उसका ज्ञान करे परन्तु दृष्टि वहाँ नहीं होती। समझ में आया ? आहाहा! मानो मेरुपर्वत उठाना हो, ऐसा लगे। क्यों, देवजीभाई!

मुमुक्षु : इसके घर की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : .... हमारे यहाँ एक बार मोदी आये थे। कभी सुना न हो, वहाँ कहते उसमें है। धूल में भी नहीं कहीं, कहा। किसी की पुस्तक पढ़ते हैं न ?

सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी ने कहा, वह कथन अन्यत्र कहीं तीन काल में नहीं हो सकता। समझ में आया ? तालाब के किनारे के और मध्य के पानी ऊपर से समान लगता है, परन्तु उसका माप करने पर किनारे के पानी की अपेक्षा मध्य का पानी बहुत गहरा होता है। ऊपर से देखने पर समान लगता है। अन्दर में माप करने

से बहुत गहराई लगती है। इसी प्रकार वीतराग और अज्ञानी कहे उसमें ऊपर की बात कितनी ही समान लगे। शुभराग की क्रिया, यह क्रिया, वह क्रिया, यह करना। देवजीभाई! आहाहा! अन्दर में माप करने जाये सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा, और एक-एक आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण, एक-एक गुण का अनन्त सामर्थ्य और एक-एक गुण की एक समय की अवस्था। आहाहा! हिम्मतभाई! आहाहा! भाई! तूने तेरा किया नहीं, हों! उसने मन को मनाया है। आहाहा! वह भी कुछ किया नहीं, हों! ... वहाँ अपने दुकान में बैठे थे, देखो! अभी यहाँ सुनते हैं। मन्दिर में पूजा करे, भक्ति करे, यह कुछ व्रत पालन करे, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करे। दूसरे की अपेक्षा तो कुछ करते हैं न!

मुमुक्षु : आगे तो है ही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी आगे नहीं है। समझ में आया? यह तो सब विकल्प और राग की वृत्ति है। आहाहा! यह तो बहिर्मुख की वृत्तियों का उत्थान राग है। आत्मा नहीं, आत्मा का धर्म नहीं।

मुमुक्षु : ऐसा करते-करते होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहर करते, लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आवे। सुमनभई! ऐसा होगा? नहीं आती होगी? लहसुन का ढोकला ठीक से खाये। तेल में डालकर, घी में डालकर यहाँ तक खाये। ओ..उ.. डकार आया कस्तूरी का? धूल में भी नहीं आया होगा, सुन न!

मुमुक्षु : परन्तु गरीब मनुष्य को लहसुन का डकार भी कस्तूरी का डकार कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो दूसरे प्रकार से। पैसेवाले को कस्तूरी मिले और गरीब को न मिले, तब उसे लहसुन को कस्तूरी कहा जाये ऐसा। यह तो अभी कोई था न! दूसरी कोई दवा थी। अभ्रक की बात थी। पैसेवाले को अभ्रक और दूसरे को कोई दूसरी चीज़। कोई वैद्य कहते थे। अपने सुना हो। ऐसी ही वस्तु काम करे। अभ्रक करता है ... ऐसा ही काम कोई चीज़ कही साधारण। वह तो पैसेवाले को अभ्रक बताया जाये। गरीब मनुष्य को कहे, इसकी कोई चीज़ भूल जाये। कोई बात करता है। याद नहीं। हरिभाई आये थे, वे कहते थे। वैद्य, वैद्य है न? आहाहा! अरे! उसमें धूल में भी नहीं, सुन न। तेरे कस्तूरा में क्या है और लहसुन में क्या है? सुमनभाई!

भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानानन्द का सागर प्रभु! उसमें प्रवेश करने के लिये अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। अनन्त काल में कोई सेकेण्ड मात्र भी इस बात को इसने रुचि और काम नहीं लिया। समझ में आया? बराबर होगा यह?

मुमुक्षु : बराबर ही है, उसमें शंका कैसी? शंका बिना की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाह! ऐई! सुमनभाई! बारह वर्ष का लड़का है यह।

मुमुक्षु : लड़का कहाँ, बड़ा आत्मा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शंका बिना की बात है। ऐई! लालजीभाई! तुम्हारे ऐसा लड़का पका है। अच्छी बात है? कहो, समझ में आया? ऐसे धारा प्रवाह बोलता है वीर्य से। ऐं...ऐं... ऐसे बनिया वीर्यहीन की तरह कुछ नहीं। ऐसा होना चाहिए, ऐसा होगा, अब चल ना मेरे डरपोक। ऐई! सुमनभाई! ऐसा है।

भगवान आत्मा विकल्प का राग, दया, दान, व्रत के विकल्प बिना की चीज़ है। ऐसी चीज़ के अन्तर में ज्ञान और भान बिना इसे तीन काल में कहीं धर्म का एक भी अंश प्रगट नहीं होता। समझ में आया? बड़े विद्वान और क्षयोपशम का माथा घूमा हो। ज्ञान और क्रिया दोनों रण में शोर मचाने जैसी हो। वस्तु भगवन आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा हुए, जो सर्वज्ञ वीतराग, वे कहाँ से आये? सर्वज्ञपना और वीतरागपना आया कहाँ से? वह चीज़ कहीं बाहर से आती है? सर्वज्ञ और वीतराग तो इसका स्वभाव है।

रात्रि में जरा कहा था। तुम थे न? वजुभाई नहीं थे। तीन बोल कहे थे। देखो! भाई! न्याय से समझो पहले कि भगवान अरिहन्त तीर्थंकर सर्वज्ञ और वीतराग हुए। एक समय में तीन काल का ज्ञान, और वीतराग, वह तो दशा है। वह दशा अनादि काल की अज्ञान में नहीं थी। अब हुई, वह आयी कहाँ से? वस्तु—आत्मा में सर्वज्ञ और वीतरागभाव पड़ा है। वह वीतराग विज्ञानघन ही आत्मा है। खबर नहीं होती। यह संसारी और स्त्री, पुत्र और पैसावाला। वस्तु वीतराग विज्ञानघन है। शिवकार और शिवरूप आता है न? इसके ऊपर से बात निकाली थी। वीतराग विज्ञान।

वीतराग विज्ञान के तीन प्रकार रात्रि में किये थे, कहे थे। एक तो आत्मा स्वयं अपना त्रिकाली स्वभाव वीतराग विज्ञान है। रागरहित निर्मल ऐसा ज्ञान का कन्द प्रभु वीतराग

विज्ञान का घन ही आत्मा है। उसका आश्रय लेकर, पहले यह सम्यग्दर्शन और अशुद्धता के त्यागरूप परिणमन, यह भी वीतरागी विज्ञान की ही दशा है। परन्तु यह वीतरागी विज्ञानदशा अपूर्ण है। उसे यहाँ मोक्षमार्ग और साधक कहते हैं। और वह वीतराग विज्ञान जैसा पूर्ण है, वैसी दशा में पूर्ण प्रगट हो जाये, उसे अरिहन्त और सिद्ध कहते हैं। समझ में आया? इसे इसकी खबर नहीं होती। णमो अरिहंताणं कहा करे। सवेरे से शाम तक रटा करे। णमो सिद्धाणं। अरिहंत किसे कहना और सिद्ध किसे कहना? और वह दशा हुई है, वह कहाँ से आयी? समझ में आया? तीन वीतराग विज्ञान हुए। रात्रि में तो नहीं आते, नहीं?

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग, वीतराग विज्ञानपने की पर्याय से परिणमित हुए। उस परिणमन की पूर्ण पर्याय का नाम परमात्मा, उसका नाम अरिहन्त और उसका नाम सिद्ध है। वह दशा पहले नहीं थी। वे भी संसार में भटकते थे। नहीं थी, अर्थात् जो अज्ञान था, उसका नाश करके प्रगट की। तो वह प्रगट की, कहाँ से आयी? वस्तु में वीतराग विज्ञानघन शक्ति है, उसमें से आती है। और वह आने से पहले, पूर्ण वीतराग विज्ञान होने से पहले, वीतराग विज्ञानघन जो आत्मा है, उसका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतराग विज्ञान की दशा, साधकपने की हो, वह मोक्षमार्ग है। वीतराग विज्ञान आत्मा, वीतराग विज्ञान पूर्ण दशा सिद्ध, वीतराग विज्ञान की परिणति, वह मोक्ष का मार्ग। समझ में आया? अरे! भारी बात, भाई! ऐसी बात यह जैन मार्ग में होगी? जैन में तो ऐसा, भाई! यह यात्रा करना, कन्दमूल नहीं खाना। ऐई! रतिभाई! हरितकाय नहीं खाना, छह परबी पालना। ब्रह्मचर्य छह परबी पालना, एकेन्द्रिय को नहीं मारना, तसुतरी करणेन ... अप्पाणं वोसरामी—आत्मा को वोसराना। कौन सा आत्मा और क्या वोसराना? कुछ खबर बिना? समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा आनन्द का धाम भगवान है, भाई! तुझे खबर नहीं। यह आनन्द अतीन्द्रियरूप प्रगट होता है, वह कहाँ से आता है? अन्दर में है, उसमें से आता है। कुएँ में है, वह हौज में आता है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा... कहते हैं, अपने उपयोग वीतराग विज्ञान का घन अनादि-अनन्त है। ऐसा जो शुद्ध तत्त्व भगवान ज्ञायकभाव, उसमें उपयोग देकर स्थिर होकर रहता है, उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। समझ में आया? वीतराग भगवान ने ऐसा कहा है।

प्रतिदिन अपने को... निरन्तर ध्रुव... ध्रुव को ध्येय में लेकर... श्रद्धा, ज्ञान का ध्येय तो त्रिकाली द्रव्य के ऊपर ही होता है और उसमें विशेष एकाग्र होने पर उसे संयम, चारित्र, अरागी, वीतरागी दशा प्रगट होती है, उसे संयम और चारित्र कहने में आता है। समझ में आया? आहाहा! वह एक ही पुरुष। **वही एक (पुरुष);...** ऐसा कहते हैं। वही एक पुरुष अर्थात्? जिसे ऐसा आत्मा परम आनन्द का धाम, प्रभु! सर्वज्ञ परमेश्वर ने केवली ने कहा वैसा आत्मा, ऐसा आत्मा अन्यमति में किसी जगह भगवान ने कहा वैसा नहीं हो सकता। समझ में आया? ऐसे सर्वज्ञ प्रभु ने...

एक बार कहा था, नहीं? 'प्रभु तुम जाणग रीति सौ जग देखता, प्रभु तुम जाणग रीति सौ जग देखता हो लाल।' भगवान महाविदेह में विराजते हैं। सीमंधर भगवान आदि बीस विहरमान परमात्मा तीर्थंकर केवली की स्तुति करते (कहते है), 'प्रभु तुम जाणग रीति सौ जग देखता...' हे नाथ! आप केवलज्ञानरूप से तीन काल और तीन लोक को देखते हों। 'निज सत्ता से शुद्ध सबको पेखता हो लाल।' हे प्रभु! आपने केवलज्ञान में तीन काल, तीन लोक देखे, उसमें हमारे आत्मा को आप ऐसा देखते हो, हमारी सत्ता अस्तित्व से शुद्ध है। आहाहा! पुण्य और पाप के विकल्प वह आत्मा नहीं। समझ में आया? आहाहा!

'निज सत्ता से शुद्ध...' भगवान पवित्र आनन्दकन्द आत्मा को आप आत्मारूप से देखते हो। समझ में आया? आहाहा! ऐसे आत्मा की अन्तर दृष्टि करने से, जैसा भगवान देखते हैं, वैसा स्वयं अपने ज्ञान के उपयोग में अन्तर में देखे और श्रद्धा करके स्थिर हो, तब उसे धर्म हो और तब उसने आत्मा को जाना और मोक्ष का मार्ग हुआ, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ,... आहाहा! क्या कहते हैं? **ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ,...** आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चिद्घन ज्ञान का घन, ऐसा ज्ञान अनुभव में किया, तब उसे ज्ञाननय कहने में आता है। **और क्रियानय...** अर्थात् कि राग के परिणाम शुभाशुभराग है, उसका अभाव, वह क्रियानय। ...भाई! देखो! यह किसान है। सरस बात है न? कृषिकार-कृषिकार, कानातलाब के हैं। वहाँ ६० हजार का मन्दिर बनाया है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, वस्तु भगवान आत्मा; यह रजकण-रजकण यह तो मिट्टी-धूल है। यह तो अजीवतत्त्वरूप अजीव रहे हैं। यह अजीव के होकर रहे। यह कहीं जीव के होकर रहे हैं? अजीव होकर रहे हुए, वे जीव होकर कभी नहीं रहते। आहाहा! तथा पुण्य और पाप के भाव जो होते हैं, वे आस्रवतत्त्व होकर रहे, वे कभी आत्मतत्त्व होकर नहीं रह सकते। समझ में आया? आत्मतत्त्वरूप से रहा हुआ जो स्वरूप, वह तो ज्ञान और आनन्द का धाम, प्रभु! उसका ज्ञान करके, श्रद्धा करके, इसका नाम ज्ञाननय। तथा क्रियानय—पुण्य और पाप के विकल्प से रहित, स्वरूप की स्थिरता की रमणता को क्रियानय कहा जाता है।

कुछ समझ में आया? कुछ समझ में आया—ऐसा कहा जाता है न? सब कहाँ समझ में आये? समझ में आये तो निहाल हो जाये। यह तो अभी क्या कहा जाता है, इसकी गन्ध आती है या नहीं? ऐसा। आहाहा! अनन्त काल का भटका हुआ, इसके मार्ग की पद्धति क्या है? इसे कभी ख्याल में नहीं आयी। साधु हुआ, ग्यारह अंग पढ़ा, शास्त्र पढ़ा, हजारों-लाखों लोगों को मानो ऐसे रिझाया। उसमें धूल भी कुछ नहीं, सुन न। बाहर में क्या था?

चैतन्य प्रभु! अपने पवित्र स्वरूप का ज्ञान—श्रद्धा, इसका नाम ज्ञान का नय और उसमें राग के अभाव की स्थिरता, वह क्रियानय। दोनों की तीव्र मैत्री। दो की मैत्री हुई। स्वरूप भगवान आत्मा उसके स्वरूप का भान, अन्दर अनुभव और राग के अभाव की स्थिरता, दो की हुई मैत्री। उस मैत्री के पात्ररूप हुआ। वापस भाषा यह है। दो की एकता का पात्ररूप हुआ। उसकी दशा में ज्ञान और आनन्द का परिणमन है। अशुद्धता के परिणमनरहित हुआ। **'इमाम् भूमिम् श्रयति' इस (ज्ञान मात्र निजभावमय) भूमिका का आश्रय करता है।** आश्रय तो ज्ञान त्रिकाल का है। परन्तु उस परिणति का आश्रय करता है। राग का आश्रय नहीं करता, परिणति का (आश्रय) करता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? क्या यह वह परिणति क्या? आश्रय करे। अटपटा जैसा लगे। सुना न हो, उसे तो ऐसा ग्रीक-लेटिन जैसा लगे। अरे! भगवान! तेरा मार्ग ही ऐसा है, भाई! तुझे खबर नहीं। इसे खबर नहीं, इसलिए दूसरे प्रकार से करने जाये तो प्राप्त होगा?

ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर... देखो! अकेली राग की मन्दता करे और

ज्ञान सच्चा न हो तो भी संयम नहीं होता और अकेला ज्ञान करे और स्वरूप की स्थिरता न करे तो संयम नहीं होता। समझ में आया? **तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ, 'इमाम् भूमिम् श्रयति' इस (ज्ञान मात्र निजभाव)...** भगवान चैतन्य ब्रह्म, परमात्मा अपना जो स्वरूप कहते हैं, वह तो ज्ञानमय चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर है। चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर, ऐसा भगवान आत्मा, उसका जो आश्रय करता है, वह अल्प काल में मुक्ति को पाता है। अन्तिम गाथायें हैं न? कहो, हिम्मतभाई! आहाहा!

भावार्थ – जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है,... अर्थात् क्या कहते हैं? जो यथार्थ सम्यग्ज्ञान नहीं करता और बाह्य ज्ञान का जानपना करके क्रियानय को छोड़े, राग की मन्दता को छोड़ता है **उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुष को इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है।** जिसे आत्मा आनन्द प्रभु है, ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ नहीं, ऐसा अज्ञानी प्रमादी शुभभाव को भी छोड़ता है, वह तो प्रमादी, स्वच्छन्दी पुरुष है। उसे **इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है।** उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान ऐसी निर्मल ज्ञानदशा, धर्म की दशा की भूमि उसे प्राप्त नहीं हुई।

जो क्रियानय को ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्म... करता है। यह व्रत पाले, दया, दान, व्रत, अहिंसा, सत्य, संयम बाहर की क्रिया, यह सब शुभभाव है, यह धर्म नहीं। आहाहा! जो कुछ आत्मा के स्वरूप की शुद्धता का भान नहीं, आनन्द का अनुभव नहीं, उसे जानता नहीं और **(व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्म से सन्तुष्ट...** है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन किया, इसलिए हमारे धर्म हो गया। धूल भी नहीं। सुन न अब। ऐसा तो अभव्य भी करता है। समझ में आया? वह तो पुण्यकर्म है, धर्मकर्म नहीं, धर्म का कार्य नहीं। आहाहा! लोग चिल्लाहट मचा जाते हैं न?

मुमुक्षु : इसमें चिल्लाहट मचा जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें चिल्लाहट करे।

मुमुक्षु : मैत्री कही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैत्री किसकी कही? व्यवहार से मैत्री कही। निश्चय से तो

उसके अभाव की मैत्री कही, तथापि व्यवहार से कहा जाता है। वह तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान अनुभव हुआ हो, कि राग का कर्तव्य मेरा नहीं है, ऐसा भान हुआ हो, वहाँ ऐसे व्रत-नियम के विकल्प होवे तो उसे शुभ और व्यवहार कहकर निमित्त कहा जाता है। व्यवहार से मैत्री है, ऐसा कहा जाता है। पण्डितजी! अरे रे! व्रत पालना, समिति, देखकर चलना, निर्दोष आहार-पानी लेना, यह सब शुभकर्म है। यह तो पुण्यभाव है, यह विकल्प है, राग है, वृत्ति का उत्थान है। यह चैतन्य नहीं। आहाहा! इसमें सन्तुष्ट होता है। हम कुछ करते हैं, धर्म करते हैं, (ऐसा सन्तुष्ट होता है)।

ऐसे **शुभ कर्म से सन्तुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है।** उसे भी आत्मा राग की क्रियारहित है, ऐसा जिसका आनन्द का धाम स्वरूप है, उसे वह प्राप्त हुआ नहीं। वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? दोनों को मिथ्यादृष्टि सिद्ध किया। एक तो आत्मा को जानपनामात्र उघाड़ जानकर, परन्तु अन्दर स्वरूप का अनुभव नहीं करता और शुभभाव को छोड़ता है और अशुभभाव में स्वच्छन्दी होता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। और एक शुभभाव में सन्तोष मानता है। व्रत, नियम, तप, अपवास, ओळी, एकासन यह सब विकल्प। ओळी और उपधान। यह तो सब विकल्प राग की क्रिया है, धर्म नहीं। धर्म की क्रिया तो अन्दर में रागरहित स्थिर हो, वह क्रिया है। समझ में आया? व्रत, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन करे, वह तो शुभभाव है। ब्रह्मानन्द आत्मा ब्रह्मानन्दस्वरूप है, उसमें रमें वह ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य की तो खबर नहीं। यह बाहर के शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया तो हो गया ब्रह्मचारी। उसमें सन्तोष मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी! बराबर है? परन्तु समाज को भारी कठिन पड़े, हों!

मुमुक्षु : समाज के लिये ही यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो समाज के लिये है। यह किसके लिये कहा है? समाज के लिये यह पंचम काल के मुनि पंचम काल के जीव को कहते हैं। जीवसमास, सब जीव को कहते हैं, हे भाई! तेरा भगवान आत्मा पूर्णानन्द और ज्ञान से भरपूर तत्त्व को अनुभव में न ले और अकेले व्रत, नियम की क्रिया में तू जुड़ गया, (तू) मिथ्यादृष्टि है और जानपने

के उघाड़ के नाम से, अन्तर के अनुभव की दृष्टि न करे और अशुभभाव को सेवन करे, वह भी स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया?

इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। देखो! क्या कहते हैं? यह व्रत और अपवास, तप, यह तो विकल्प-वृत्ति की लगनी, राग की लगनी है। वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। वह कहीं संवर-निर्जरा धर्म नहीं है। ऐसे जीव को निष्कर्म। **पुरुष को भी...** ऐसा कहा न? वह ऊपर ज्ञाननयवाला लिया है न इसलिए। निष्कर्म अवस्था। यह तो कहे निष्कर्म अवस्था तो आगे है। परन्तु यहाँ पहले सुन तो सही। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा निष्कर्म दशा को प्राप्त होता है। भले गृहस्थाश्रम में हो। भरत चक्रवर्ती को ९६ हजार रानियाँ थीं। ९६ करोड़ सैनिक थे। भगवान के पुत्र-ऋषभदेव प्रभु के पुत्र, लो। परन्तु घर में वैरागी, उदास। मेरी दशा आनन्द और रागरहित की वह मेरी दशा है। राग, वह मैं नहीं, स्त्री मैं नहीं। राग वह मैं नहीं और राग में मैं नहीं। राग में और राग में मैं नहीं। आहाहा!

निष्कर्म दशा। अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्तियाँ राग हैं, उनसे आत्मा की दशा और भूमिका। निष्कर्म रागरहित की दशा, उसे वे प्राप्त नहीं करते। राग की क्रिया में रहनेवाले प्राप्त नहीं करते और जानपने के नाम से शुभराग को छोड़कर अशुभ में वर्तते हैं, वे भी ऐसी भूमिका को प्राप्त नहीं कर सकते। **जो पुरुष अनेकान्तमय आत्मा को जानता है...** देखो! अनेकान्तमय। अनेक अन्त अर्थात् गुण जिसमें है। शुद्ध ज्ञान, दर्शन, आनन्द उसमें है। अशुद्धता के पुण्य-पाप के परिणाम उसमें नहीं है। अरे! भारी बातें, भाई! पुण्य-पाप तो दसवें गुणस्थान में राग छूटता है। अरे! भगवान! सुन न भाई! रागरहित आत्मा का अनुभव हुए बिना तो सम्यग्दर्शन नहीं है। फिर राग हो तो उतनी चारित्र की कमी है, उतना। समझ में आया? वह नहीं आता? संयम की चटाचटी आता है न? 'लेश न संयम' छहढाला में। 'सुरनाथ जजे हैं' यह उसमें आता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह उसमें आता है। मूल तो समयसार नाटक है, उसमें ही आता है। यहाँ है, देखो! 'चरित मोहवश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजे हैं।' जिसे आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्तिरहित अनुभव में सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ, कहते हैं कि उसे

कदाचित् संयम न हो, स्थिरता आयी न हो तो भी 'सुरनाथ जजे हैं' इसमें बड़े अक्षर से लिखा है, हों! उसमें ऐसा लिखा है। समयसार नाटक। इन्द्र भी उसे पूजते हैं। तब वे कहते हैं, यह खोटा है। परन्तु समझ को, बहुमान देते हैं, उसमें कहते हैं। यह और उसमें से निकाले। इन्द्र क्षायिक समकिती थे और वे समकिती को पूजे? सुन न! बहुमान देते हैं कि ओहो! धन्य अवतार! सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा की दृष्टि का अनुभव, राग बिना की दशा का अनुभव। आहाहा! साधर्मी है।

अनेकान्तमय आत्मा के जानता है (अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है... देखो! राग, पुण्य-पाप की अशुद्ध परिणति का त्याग करता है। यह कथन है। त्याग होता है। स्वरूप में रमने से उसे अशुद्ध परिणाम की उत्पत्ति नहीं होती। उसे यहाँ संयम और चारित्र कहा जाता है। वह चारित्र आत्मा की वीतरागी पर्याय चारित्र है। समझ में आया? **इस प्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है,...** जिसने ज्ञान और क्रिया अर्थात् राग के अभाव की परस्पर तीव्र मैत्री साधी है। आहाहा! ऐसा कि संयम साथ में प्रगट हुआ है। मोक्ष के मार्ग में दर्शन-ज्ञान तो हुआ, साथ में संयम हुआ तो मैत्री हो गयी। अल्प काल में उसे मुक्ति होगी, अरिहन्त होकर सिद्ध होगा। यह उसकी पद्धति है। यह तो भाई! बहुत कठिन लगे, एक व्यक्ति कहता था। पहले तो यही कहते, रामजीभाई कहते वहाँ, (संवत्) १९८६ के वर्ष में। रामजी हंसराज कामाणी। अमरेली का १९८६ का चातुर्मास था न? तब तो दस लाख थे। तब पैसे बहुत नहीं थे। अब दो-ढाई करोड़ हो गये।... यह तो अंक गिने। धूल वहाँ कहाँ इसके बाप की है? पैसा तो जड़ है। क्यों, बराबर होगा, सुमनभाई? आहाहा! जड़ तो अजीव है, मिट्टी है, धूल है। यह शरीर मिट्टी है न! जब पकाऊ हो, तब लोग नहीं कहते कि मेरी मिट्टी पकाऊ है। यह तो मिट्टी है। यह मिट्टी है, यह आत्मा है? मिट्टी-धूल है।

मुमुक्षु : यह तो ठीक पड़े तब मिट्टी कहे, ठीक पड़े तब जीव कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गहल-पागल को क्या है? पागल तो घड़ीक में स्त्री को स्त्री कहे, स्त्री को माँ कहे। वस्त्र समान पहनकर। पागल को क्या भान है? आहाहा!

परमेश्वर तो कहते हैं, जिसे परद्रव्य मेरे हैं और परद्रव्य में मैं हूँ, और परद्रव्य की

क्रिया को मैं कर सकता हूँ, सुधार सकता हूँ, वह मिथ्यादृष्टि है। वह जैन को नहीं मानता। जैन परमेश्वर को नहीं मानता। क्योंकि जैन परमेश्वर ने तो ऐसा कहा है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी क्रिया करने में समर्थ है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का करे, यह तीन काल में नहीं होता। भगवान ने ऐसा कहा और माने दूसरा। भगवान को मानता नहीं और आत्मा को भी नहीं मानता। समझ में आया?

वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिका का आश्रय करनेवाला है। आहाहा! एक कड़ी में बहुत रच दिया है। आहाहा! उसकी पर्याय बदलती है। धर्मी की निर्मल दशा बदलती-बदलती पूर्णता को प्राप्त होती है। पर्याय क्या, इसका भान नहीं होता; गुण क्या, इसका भान नहीं होता। आहाहा! जो द्रव्य, गुण, और पर्याय, वह तो जैनदर्शन का अभी पहला एकड़ा है।

आज कोई आया था, उसने पूछा था कि यह वर्ष किसे हो? कहाँ गये, नहीं आये? खुशालभाई के कोई आये थे, पुत्र के पुत्र। कोठारी। लड़के आये थे। मैंने कहा यह वर्ष शरीर को हो या आत्मा को? तो कहे आत्मा को। यह वर्ष वह शरीर और आत्मा। उसे तो ऐसा लगता था, हें! महाराज! आपको ८१ वर्ष हुए? उसे ऐसा लगता था। कोमल शरीर लगे और ८१ वर्ष! भाई! ८१ क्या ८२वाँ वर्ष अभी वैशाख शुक्ल दूज को लगेगा। ८०+२। कहा यह किसे होता है? आत्मा को या शरीर को? पहले तो आत्मा को कहा। ऐई! नटुभाई! आहाहा!

यह ज्ञानमात्र निजभाव। भगवान आत्मा आनन्द का नाथ और ज्ञानस्वरूप जो परमेश्वर ने कहा, ऐसी दशा को प्राप्त होकर, आश्रय करके मुक्ति पाता है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५७२, श्लोक-२६८-२६९ रविवार, पोष शुक्ल १४
दिनांक - १०-०१-१९७१

२६७ श्लोक ऊपर आया। उपोद्घात। जो पुरुष। रात्रि में कहा था न ज्ञाननय और क्रियानय? अर्थात् क्या? आत्मा के स्वभाव में तो अकेला अमृत और ज्ञान ही भरा है। ऐसी अन्तर ज्ञानदृष्टि करने से अथवा द्रव्य और पर्याय जैसा है, वैसा उसे जानने से स्याद्वाद का ज्ञाननय होता है और उसमें स्थिर होने से पुण्य-पाप के अशुद्ध रागादि के परिणमन का अभाव होता है। ऐसा ज्ञाननय और क्रियानय। समझ में आया? वस्तु है, वह अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द की वह तो खान है। ऐसी चीज़ का ज्ञान करने से, उसे ज्ञाननय कहा जाता है और रागादि की परिणति का अभाव करने से उसे संयम की क्रिया होती है। लो, यह मार्ग बहुत संक्षिप्त में (कहा)। समझ में आया?

ज्ञाननय और क्रियानय के ग्रहण-त्याग का... ज्ञाननय का ग्रहण और क्रिया अर्थात् राग का त्याग। उसका **स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय संग्रह' ग्रन्थ के अन्त में कहा है, वहाँ से जानना चाहिए।** विशेष जानना हो तो वहाँ से जानना, ऐसा कहते हैं। **इस प्रकार जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है,...** सूक्ष्म बात, सूक्ष्म तो है न, भाई! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। ऐसा उसका स्वभाव अपार-अपार अपरिमित स्वभाव है और उसका आनन्द अतीन्द्रियरस स्वभाव है। उसके अन्तर में एकाग्र होने से जो सम्यग्दर्शन—धर्म होता है और रागादि का अभाव होने से उसे चारित्र होता है। आहाहा! यह बात है। ऐसी निर्मल दशा का जो आश्रय करता है। आश्रय करे का अर्थ परिणमता है। समझ में आया? ऐसा जो आत्मा इस भूमिका का आश्रय करता है। भगवान चैतन्य ध्रुव अविनाशी स्वभाव का आश्रय करता है, यह बात एक ओर परन्तु अन्तर में निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति करता है, वह आश्रय करता है। समझ में आया? ऐसे आत्मा को धर्म होता है। अरे! और उसे अनन्त चतुष्टमय आत्मा की पर्याय प्रगट होती है। उसे केवलज्ञान, केवलदर्शन पूर्ण स्वभाव की, ऐसे चैतन्य भगवान आत्मा के पूर्ण स्वभाव त्रिकाली का आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, उसका आश्रय करते-करते अर्थात् परिणमन करते-करते, उसे मोक्ष के अनन्त चतुष्टयवाली पर्याय प्रगट होती है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त।

शरीर की क्रिया आदि तो जड़ है। वह तो जड़ है। अन्दर में दया, दान, व्रत के परिणाम हों, वह पुण्य है। उनसे रहित आत्मा का त्रिकाली स्वभाव सत् पिण्ड पूरा है। ऐसे चैतन्य सत् पिण्ड का आश्रय करने से जो दशा प्रगट होती है, उसे यहाँ मोक्ष के मार्ग की भूमिका कहते हैं। समझ में आया? उसे ही अनन्त चतुष्टयमय, उसे अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा अथवा दर्शन—ऐसी पर्याय अनन्त चतुष्टय, जो इसकी शक्ति में-स्वभाव में थी, वह इस स्व के अनुभव की पर्याय द्वारा शक्ति में से व्यक्तता प्रगट हुई। कहो, समझ में आया?

भगवान... भगवान का स्मरण करने से और यात्रा, भक्ति और व्रत करने से उसकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं। यह तो शुभ विकल्प पुण्यबन्ध का कारण है। यह तो अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के अबन्ध परिणाम प्रगट करे, वह इसकी भूमिका गिनी जाती है। अबन्ध भगवान आत्मा बन्धरहित ही उसका चैतन्यस्वरूप है। ऐसा अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा निज—अपना, उसके सन्मुख होकर; निमित्त, राग और अल्पज्ञ पर्याय से विमुख होकर, स्वभाव का परिणमन अवस्था का प्रगटपना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा, उस भूमिका का आश्रय करे अर्थात् भूमिका इस प्रकार से परिणमति है। वह क्रम-क्रम से आगे बढ़कर केवलज्ञान को, अनन्त आनन्द को प्राप्त होता है। साधक और साध्य दो बात अन्दर आ गयी। आहाहा! ऐसी बात है।

वही... ऐसा शब्द है न? यहाँ देखो न! मुख्य है। **अनन्त चतुष्टयमय आत्मा को प्राप्त करता है–इस अर्थ का काव्य कहते हैं–** यह सुप्रभात में बहुत बार कहते थे, वह श्लोक है। यह नूतन वर्ष का कलश सुप्रभात है। इसका नाम सुप्रभात।

कलश - २६८

इस प्रकार जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है, वही अनन्त चतुष्टयमय आत्मा को प्राप्त करता है-इस अर्थ का काव्य कहते हैं-

(वसंततिलका)

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः,
शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः।
आनन्द-सुस्थित-सदास्खलितैक-रूप-
स्तस्यैव चाय-मुदयत्यचलार्चिरात्मा।।२६८।।

श्लोकार्थ : [तस्य एव] (पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है) उसी के, [चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हासः] चैतन्यपिण्ड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्यपुंज का अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है), [शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः] शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है, [आनन्द-सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूपः] आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है [च] और [अचल-अर्चिः] जिसकी ज्योति अचल है, ऐसा [अयम् आत्मा उदयति] यह आत्मा उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ : यहाँ 'चित्पिण्ड' इत्यादि विशेषणों से अनन्त दर्शन का प्रगट होना, 'शुद्धप्रकाश' इत्यादि विशेषण से अनन्त ज्ञान का प्रगट होना, 'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषण से अनन्त सुख का प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्य का प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमि का आश्रय लेने से ही ऐसे आत्मा का उदय होता है।२६८।

कलश - २६८ पर प्रवचन

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः,
शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः।

आनन्द-सुस्थित-सदास्खलितैक-रूप-
स्तस्यैव चाय-मुदयत्यचलार्चिरात्मा ।।२६८।।

चार, चार भाग करते हैं। अरे! आत्मा स्वयं कौन है? वस्तु जो आत्मा है, आत्मा यह पदार्थ निजवस्तु है, उसमें तो शरीर, वाणी और कर्म भी नहीं तथा पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ विकल्प भाव भी नहीं और उसमें वर्तमान की अल्पज्ञ पर्याय व्यक्त दिखती है, वह उसमें नहीं। आहाहा! ऐसा परिपूर्ण परमात्मा अपना निज स्वरूप है। उसका जहाँ आश्रय करता है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होने से, उसे उसके फलरूप से केवलज्ञान और केवल आनन्द प्रगट होता है।

'तस्य एव' (पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है)... भूमिका का आश्रय करता है अर्थात् परिणमता है। भाषा क्या करे? वस्तु जो आत्मा अपने अनन्त-अनन्त (ज्ञानानन्द) जिसके असंख्य प्रदेश की गुफा में, असंख्य प्रदेश की गुफा में अनन्त-अनन्त आनन्द और ज्ञान भरा हुआ है। समझ में आया? उसका जिसे ज्ञान होकर जिसे राग का अभाव होकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट की है, **उसी के,...** उसे ही मोक्ष होता है, ऐसा कहना है। सामने रखा था न इसलिए। **'तस्य एव'** ऊपर लिखा है न? उसे ही है। ऐसे को ही केवलज्ञान और सिद्धपद प्राप्त होता है। समझ में आया? भारी बात, भाई! ऐसा धर्म! लोगों को मस्तिष्क में पकड़ना कठिन। आहाहा! भगवान! तेरा धर्म तो ऐसा है। आहाहा! चैतन्य महारत्नाकर प्रभु स्वयं है। उसकी खान में तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त ज्ञान और आनन्द निकला ही करे तो भी, वह खान कम पड़े, ऐसी नहीं है। समझ में आया? ऐसा महा अचिन्त्य ज्ञानानन्द का भण्डार प्रभु! उसका जिसने ज्ञान और स्थिरता प्रगटी है, **उसी के,...** ऐसे जीव को ही केवलज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। उसका यहाँ केवलदर्शन कहेंगे। समझ में आया?

'चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हास:' चैतन्यपिण्ड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है... यह पर्याय की बात है, हों! चैतन्यपिण्ड भगवान आत्मा तो है परन्तु उसमें से निरर्गल विलसता विकास। आहाहा! अन्दर से चैतन्य का रस निकले, कहते हैं। अरे रे! भारी कठिन बात! चैतन्य पिण्ड का निरर्गल, जिसे कोई

अटकाव नहीं, जिसका व्यवधान नहीं। निरर्गल अर्थात् कोई उसे रोकनेवाला नहीं। ऐसा भगवान आत्मा अपने अन्तर्मुख के दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणमते हुए उसे निरर्गल ऐसा केवलदर्शन प्रगट होता है। समझ में आया?

चैतन्यपिण्ड के निरर्गल विलसित... पर्याय में विलास (हुआ)। अनन्त दर्शन जो उसका स्वभाव शक्तिरूप से था, वह अन्तर के अनुभव की क्रिया द्वारा, उस अनुभव की क्रिया द्वारा, उस अनुभव की भूमिका की परिणति द्वारा **निरर्गल विलसित विकास...** एक समय की पर्याय में अनन्त दर्शन का विकास प्रगट होता है। आहाहा!

उसे यह आत्मा कैसा है, इसकी महिमा कभी भासित नहीं हुई। समझ में आया? यह दुनिया की धूल और पैसा और इज्जत-कीर्ति की महिमा में आत्मा को इसने मार डाला है। पण्डितजी! मार डाला अर्थात्? कितने अनन्त महास्वभाववाला तत्त्व, उसका इसने आदर नहीं किया, अनादर किया है। आहाहा! अनादर करके अन्दर पाप के-पुण्य के विकल्प करके, उनकी अधिकता-यह ठीक है... यह ठीक है... यह ठीक है... उनकी अधिकता में चैतन्य के महास्वभाव का विकास और विलास प्रगट होना चाहिए, उसे इसने घात डाला है, पर्याय में, हों! वस्तु तो है वह है। आहाहा!

चैतन्य के असंख्य प्रदेश हैं, उसके अनन्त आनन्द और ज्ञान का प्रवाह जिसके स्वभाव में पड़ा है, उसकी अधिकता ज्ञान में लेकर, तथा राग और निमित्त और एक समय की अवस्था की अधिकता रुचि में से छोड़कर... आहाहा! दृष्टि फेर से दौलत नजर में आवे, कहते हैं। जिसकी दृष्टि ही अभी बाह्य इस शरीर और वाणी और यह पुण्य-पाप ऐसे विकल्प करने में रुकी है न, उसे ऐसी दृष्टि, उसकी दौलत उसे इस दृष्टि में नजर में नहीं आती।

कहते हैं, कि **चैतन्यपिण्ड के निरर्गल...** अर्थात् विघ्नरहित **विलसित विकास...** कमल, जैसे गुलाब की कली हो, वह जब खिलती है। लाख पंखुड़ी का कमल हो, वह खिले। वह शक्ति था, उसमें से खिला। उसी प्रकार भगवान आत्मा पर्याय—अवस्था में संकोचरूप जिसकी दृष्टि थी, इससे उसका विलास का विकास प्रगट नहीं होता था। गजब बात, भाई! ऐसा यह किस प्रकार का धर्म? ऐसा वीतराग का धर्म होगा यह? यह

तो सब बाहर में धमाल करे... यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ। भाई! यह पर का करो वह तो मरने जैसा है। क्योंकि जिसके अन्तर स्वभाव में अनन्त ज्ञान-ज्ञातापना पड़ा है, वह जानने का करे या वह इस पर का, राग का और पर का करे? आहाहा! भारी कठिन काम, भाई! पण्डितजी! यह सब संस्कृत के प्रोफेसर संस्कृत सिखावे। आहाहा!

भगवान! तुझमें विकल्प, जो वृत्ति उठती है, वह वस्तु नहीं है, अब उसके कारण तुझे लाभ हो, ऐसा बने किस प्रकार? यहाँ तो बेहद भगवान आत्मा, जैसे सिंह गुफा में से निकलकर दहाड़ मारे और हिरण भागे, वैसे भगवान अनन्त ज्ञान और आनन्द की खान की गुफा अन्दर है। ऐसे आत्मा में एकाग्र होने से, दृष्टि देने से, राग और अज्ञानपना तो कहीं भाग कर नाश हो जाता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा करना, इसमें नहीं आता? यह करना नहीं आता? यह हो? जहाँ चीज़ पड़ी है, वहाँ दृष्टि करना, वह करना नहीं है? सच्ची क्रिया तो वह है। क्या हो? आहाहा!

अनादि काल का भटका हुआ, परिभ्रमण करता हुआ जीव, उसे भटकने की बातें रुचती हैं। परन्तु भगवान अन्तरस्वरूप, निर्विकल्प शान्तरस का वह तत्त्व है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान और लीनता होने से, जिसे केवलदर्शन प्रगट होता है।

उस-रूप जिसका खिलना है... ऐसी भाषा है न? उसका अर्थ कि जैसे कमल की कली खिलती है, वह स्वयं से अन्दर से खिलती है। उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द; सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, वह आत्मा, हों! लोग आत्मा... आत्मा करते हैं, वह नहीं। बहुत से कहते हैं, आत्मा का ध्यान करो, ऐसे योग करो, यह अमुक करो। धूल भी नहीं, सुन न। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने जो आत्मा कहा, उस आत्मा को जाने बिना जो कुछ योग और फोग सब करे, वह सब बिना एक के शून्य हैं। समझ में आया? ध्यान करो। किसका ध्यान करे? भगवान! चीज़ क्या है? कितनी है? कैसी है? क्या है? उसका जिसे ज्ञान नहीं, उसके ध्यान अर्थात् एकाग्रता कहाँ से होगी? समझ में आया?

कहते हैं, बहुत ही श्लोक सुप्रभात है। कहते हैं कि जो अनादि का अन्धकार था, आत्मा के अन्तर स्वरूप के भान और ज्ञान तथा स्थिरता द्वारा अनन्त दर्शन प्रगट किया। अनन्त दर्शन अर्थात् क्या, भाई? यह भाषा भले हो। परन्तु अर्थात् क्या? अनन्त दर्शन

लोकालोक को भेद बिना एक समय में पूर्ण देखता है। यह उस पर्याय की कितनी ताकत और कितनी पर्याय होगी ? समझ में आया ? परमेश्वर तीर्थंकर, केवलियों ने जो आनन्द, दर्शन प्रगट किया, कहते हैं कि ऐसे उपाय से किया था। समझ में आया ?

केवलदर्शन अर्थात् ? एक समय की दर्शन की दशा, जिसमें समय एक और ज्ञात हो तीन काल। आहाहा! समय एक और ज्ञात हो स्वयं त्रिकाली द्रव्य है वह। तथा स्वयं और पर के भेद बिना का दर्शन का उपयोग एक समय में अनन्त विकास प्रगट होता है। ऐसा इसे प्रतीति में नहीं आता, उसे विश्वास नहीं आता। रंक होकर घूमता है न। कुछ पाप करे तो इसे मजा आये। होंश और हर्ष आये। जहाँ लुटता है, वहाँ इसे हर्ष आता है। जयन्तीभाई! आहाहा! भाई! तू लुटाया है, भाई! तूझे खबर नहीं। यह तेरी निज पूँजी और निज पूँजी क्या है ? कैसी, कितनी है ? कैसे प्रगट होती है, इसकी तुझे खबर नहीं है। जगत के जीव धर्म के नाम से भी लुटाये हैं। समझ में आया ? आहाहा! और या तो यह दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति और यात्रा। यह भाव आया और हो गया धर्म। भगवान! यह तो राग है, प्रभु! यह तो पुण्यबन्ध का कारण है। यह मोक्ष का कारण नहीं और यह धर्मरूप परिणमन नहीं। आहाहा! क्या है ? कहाँ जाना और कहाँ से वापस मुड़ना ? और कहाँ जाना ? कैसे जाना ? कहाँ जाना ? कैसे जाना ? महाप्रभु अन्दर आनन्दकन्द है, इसलिए वहाँ जाना। कहाँ से हटना ? संयोग और राग और अल्पज्ञ पर्याय में माल नहीं है, वहाँ स हटना-ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ? कहाँ से विमुख होना और किसके सन्मुख कहाँ कैसे देखना ? इसकी खबर नहीं होती। समझ में आया ? फिर भगवान की माला जपते-जपते मर गये तो लोग कहे, आहाहा! भाई! भारी समाधिमरण हुआ, हों! माला गिनते थे और देह उड़ गयी। समाधिमरण हो, भगवान की मूर्ति—प्रतिमा के निकट बैठे और ऐसे मरे तो। होता होगा ?

मुमुक्षु : स्वयं भगवान है, उसके अन्दर जिसे अनुभव हो, उसे समाधिमरण कहा जाता है। भगवान तो स्वयं ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ? कहो, समझ में आया ? उन भगवान के सन्मुख देखने से तो शुभराग और पुण्य होगा। और भगवान ऐसा कहते हैं कि तू मुझे देखना छोड़कर तुझे देख। तुझमें कहाँ हीनता और कचास है कि मेरे पास माँगने आया ? आहाहा! होता है,

शुभभाव होता है, भक्ति आदि होती है परन्तु उसकी मर्यादा पुण्य जितनी है। उसकी मर्यादा धर्म नहीं और उसके फलरूप से केवल (ज्ञान) हो, यह उसका फल नहीं। जयन्तीभाई! भारी काम। सवेरे प्रव्रज्या की व्याख्या की। आहाहा!

त्रिलोकनाथ तीर्थंकर बारह सभा में, जहाँ जन्मते इन्द्रों का आसन हिले, ऐसे इन्द्रों की सभा में उपस्थिति। ऐसी सभा में भगवान त्रिलोकनाथ की वाणी में ऐसा आया कि भगवान! तू भगवान है, हों! मेरे जितना और जैसा तू है। मेरी वर्तमान दशा में पूर्णता है, तेरे स्वभाव में पूर्णता है।

कहते हैं, आहाहा! देखो न यह प्रवाह खिलता है। यह सर्वदर्शी हुआ। सर्वदर्शी अर्थात्? चिद्पिण्ड का अवरोधक अर्थात् विघ्नरहित विकास प्रगट हुआ। वह विकास अब वापस नहीं फिरेगा। वह विकास ऐसा का ऐसा अनन्त दर्शन रहे, इसका नाम सुप्रभात और इसका नाम जीव की दीपावली, ऐसा कहने में आता है। उसे दीपक जला अब। यहाँ दुनिया में जरा गरीबी हो और पाँच-पचास लाख मिले या धूल लाख मिले वहाँ... अभी इसका दीपक जला है, ऐसा कहते हैं। अन्धकार हुआ तो कहे दीपक जला कहते हैं। मूर्खाई का गाँव वह कहीं अलग होगा?

मुमुक्षु : लौकिक रीति से तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक अर्थात्? मूर्खों की वाणी, वह लौकिक। ऐई! पण्डितजी! यहाँ तो यह है, भाई! लोग मूके पोक, एक व्यक्ति कहता था। समझ में आया? लोक को क्या भान है? आहाहा!

ओहो! प्रभु! तू कौन है? कहाँ है? कैसी शक्तिवाला है? देखो! वहाँ सर्वदर्शी पहली शक्ति ली है न? शक्ति में। भाई! पहली सर्वदर्शी ली है, इसलिए यहाँ चित् पिण्ड ... कलश टीकाकार ने दूसरा अर्थ किया है। यहाँ तो चैतन्य भगवान का पिण्ड प्रभु स्वयं है, उसमें से चैतन्यपिण्ड की पर्याय निरर्गल—विघ्नरहित विकास का विलास। उसे अनन्त आनन्द का विलास का विकास प्रगट हुआ, सुप्रभात हो गया। चैतन्य का तेज प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ, उसे अब अन्धकार नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? उसे दिवाली कही। दिवाली आवे, तब करे न दिवाली-दिवाली। परन्तु कहाँ दि-वाली? कहाँ

से तूने ? तेरे समय की पर्याय अन्तर में झुका, तब दिवाली होगी और उससे केवलदर्शन हो तब महादिवाली हुई। आहाहा! जलहल दीपक असंख्य प्रदेश में शक्ति की खान में से दर्शन का उपयोग पूर्ण एक समय में प्रगट हुआ। ऐसा आत्मा जिसके एक समय के दर्शन में तीन काल, तीन लोक ज्ञात हो, ऐसी जिसकी एक समय की दशा का सामर्थ्य ऐसी-ऐसी तो अनन्त सामर्थ्य एक गुण में पड़ी है और ऐसे अनन्त गुण की सामर्थ्य ऐसा भगवान आत्मा है। आहाहा! रंक करके उसे भटकाया है। समझ में आया ? रंक होकर भटकता है। बादशाह होकर मोक्ष लेना चाहिए। आचार्य की भाषा तो देखो! ओहोहो! आचार्य अन्दर से कहते हैं... आहाहा! कोई आनेवाला है न, कहते हैं। तुम्हारा वह... आया था। .... अच्छा, मैंने कहा व्याख्यान तो सुनेगा।

क्या कहते हैं यह ? चैतन्यपिण्ड का जो अत्यन्त विकास। आहाहा! **(अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है),...** आहाहा! अरे! इस भाव को सुनकर इस भाव का भरोसा करे तो निहाल हो जाये, ऐसा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... इस न्याल से। वहाँ धूल भी न्याल नहीं। गई, उसकी बहू गयी ? मुम्बई गयी। धूल भी नहीं वहाँ उसके दो करोड़ रुपये में दु:ख है। चैन है ? चैन हो तो उसका पिता यहाँ आकर बैठे न! आहाहा! जगत को मार डाला। जहाँ दो करोड़, पाँच करोड़ पैसे देखे तो मानो कि क्या हो गया ? सॉजिश चढ़ी है। क्या हो गया क्या ? सुन न अब।

मुमुक्षु : परन्तु पैसा न हो तो कोई भाव नहीं पूछता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पूछता था ? वह तो पैसा होवे, उसकी जिसे रुचिवाले-पैसेवाले वे उसे भाव पूछे। जिसे पैसे की रुचि है, वह उसका भाव पूछता है।

मुमुक्षु : इच्छता तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो पागल पागल को न इच्छे तो कौन इच्छे ? अच्छा पागल हो, वह अस्पताल में बहुत होशियार कहलाता है। वह तो पागल का अस्पताल है न ? पागल का अस्पताल।

मुमुक्षु : पागल तो पूछे, यह तो पागल भी नहीं पूछता।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या पूछे ? उसमें इसकी कीमत क्या ? पागल की कीमत क्या ? पागल अभिनन्दन दे, उसका फल कितना ? आहाहा ! ओहो ! भगवान ! अनादि से दीवार भूला है। जहाँ से निकलना चाहिए उसकी जगह, दरवाजे से निकलने की जगह दीवार के साथ सिर पछाड़ा है। उसी प्रकार भगवान आत्मा यह राग और पर की क्रिया में से निकल नहीं सकता, (उस) आत्मा को मुक्ति नहीं होती। वह सब अन्धकार है। आहाहा ! चैतन्य का प्रकाश भगवान आत्मा है परन्तु अनादि से पामर रूप से माना, उसे प्रभुरूप से कैसे जँचे ? समझ में आया ?

कहते हैं कि प्रभु ! इस प्रभुता की प्रतीति और ज्ञान की रमणता में केवलदर्शन की प्रभुता उसे प्रगट होती है। यह वस्तु है, भाई ! यह तो वस्तु का स्वभाव है। कोई कहे कि और यह भगवान का धर्म है, तीर्थंकर का धर्म है। तीर्थंकर का कब ? तीर्थंकर का धर्म तो उनके पास रहा। वस्तु का ही ऐसा स्वभाव है। भगवान ने कहा है, वह वस्तु का स्वभाव है। वह वस्तु का स्वरूप है, वह उसका धर्म है। समझ में आया ? यह जैनधर्म कहलाये, यह अमुक धर्म। परन्तु दूसरा धर्म ही कहाँ है ? भगवान आत्मा आनन्द का नाथ, सच्चिदानन्द प्रभु के अन्तर में दृष्टि देने से स्वभाव की की हुई दृष्टि, ज्ञान, रमणता का नाम जैनधर्म है। यह तो वस्तु का स्वभाव है। उसमें जैनधर्म पक्ष और सम्प्रदाय कहाँ है ? समझ में आया ? आहाहा ! एक बोल हुआ। दूसरा बोल।

'शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभात:' और केवलज्ञान प्रगट होता है, कहते हैं। यहाँ मूल केवलज्ञान लेना है। केवलदर्शन प्रगट होता है। आत्मा के परमपदार्थ, परमस्वभाव के अन्तर अनुभव से—अनुभव से उसे अनन्त दर्शन प्रगट होता है, ऐसे अनन्त प्रकाश केवलज्ञान का सुप्रभात प्रगट होता है। जो प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ, वह सादि-अनन्त काल सुप्रभात रहता है। यह सूर्य सवेरे उगता है और शाम को अस्त होता है। यह सुप्रभात उगा, वह कभी अस्त नहीं होता। आहाहा ! .... आता है न यह ? किया था ? नहीं किया था ? किया होगा सामायिक में। ... पैसे का अर्थ आता होगा, यह कितने पैसे हैं न...

मुमुक्षु : ... मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... मानता है अर्थात् यह तो इसे भी खबर होती है न कि कितना ऐसा होता है, अमुक ऐसा है। इतने बर्तन की ऐसी कीमत होती है और इतनी इसकी कीमत होती है। आहाहा!

कहते हैं, **शुद्ध प्रकाश...** चार ज्ञान थे, तब तक पूर्ण शुद्ध प्रकाश नहीं था। परन्तु आत्मा के आनन्द के स्वरूप के अन्तर के अनुभव से, अन्तर के अनुभव से, अन्तरात्मा परमात्मस्वरूप है, उसके अनुभव से उसे **शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण... 'भर-निर्भर'** देखा? **शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण...** भरा हुआ निर्भर विशेषरूप से। **'सुप्रभात:'** आहाहा! उस भूमिका का आश्रय करनेवाले को केवलज्ञान होता है। बाकी क्रियाकाण्ड और यह करे और इससे केवलज्ञान होगा और सिद्धपद होगा, इस वस्तु में कुछ माल नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

'शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभात:' केवलज्ञान हुआ, वह तो सुप्रभात है। यह इसका वर्ष लगा। यह सब वर्ष लगते हैं और फिर अस्त हो जाते हैं, मर जाये। कोई वर्ष में रहा, वह दूसरे वर्ष में लगने से पहले किसी समय मरेगा तो है या नहीं? देह तो नाशवान, मिट्टी, जड़, धूल है। यह तो जगा, वह जगा, कहते हैं। जिसे आत्मा अखण्ड अप्रतिहत वस्तु जो है, वह किसी से नाश नहीं होती। आहाहा! अनन्त-अनन्त राग और विकार और मिथ्यात्व करे तो भी उस वस्तु का नाश नहीं होता। ऐसी वस्तु की जहाँ दृष्टि और धर्म का अनुभव किया, उसे सुप्रभात केवलज्ञान प्रगट होता है। स्वभाव खिल गया, कहते हैं।

देखो! अब एक समय में दर्शन अभेद से सब देखे, तब केवल(ज्ञान) एक समय में भेद से सब जाने। पर्याय एक समय में दो और एक समय की पर्याय में भेद बिना पूर्ण देखे, एक समय में भेद जानकर भेद... भेद... भेद कर भूतकाल की अपनी पर्याय, भविष्य की अपनी पर्याय, गुणभेद सब केवलज्ञान होने पर वस्तु की अखण्ड दृष्टि के कारण, अखण्ड केवलज्ञान जिसे प्रगट होता है। कहो, समझ में आया? **सुप्रभात के समान है,...** यह केवलज्ञान कहा।

'आनन्द-सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूप:' और कहते हैं, अनन्त दर्शन प्रगट होता है, अनन्त ज्ञान होता है। किसे? जो आत्मा के आनन्द का अनुभव करे उसे।

अनु अर्थात् आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उसे अनुसरकर जिसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता दशा प्रगट हुई, उस भूमिकावाले को अनन्त दर्शन होता है, अनन्त ज्ञान होता है, आनन्द पूर्ण होता है। आहाहा! यह आनन्द इसका नाम कहलाता है। बहुत से कहते हैं, कैसे है? आनन्द है। किसका आनन्द? धूल का? लड्डू-बड्डू खाकर बैठा हो, किंचित् ठीक हो पाँच-दस हजार, पचास हजार पैदा किये हों, स्त्री जरा अनुकूल हो, लड़का ठीक हो, मकान-बँगला दो लाख का बनाया हो। झूले में झूलता हो। क्यों भाई? मजा है? हाँ, मजा है। भाई! क्या कहते हैं यह? दु:खी है, ऐसा कहे?

मुमुक्षु : लहर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी लहर नहीं। तुझे भान नहीं। लहर कहाँ से आवे और लहर किसे कहना?

मुमुक्षु : यह तो पवन की लहर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि यह लड़का-बड़का ठीक सा हो, सब इकट्ठे होकर बैठे हों और बापूजी-बापूजी करते हों। चार लड़के बैठे हों। एक ओर न्यालचन्द, एक ओर पूनमचन्द, एक ओर जयन्ती, एक ओर अमृतलाल। दो व्यक्ति पाँच करोड़वाले तथा दो और पाँच-दस लाखवाले। उसमें भाग होता हो। करोड़ों में भाग नहीं, नहीं? धूल भी नहीं। भाग उस करोड़ में होवे तो भी कुछ नहीं और लाख में होवे तो भी कुछ नहीं। आहाहा! यह कीमती भगवान आत्मा, जिसकी कीमत करोड़ से कैसे हो? जिसका मूल्य आँके, उसका मूल जाये। अमूल्य चीज़ प्रभु चैतन्य है, भाई! इसे खबर नहीं। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य के समक्ष अनन्तवें भाग दशा है। समझ में आया?

'आनन्द-सुस्थित' ऐसा जिसका अस्खलित एकरूप है। क्या कहा, समझ में आया? कहते हैं, ऐसा... ऐसा... दो मिनिट सुने तो सही। वहाँ जाना एक ओर रहा। २० मिनिट है।

मुमुक्षु : यहाँ तो व्याख्यान सुने।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए आये हों मूल तो। सोनी ... देना हो तो दे। नहीं तो लगने का क्या था? क्या कहते हैं?

आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा तू स्वयं है। तेरे स्वरूप में परम आनन्द पड़ा है। कैसा आनन्द? इस इन्द्र के सुख हैं, वे तो जहर के सुख हैं। भाई! तुझे खबर नहीं। आत्मा के अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान पूर्ण है। ऐसे आनन्द का जिसने अनुभव किया, अनुभव किया अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र प्रगट किया। इस अनुभव के फलरूप से उसने परम आनन्द जिसका सुस्थित। आनन्द प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ। सुस्थित। यह तो जगत के सुख कल्पित, वह आवे और जाये। घड़ीक में सुविधा हो और घड़ीक में असुविधा मिले। होली सुलगे अन्दर से। कैसे होगा? शिवलालभाई! वह सुख-बुख नहीं? तुम्हारे तो ठीक सुख। बाहर में लड़का-लड़की नहीं। उसे तो कुछ उपाधि होगी या नहीं। लड़केवाले को उपाधि होगी। धूल भी नहीं। उपाधि बाहर में कहाँ थी? अन्दर में भ्रान्ति और राग-द्वेष जैसी उपाधि कोई है नहीं और निरुपाधि भगवान आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति के अतिरिक्त कोई निरुपाधि नहीं। समझ में आया? आहाहा!

आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है... सदा अस्खलित। आत्मा में निरन्तर आनन्द प्रगट हो, वह आत्मा के अन्तर अनुभव द्वारा आनन्द प्रगट हो, वह निरन्तर रहे। आहाहा! **सदा अस्खलित...** स्खलना न हो ऐसा। वह आनन्द वापस गिरे नहीं। एकरूप जिसका। वापस भाषा ऐसी प्रयोग की है न? एक आनन्द की दशा जिसकी पूर्ण परमात्मा हो, वह हो। परन्तु वह सिद्ध हो किस प्रकार? यह तो बात पहले कही। भगवान आत्मा के सन्मुख की दृष्टि, ज्ञान और रमणता। निर्विकल्प दशा वीतराग द्वारा, वीतरागी पर्याय द्वारा, अनुभव पर्याय द्वारा आनन्द प्रगट होता है। कहो, समझ में आया? इसे कीमत पढ़ने की यह चीज़ है। भारी कठिन लगे। यह तो निश्चय... निश्चय। परन्तु इसमें कुछ व्यवहार है या नहीं?

मुमुक्षु : यह स्वयं ही... अर्थात् व्यवहार करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर्याय स्वयं ही व्यवहार है, सुन न अब। मोक्षमार्ग ही व्यवहार है। आहाहा! त्रिकाली वस्तु के समक्ष एक समय की पर्याय अर्थात्? केवलज्ञान, वह पर्याय है। आहाहा! वस्तु स्वयं त्रिकाल है। उस त्रिकाली चीज़ को ज्ञायकभाव से भरपूर, सदा शब्द पड़ा है न? देखो न। **सदा अस्खलित एक रूप...** निरन्तर ऐसा कहना

है। आनन्दभाव प्रगट होता है परन्तु वह निरन्तर काल रहता है। समझ में आया? ऐसी धर्मकथा ऐसी कैसी! यह तो भाई! धर्मकथा भगवान के नाम की आयी होगी? यह तो ऐसा कहे, कन्दमूल न खाना, रात्रि में चारों आहार का त्याग करना, बारह महीने में एक-दो यात्रा करना, भगवान का स्मरण करना, अनुपूर्वी गिनना, ऐई! माला फेरना। भगवान... भगवान... भगवान... यह तो सब स्थूल राग की, विकल्प की क्रिया की बातें हैं। यह धार्मिक क्रिया नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम।

बापू! धार्मिक (क्रिया) तो धर्म आत्मा का स्वभाव, वस्तु धर्मी, उसका स्वभाव, उसमें एकाग्र होकर जो वीतरागी पर्याय हो, वह धर्म है। वस्तु का स्वभाव, वह धर्म और वह स्वभाव का प्रगट होना। धर्म त्रिकाल है परन्तु प्रगट होना वह सादि... सादि साधक धर्म है। आहाहा! साधक तो ... समझ में आया? यह तो लोगों को याद भी नहीं रहता। क्या सुनने गये थे? क्या आया था ... तुमने क्या सुना? यह कुछ कहते थे। अरे! भाई! तूने तेरे घर की धर्म की बातें कभी सुनी नहीं। आहाहा! चैतन्य के ज्ञानरस के स्वभाव में आनन्दरस पड़ा है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के रस का अनुभव होने से वह अनुभव थोड़े आनन्द का है। उससे पूर्ण आनन्द... सुस्थित, ऐसा सदा अस्खलित एकरूप आनन्द प्रगट होता है। समझ में आया?

और जिसकी ज्योति अचल है... वस्तु भगवान आत्मा, परमेश्वर सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं ही है। आहाहा! कैसे जँचे? भगवान कहने से उसे पसीना उतर जाता है, अर र! पामर को प्रभु! यह तेरी दशा में पामरता है, वस्तु में पामरता नहीं। वस्तु में पामरता होवे तो पामरता टलकर प्रभुता आयेगी कहाँ से? समझ में आया? कहते हैं, अनन्त दर्शन प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव में अनुभव से अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द (प्रगट होता है)।

अब **'अचल-अर्चि:' जिसकी ज्योति अचल है...** वीर्य। यह अनन्त बल प्रगट हुआ। **'अचल-अर्चि:'** में यह कहा। वीर्य है। अनन्त बल... अनन्त बल। चैतन्य का अनन्त बल, हों! कि जिसने अनन्त वीर्य से अनन्त गुण की निर्मल दशा को रचा है, ऐसा अनन्त वीर्य जिसे प्रगट हुआ। यह मोक्ष प्रगट हुआ, ऐसा कहा। मोक्ष का मार्ग पहला कौन सा? आत्मा का अनुभव करना, यह मोक्ष का मार्ग है।

जिसकी ज्योति अचल है, ऐसा यह आत्मा उदय को प्राप्त होता है। भाषा देखो! कि आत्मा उदय पाता है। वस्तु में जो स्वभाव था, उसकी पर्याय में उदय पाता है। अनन्त चतुष्टय जिसकी दशा में प्रगट होता है। समझ में आया? आत्मा उदय पाता है। कहीं आत्मा प्रगट होता होगा? आत्मा प्रगटता होगा? यहाँ तो कहा, देखो! **आत्मा उदय को प्राप्त होता है।** यह पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा प्रगटा। वह राग प्रगट होता था, वह तो विकार था, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **'अयम् आत्मा उदयति'** आहाहा! जिसके मिथ्यात्व के, राग-द्वेष के, अज्ञान के जहर निकल गये हैं, विपरीत मान्यता—राग से धर्म होता है, पुण्य से धर्म होता है, देह की क्रिया से धर्म होता है, ऐसे जहर के प्याले मिथ्यात्व के जिसके नष्ट हो गये हैं, और जिसने अमृत के आनन्द के प्याले पिये हैं। समझ में आया? एक का व्यय और एक का उदय। इसे कहते हैं पूरा आत्मा उदय होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तो अन्तिम कलश है तो एकदम सार... सार... सार... सार है। अकेला मक्खन है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव का कहा हुआ अकेला मक्खन है।

भावार्थ – यहाँ 'चित्पिण्ड' इत्यादि विशेषणों से अनन्त दर्शन का प्रगट होना,... लो न। इसके विशेषण रखे न? **'चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हासः'** यह सब चिद्पिण्ड दर्शन के विशेषण थे। अनन्त दर्शन जिसकी दशा में प्रगट हो, उसके कारण वीतरागी पर्याय अनन्त दशा होती है। वह भी अनन्त ज्ञान, दर्शन की पर्याय में भी अनन्तपना आदि होता है। उसके फलरूप से केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रगट होता है।

'शुद्धप्रकाश' इत्यादि विशेषण से... है न? **'शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः'** यह सब विशेषण केवलज्ञान के हैं। **अनन्त ज्ञान का प्रगट होना,...** अनन्त ज्ञान जलहल ज्योति भगवान, जैसे सोलह कला से चन्द्र खिले, वैसे भगवान आत्मा अन्तरस्वरूप के अनुभव की धार्मिक क्रिया द्वारा इन सोलह कला से खिलता है ऐसे जिसके ज्ञान का प्रगटपना हुआ है।

'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषण से... उसे बहुत विशेषण दिये हैं। **'आनन्द-सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूपः'** वे सब इसके विशेषण हैं न? **अनन्त सुख का प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से...** लो। वहाँ एक लिया, इत्यादि नहीं आया।

'अचलार्चि' एक ही शब्द है न ? इसलिए। उसमें विशेषण बहुत शब्द थे। **'अचलार्चि' विशेषण से अनन्त वीर्य का प्रगट होना बताया है।** इस आत्मा को प्रगट होता है। अन्तर के स्वभाव के अनुभव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अनुभव द्वारा जिसे अनन्त वीर्य दशा में प्रगट हुआ है। अनन्त दर्शन-ज्ञान। 'सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन ज्ञानसहित' ऐसा आत्मा अपनी पर्याय से निर्मलदशा से प्रगट होता है, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

पूर्वोक्त भूमि का आश्रय लेने से ही ऐसे आत्मा का उदय होता है। स्पष्टीकरण किया है। आहाहा! **पूर्वोक्त भूमि...** अर्थात् आत्मा ज्ञान और शुद्ध आनन्दमूर्ति प्रभु का आश्रय करने से और उसकी निर्मल परिणति की भूमि का आश्रय करने से एक 'ही' लिया है, देखो! वापस उसमें व्यवहार नहीं। यह अनेकान्त सिद्ध किया, आत्मा शुद्ध पवित्र का पिण्ड प्रभु है। क्योंकि जो पवित्रता प्रगट करना चाहता है, वह पवित्रता से भरपूर होता है। भरपूर न हो तो लावे कहाँ से ? ऐसे शुद्ध भगवान आत्मा की पवित्र की प्रतीति, ज्ञान और रमणता का जिसने आश्रय किया, ऐसा ही जीव... **आश्रय लेने से ही...** भाई! 'ही' नहीं होता। व्यवहार से भी होता है, ऐसा कुछ कहो न! ऐई! नहीं होता, ऐसा आ गया, पण्डितजी! यह भारी कठिन लगता है। व्यवहार का लोप, व्यवहार का लोप होता है। व्यवहार का अभाव हो, तब ही निश्चय होता है। व्यवहार तो राग है। दया, दान, व्रत यह सब राग की क्रियायें हैं। इनका अभाव करके स्वभाव की दृष्टि करे और स्थिर हो, तब इसे कल्याण होता है।

पूर्वोक्त भूमि का आश्रय लेने से ही... ऐसा लिया है। **ऐसे आत्मा का...** ऐसे आत्मा का अर्थात् ? अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्द, ऐसी पर्याय की प्रगटता उसे होती है। कहो, समझ में आया ? यह श्लोक पूरा हुआ। **ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो–** आचार्य महाराज अमृतचन्द्राचार्य सन्त, यह भाव हमें प्रगट हो, हमें दूसरा कुछ नहीं चाहिए। पुण्य भी नहीं चाहिए, स्वर्ग भी नहीं चाहिए, मान भी नहीं चाहिए। हमारा मान हमारे में है। आहाहा!

कलश - २६९

अब, यह कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो-

(वसंततिलका)

स्याद्वाद-दीपित-लसन्महसि प्रकाशे,
शुद्ध-स्वभाव-महिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्ष-पथपातिभि-रन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः।।२६९।।

श्लोकार्थ : [स्याद्वाद-दीपित-लसत्-महसि] स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया जगमगाहट करता जिसका तेज है और [शुद्ध-स्वभाव-महिमनि] जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है ऐसा [प्रकाशे उदिते मयि इति] यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदय को प्राप्त हुआ है, वहाँ [बन्ध-मोक्ष-पथ-पातिभिः अन्य-भावैः किम्] बन्ध-मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है? [नित्य-उदयः परम् अयं स्वभावः स्फुरतु] मुझे तो मेरा नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही स्फुरायमान हो।

भावार्थ : स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है। इसलिए मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि-मेरा पूर्ण-स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्धमोक्षमार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या काम है?।२६९।

कलश - २६९ पर प्रवचन

स्याद्वाद-दीपित-लसन्महसि प्रकाशे,
शुद्ध-स्वभाव-महिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्ष-पथपातिभि-रन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः।।२६९।।

'स्याद्वाद-दीपित-लसत्-महसि' स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया... अर्थात् भगवान ने जो आत्मा अनेकान्त धर्मवाला, अनन्त धर्मवाला कहा। अनन्त स्वभाववाला, हों! धर्म अर्थात् स्वभाव। अमुक का धर्म और इसका धर्म, ऐसा यहाँ नहीं। वीतराग ने आत्मा में जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त धर्म कहे, उसे अनेकान्तरूप से जानता धर्म, धर्मरूप से है। धर्म अधर्मरूप से नहीं। विकार, विकाररूप से है और अविकाररूप से नहीं। आत्मा त्रिकाल नित्य है, पर्याय अनित्य है—ऐसा स्याद्वाद वस्तु का स्वरूप है। द्रव्य और पर्याय के स्वरूप को प्रगट करते हुए **जगमगाहट करता जिसका तेज है...** आहाहा! लो। 'जगमगाहट' शब्द अपने आता है। हलुवा बनावे तब लसलसता हलुवा बनाते हैं। घी का होता है न, ऐसा ठीक सा? लसलसता कहते हैं। कहा नहीं था? एक हलुवा... वे तुम्हारे ... न थे? गये थे। चम्पकभाई बाहर गये थे। अमेरिका। फिर एक दवाएँ थीं ऐसी दो-चार। उसने पैसा दिया था। तो एक पाखाने में से विष्टा का टोकरा ले आये। विष्टा का टोकरा ले आकर एक दवा जहाँ डाली, गन्ध मिट गयी। दूसरी दवा डाली, वहाँ सुगन्ध हुई, तीसरी दवा डाली वहाँ लसलसता हलुवा हुआ। चम्पकभाई कहते थे। वे कहते थे। लो, खाओ! अरे रे! उसे भी... उसे खावे किस प्रकार? पैसे ले ले तेरे। समझ में आया? ऐसी औषधि होती है कि विष्टा में से तुरन्त हलुवा बन जाये। यह तो अमृत में से आत्मा अमृत बनता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मन्त्र अन्तर में पड़ने से भगवान स्वयं लसलसता हलुवा जैसे हो, वैसे प्रगट होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है?

लसलसता-लसलसता ... पाठ में है न? **'लसत्' 'लसत्' 'लसत्'** जिसका तेज है। **'लसत्-महसि'** आहाहा! **जगमगाहट करता जिसका तेज है...** यह रूपी तेज होगा? पहले इतना सफेद दिखाई दे, ... दिखाई दे, फिर वापस सफेद दिखाई दे, ऐसा होगा या नहीं? आहाहा! भान नहीं होता। सफेद-लाल तो रंग है। आत्मा को रंग कैसा? वह तो रंग, वर्ण, गन्ध, बिना की चीज़ अन्तर जगमगाहट चैतन्य के अरूपी तेज से भगवान ने कहा हुआ आत्मा इसे जानने, मानने और अनुभव में आया, उसका तेज ऐसा प्रगट होता है। उसे शुद्ध स्वभाव की दशा प्रगट हो, उसे धर्म कहा जाता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५७३, श्लोक-२६९-२७० सोमवार, पोष शुक्ल १५
दिनांक - ११-०१-१९७१

परिशिष्ट है, २६९वाँ कलश है। ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो, ऐसी भावना आचार्य महाराज (करते हैं)। पूर्व में कहा कि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल जिसे प्रगट हुआ है, उसके फलरूप से, साधक के फलरूप से, वह प्रगट हुआ तो ऐसा स्वरूप हमें प्रगट हो, ऐसी भावना करते हैं।

स्याद्वाद-दीपित-लसन्महसि प्रकाशे,
शुद्ध-स्वभाव-महिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्ष-पथपातिभि-रन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः।।२६९।।

'स्याद्वाद-दीपित-लसत्-महसि' स्याद्वाद अर्थात्? आत्मा त्रिकाल द्रव्यस्वभाव से ध्रुव है और पर्याय से अनित्य क्षणिक अवस्था है। वह इसके अस्तित्व में दो भाव हैं। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। नित्य ध्रुव स्वभाव, कायम रहनेवाला स्वभाव और एक क्षणिक अवस्था, ऐसा जो स्याद्वाद, द्रव्य और पर्याय का स्वरूप, ऐसा भान होकर **प्रदीप्त किया गया...** आत्मा को जागृत किया गया। आत्मा ज्ञान, आनन्द, ध्रुव है। समय की पर्याय क्षणिक भी, पर्याय ध्रुव में झुकाने से, ध्रुव में से तेज **प्रदीप्त किया गया जगमगाहट करता जिसका तेज है...** बहुत सूक्ष्म। चैतन्य के प्रकाश का पूर आत्मा, उसमें वर्तमान अवस्था क्षणिक, उसे अन्तर में झुकाने से चैतन्य के तेज की शक्ति का प्रदीप्त भाव पर्याय में प्रगट होता है।

मुमुक्षु : किस देश की भाषा?

पूज्य गुरुदेवश्री : किस देश की भाषा? आत्मदेश की भाषा। आहाहा! क्या हो? निज देश भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण ध्रुव स्वभाव नित्य रहनेवाला। दोनों शब्द कहेंगे। नित्य और **'परमयं स्वभावः'** भगवान आत्मा काल से नित्य है, स्वभाव से शुद्ध है, ध्रुव है। ऐसा जो स्वभाव, उसे वर्तमान अवस्था में पर्याय द्वारा

अन्तर में झुकाने से जो चैतन्य का तेज ज्ञानमूर्ति है, वह आनन्द सहित जिसका तेज दशा में प्रगट होता है। समझ में आया? सब पढ़कर, वाँचकर, करके यह करने का है, कहते हैं।

आत्मा आनन्द और ज्ञान का ध्रुव स्वभाव है परन्तु उस ध्रुव को पकड़नेवाला वह तो वर्तमान दशा—हालत—पर्याय है। दो को इसे निश्चित-स्वीकृत करना पड़ेगा और दो की जहाँ स्वीकृति हुई, तो वह पर्याय त्रिकाल ध्रुव में झुके। इसमें पुण्य-पाप के विकल्प की आवश्यकता नहीं है। वर्ण, रंग, गन्ध, शरीरादि सब निमित्त उसमें है नहीं। वह अपना जो शाश्वत् रहनेवाला ध्रुव स्वभाव है, उसमें वर्तमान अवस्था के विश्वास से अन्तर में झुकाने से चैतन्य के स्वभाव में भरा हुआ ज्ञान, आनन्द तेज, वह पर्याय में—हालत में प्रगट होता है। कहो, समझ में आया? बहुत संक्षिप्त भाषा और बहुत संक्षिप्त साधन। आहाहा!

अरे! चैतन्य का पाताल कुआँ, जिसे प्रस्फुटित कहलाये। आहाहा! पातालिया पानी निकलता है न? चाहे जितना... परन्तु वह पानी कम नहीं होता। .... बोटाद के पास, जदडा का कुआँ। जदडा का एक कुआँ है। अठारह-अठारह चरस बहे, हों! पानी कम नहीं होता इतना पानी। अन्दर में से तल में से आया हुआ। इसी प्रकार आत्मा के तल में अर्थात् स्वभाव में, उसके दल में अर्थात् भाव में अनन्त ज्ञान और आनन्द आदि उसका स्वभाव है और वर्तमान एक समय की अवस्थावाला जिसका भाव है। उस अवस्था को और त्रिकाल को जहाँ स्वीकार करता है, तब उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है। क्योंकि द्रव्य को स्वीकार करना, पर्याय को स्वीकार करना वह तो ठीक, अब द्रव्य को ध्रुव को स्वीकार करना है। एक समय की दशा वस्तु के त्रिकाली स्वभाव पर, ध्रुव स्वभाव पर जाने से **प्रदीप्त किया गया...** देखो! पर्याय में प्रदीप्त-प्रगट किया गया। शक्ति में था। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का तेज जिसने प्रगट किया, ऐसा कहते हैं। कितनी पुस्तकें पढ़ीं, अब उसे समेटकर इतने में रख देना पड़े।

ऐसा जो चैतन्यस्वभाव, जिसका जगमगाता-लसलसता तेज है। वह रूपी होगा? अरूपी को तेज होता है? .... अरूपी चैतन्य तेज जिसका है। जिसके समक्ष रूपी तेज जिसे ज्ञात हो जाता है। यह रूपी तेज, वह चैतन्य तेज निर्णय करता है। ऐसा चैतन्य का तेज अन्दर है। यह कहते हैं अन्दर स्याद्वाद अर्थात् वस्तु और पर्याय का भान होने से, द्रव्य

का जहाँ निर्णय करने जाता है, वहाँ पर्याय उसमें ढलती है, अर्थात् अन्दर देदीप्यमान ज्ञान और आनन्द की पर्याय का जगमगाता **जगमगाहट करता जिसका तेज है...** आहाहा! **और 'शुद्ध-स्वभाव-महिमनि'** अब उसे कहते हैं। परन्तु वह चीज़ क्या? कि **जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है...** पवित्र स्वरूप जिसका, आनन्दस्वरूप, ऐसा स्वभाव अन्तर्मुख होने से जिसका शुद्ध स्वभाव जिसकी महिमा है। यह महिमा है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य की महिमा कहाँ गयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य-फुण्य की महिमा धूल में गयी। वह कहाँ थी? आहाहा! पुण्य धूल के कारण वापस मरकर जाये, नरक के कीड़े हों। बड़े राजा-महाराजा। आहाहा! एक पर्दा पड़ा तो समाप्त। यहाँ बड़ा चक्रवर्ती राजा दिखता हो। ब्रह्मदत्त जैसा लो न! आँख बन्द करके जाये नीचे। लोहे का गोला जैसे पानी में छोड़ो और नीचे गिरता है, वैसे यह चैतन्य अज्ञान के भाव से भारी हुआ, स्वभाव को भूला हुआ, पुण्य के भाव के फल में भोग में पड़ा हुआ, पाप के भाव की सोजिश करके, पृथ्वी के तल में नीचे जाता है।... अर्थात् क्या? विकारभाव। आहाहा!

जिसने आत्मा के तेज को प्रगट किया है, वह पुण्य, वह पवित्रता। जिसका शुद्ध स्वभाव महिमा है। पुण्य की महिमा नहीं, पुण्य के फल की महिमा नीं। एक समय की पर्याय में महिमा परन्तु त्रिकाली की महिमा की, उससे जो पर्याय प्रगट हुई, उस शुद्ध स्वभाव, उसकी महिमा है। शुभाशुभ परिणाम की महिमा नहीं है। काम भारी महँगा, काम भारी फलवाला। आहाहा! दुनिया, दुनिया की पड़े, तू तेरा काम कर, ऐसा कहते हैं। तेरा भाव स्वभाव अन्दर पाताल में भरा हुआ है। आत्मा के तल में सब भरा है। समझ में आया? उसके सामने देखने से, देखनेवाली दशा है। देखती है, ध्येय करती है ध्रुव को। ऐसे स्याद्वाद से जिसने ज्ञान के तेज को प्रगट किया है। जो आनन्दसहित ज्ञान का तेज प्रगट हुआ है और जिसकी शुद्ध स्वभाव महिमा है। मोहरहित करना है न? लो, इसका नाम धर्म। गजब!

ऐसा **'उदिते मयि इति' यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदय को प्राप्त हुआ है,...** शब्द तो ऐसा है। **'प्रकाशे उदिते मयि इति' उदय को प्राप्त हुआ है,**

वहाँ... इस प्रकार ऐसा प्रकाश उदयमय, मुझमें वहाँ उदय को प्राप्त हुआ है वहाँ। आहाहा! समझ में आया? चैतन्य को अन्दर में से ढिंढोला। आनन्दधाम को अन्तर में से जागृत किया। कहते हैं कि यह प्रकाश मुझमें उदय को प्राप्त हुआ है। अहो! हम ज्ञान के तेज और आनन्द के तेज के स्वरूपी है। हम विकल्प और रागादि नहीं। ऐसा जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान में अपना आत्मा उदय को प्राप्त हुआ, प्रगट हुआ, वह पर्याय है।

जहाँ मुझमें उदय को प्राप्त हुआ है, वहाँ 'बन्ध-मोक्ष-पथ-पातिभिः अन्य-भावैः किम्' अरे! ऐसा बन्ध होता है, ऐसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय, ऐसे विकल्प से हमें क्या काम? और मोक्ष के पन्थ में सम्यग्दर्शन यह कहलाता है, ज्ञान यह कहलाता है, चारित्र यह कहलाता है, ऐसे विकल्प के मोक्षपन्थ के पक्षवाला विकल्प, उससे हमें क्या काम है? कहो, समझ में आया? आहाहा! कहाँ तक लाये? देखा! पुण्य पाप से तो क्या काम है? संयोग से तो क्या काम है? परन्तु बन्धपथ और मोक्षपथ में आते हुए भेद-विकल्पों का क्या काम है? बन्ध भी एक पर्याय है और मोक्ष के मार्ग की भी एक पर्याय है। उस पर्याय के ऊपर के लक्ष्य से विकल्प हों कि यह सम्यग्दर्शन है, यह सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र है। ऐसे पन्थ में आनेवाले विकल्पों का, हमारे क्या काम है? आहाहा! कहो, समझ में आया?

'बन्ध-मोक्ष-पथ-पातिभिः अन्य-भावैः किम्' अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है? आहाहा! आत्मा अन्दर में लीनता में चढ़ा, आत्मा के स्वरूप का भान होकर अन्तर में लीनता में चढ़ा। यह चारित्रसहित की बात है न? कहते हैं कि हमारा भगवान आत्मा, हमारे अन्तर में से जहाँ स्वभाव का सागर उछला है, अब हमारे बन्ध और मोक्ष में पड़नेवाले भेदों का क्या काम? हम तो अभेद चिदानन्द आत्मा हैं, वहाँ हमारी दृष्टि पड़ी है। देखो! आया या नहीं इसमें? ध्रुव का नहीं आता। ... आता है या नहीं इसमें? ऐई! वजुभाई! आहाहा! यहाँ तो पर्याय में बन्ध और मोक्ष, ऐसे भेद और मोक्ष में भी दर्शन-ज्ञान और चारित्र, ऐसा भेद, उसके भेद के विकल्प, क्या काम है? हम तो चैतन्य अभेद आनन्दघन हैं। उसमें हमारा आत्मा अभेद से प्रगट हुआ है। अरे! बन्ध और मोक्ष का पन्थ। आहाहा! मोक्ष का पक्ष। बन्ध तो ठीक। उसमें **'पातिभिः'** पड़नेवाले, आनेवाले। यह सम्यग्दर्शन कहलाता है, यह सम्यग्ज्ञान कहलाता है, यह सम्यक्चारित्र—स्थिरता कहलाती

है, ऐसे भेद के विकल्प से हमें क्या काम ? आहाहा ! देखो ! पंचम काल के आचार्य, मुनि। यह पंचम काल के हैं। यह तो अभी नौ सौ-हजार वर्ष पहले हुए हैं। आहाहा !

भगवान अन्दर आनन्द के ज्ञान के स्वभाव से भरपूर, मेरी महिमा तो शुद्ध स्वभाव से है। आहाहा ! मेरी महिमा कोई कर्म घटे और बढ़े, पुण्य-पाप के भाव हुए और बढ़े-घटे, उससे मेरा क्या काम ? मुझे बन्ध और मोक्ष की पर्याय के भेदों का क्या काम ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? जो करना है, जो ध्येय को पकड़ना, उसमें तो कोई बन्ध-मोक्ष की पर्याय और भेद है नहीं, ऐसा कहते हैं। सुमनभाई ! ऐसा मार्ग है। जो किये बिना कहीं धूल में भी सुख नहीं है।

मुमुक्षु : विश्वसनीय बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विश्वसनीय होगी या कैसी होगी ? आहाहा !

अन्तर के हुलास का विश्वास हुआ है, उसकी बात है। ऐई ! देखा ! बाहर में कैसा होता है। कितना सम्हालना पड़ता है परन्तु इसे ? सवेरे उठे, दो गोली इसकी लेना और दो गोली इसकी लेना। अरे रे ! यह तो .... यह भी ठीक रहे नहीं। आहाहा ! गोली किसकी ? यहाँ तो अभेद की गोली जहाँ ली, अखण्डानन्द प्रभु अभेद है, यह दृष्टि करके स्थिर हुआ, सब हो गया, अब हमें कुछ करना नहीं। भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द ध्रुव, समझ में आया ? क्या कलश रखे हैं ! ओहोहो !

'बन्ध-मोक्ष-पथ-पातिभिः अन्य-भावैः किम्' हमें ऐसे भेदों से अर्थात् ऐसे विकल्प से क्या प्रयोजन है ? हमारा प्रयोजन तो अभेद स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। **नित्य उदित रहनेवाला...** ध्रुव त्रिकाली स्वभाव जो है, वह तो नित्य उदय ही है। **'नित्य-उदयः'** देखो ! शाश्वत रहनेवाला है और वस्तु तो अन्दर नित्य प्रगट ही है।

मुमुक्षु : नित्य आया था और ध्रुव भी साथ में था।

पूज्य गुरुदेवश्री : नित्य और ध्रुव दोनों आया। शाश्वत् रहनेवाला वह स्वभाव है। भूतार्थ।

मुमुक्षु : ११वीं गाथा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ११वीं गाथा। कहो, समझ में आया? ११वीं गाथा में यह था। **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** आहाहा! ऐसी वस्तु! कहो, समझ में आया? ऊपर से भी अन्दर महिमा तो करे। आहाहा! ऐसी चीज़! छोड़ न अब दूसरी बात। यह प्रभु ऐसा आत्मा है, इसकी महिमा करके स्थिर हो, यही करनेयोग्य है। बाकी कुछ है नहीं। आहाहा! समझ में आया? बाकी सब दु:ख के पन्थ में ढलने का है। अरे! मेरा तो नित्य उदय है। भगवान नित्य। यह सूर्य सवेरे उगे, दोपहर में और सिर पर आवे, शाम को फिर नम जावे। यहाँ नमे नहीं कहते हैं। ऐसा का ऐसा त्रिकाल स्वभाव। ज्ञायक स्वभावभाव, ध्रुव स्वभावभाव, भूतार्थ स्वभावभाव नित्य प्रगट ही है।

'अयं स्वभाव:' वह कैसा? **'परम् अयं स्वभाव: स्फुरतु' मुझे तो मेरा नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही स्फुरायमान हो।** यह तो पर्याय प्रगट हुई, उसे अब कहते हैं। ऐसा उदय ऐसा **केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही मुझे स्फुरायमान हो।** यहाँ पूर्ण बात कहीं न वह पूर्ण? वह हमें प्रगट हो। आहाहा! जो प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ। कायम ऐसा रहने का, ऐसा। यह तो एक भव में कितना... हो? पैसेवाले और इज्जतवाले को कितना ... हो? घड़ीक में शिथिल पड़ जाये, घड़ीक में वह हो जाये। पैसा आवे तो? पैसा आवे तो लकड़ी हाथ में से चली जाये। पैसा जावे तो हाथ में लकड़ी लेना पड़े। कमर टूट जाये, कमर। नरम पड़ जाये। आहाहा!

मुमुक्षु : सत्ता...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल का भी नहीं। अज्ञानी व्यर्थ का मानता है। आहाहा! प्रभु! तेरे स्वभाव की महिमा के समक्ष किसकी महिमा करें? आहाहा! ऐसी वस्तु तेरी अपनी है, कहते हैं। निज निधान को देखने से, जो अन्तर स्थिर होने से ऐसी नित्य दशा प्रगट होती है, जिसका नित्य उदय रहे अर्थात् केवलज्ञान हुआ, वह हुआ। अनन्त आनन्द हुआ, वह हुआ।

ऐसा केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही मुझे स्फुरायमान हो। बस, पर्याय में प्रगट होओ। ... साधक स्वभाव तो है, इसलिए यह होओ, ऐसा लो। यह प्रार्थना। किसके समक्ष? आत्मा के समक्ष। हमारा आत्मा नित्य डोलायमान आनन्द से

भरपूर है। उसका परिणमन तो है हमको है, परन्तु अब ऐसी दशा प्रगट होओ कि जो दशा नित्य रहो। समझ में आया ? ऐसा स्वभाव, ऐसा मार्ग इसे अभी पहले समझना चाहिए, जानना चाहिए, श्रद्धा करना चाहिए, अभी स्थिर होना चाहिए। यह करनेयोग्य है। इसे छोड़कर अकेले बाहर के झगड़े हैं, भाई! '... ऐसा विवाद चलता है। वह कहे कि झगड़ा मुझे करना ही है। क्योंकि उसने सामने ऐसा किया तो हमें भी ऐसा करना है। भाई! अभी रहने दो। कहे, नहीं। वह बचाव करनेवाले बहुत लेखन में यही चलता है। जिस ओर झुका वह झुका। आहाहा! अरे! ज्ञान का रथ चला न! ज्ञानरथ अर्थात् वह पैस-बैसा बचे तो फिर .... पाठशाला बनाना। आहाहा! बापू! यह तो पैसे की जरूरत नहीं होती। जिसमें विकल्प की मदद की आवश्यकता नहीं होती। शरीर निरोगी-सरोगी हो, उसकी परवाह नहीं होती। सरोगी-निरोगी की परवाह नहीं होती। ऐसा आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु जागती ज्योति उदय पड़ा ही है, कहते हैं, नित्य उदय ही है। उसे पर्याय में उदय नित्य कर। इसके बिना सब समझने जैसा है। समझना, समझाना, उन सब विकल्पों को छोड़ न। यह कर।

मुमुक्षु : प्रभावना होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी प्रभावना ? प्रभावना स्वभाव की यहाँ (अन्दर) होती होगी या बाहर होती होगी ? ऐई! चेतनजी! क्या होगा यह ? प्रभावना बाहर में होवे न ? क्या हो ? आहाहा! तू तेरा आनन्द सागर प्रभु है, उसमें जा, सब प्रभावना हो गयी। बाहर में दुनिया माने, न माने, समझे उसकी योग्यता होगी तो समझेगी। ऐसा यहाँ कहते हैं। देखो न! यहाँ बन्ध-मोक्ष के पड़नेवाले विकल्प से हमारे क्या काम है ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा तेरा समय आया, भाई! आहाहा! भव के अभाव का अवसर मिला। अब लक्ष्मी तिलक करने आयी है, सिर समरूप रख। सिर अर्थात् ध्रुव को अब दृष्टि में समरूप बराबर रख। वजुभाई!

ऐसा केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही मुझे... केवल अर्थात् अकेला यह, दूसरा अपूर्णता नहीं, स्वर्ग नहीं। अन्तिम गाथायें हैं न ? यहाँ तो आचार्य हैं, इसलिए स्वर्ग में जानेवाले हैं। पंचम काल के साधु हैं। समझ में आया ? इसलिए पूर्ण होंगे नहीं। परन्तु हमारे तो यह चाहिए, बाकी कुछ नहीं चाहिए। बीच में धर्मशालारूप से स्वर्ग

आवे परन्तु वह चीज़ हमारी नहीं है। आहाहा! देखो! यह अन्तिम कलश पुकारते जाते हैं, हों! आचार्य स्वयं पुकार करते हैं। १७१ श्लोक में कहा न? स्वर्ग के जो सुख, मोक्ष के अन्तराय करनेवाले हैं। आहाहा! वह एक व्यक्ति कहे कि, महाराज! तुम ऐसा कहते हो परन्तु हमें स्वर्ग के सुख तो एक बार भोगने दो। पुण्य करेंगे तो स्वर्ग भोगेंगे। बोटाद में वह था न? सलोद... वह नागलपर... उनका पुत्र था। उसका पिता भी ... वह था न .... उसका पिता था।... वह एक बार वहाँ आया था। वह यह लड़का कहता था। वहाँ एक बार आया था कि आप इस धर्म-धर्म को ऐसा कहते हो। परन्तु पुण्य तो करने दो, पुण्य से पहले स्वर्ग में जायेगा तो सुख भोगेगा बेचारा। फिर जायेगा मोक्ष। उसे अभी स्वर्ग के सुख भोगना है। आहाहा! जेल है, अंगारा है। आहाहा! लिखा है न। पंचास्तिकाय में दो शब्द वहाँ हैं, हों! १७१ में। वह अंगारा और अन्तराय, अंगारा और अन्तराय। आहाहा!

ऐसे स्वर्गलोक को जो कि साक्षात् मोक्ष को अन्तरायभूत है और सम्प्राप्त करके सुचिरकालपर्यन्त... बहुत काल तक, रागरूपी अंगारों से सिंकता हुआ। देव में रागरूपी अंगारों से सिंकता है, तुम्हारे पैसेवाले की क्या बात करना? वे तो धधकते अंगारों से सिंकते हैं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मौज मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी मौज नहीं वहाँ। लात मारकर मुँह लाल करे। थप्पड़ मारकर लाल करे। मुँह लाल करे। रक्त ऐसा हो गया हो न तो वह थप्पड़ मारकर लाल रखे परन्तु वह कहाँ रहता है? कहते हैं या नहीं? तमाचा मारकर। इसका अर्थ कि मुँह फीका हो और तो गाल में चोपड़कर आवे। क्या कहते हैं उसे? पाउडर। मूल तो शरीर की नरमाई और कोमलता नहीं, इसलिए कृत्रिम करके भी रखता है। थोड़ी फिकाश जैसी हो तो तमाचा मारे तो वह रक्त बाहर आवे। अरे! रक्त नहीं। इसी प्रकार यह जगत के सुख तमाचे मारकर सुखी हैं, ऐसा माननेवाले हैं। पाप के अंगारों में सिंकते हैं। आहाहा! ऐसा होगा? यह तुम तो सब पैसेवाले बहुत कहते हैं। कितना वेतन? आठ हजार का वेतन, लो! यह बातें करते हैं। इनके पिता को भी खबर नहीं होगी, कितना वेतन होगा। कोई बातें करते हैं। मेरे पास कहाँ वहाँ.... कि आठ हजार का, दस हजार का वेतन में ले गये थे।... अमुक

किया। उसको गलगलिया हो गयी। आहाहा! एक वर्ष के लाख रुपये का वेतन! महीने के आठ हजार। क्या है परन्तु उसे लाख में? लाख में राख है। आहाहा!

यह श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति में आनन्द का वेतन जहाँ चढ़ता है, उसकी कुछ कीमत ही नहीं, ऐसी बात कहते हैं। यह यहाँ कहते हैं कि हमें तो... आहाहा! अरे! आत्मा स्वर्ग में जायेगा। क्योंकि पूर्णपद प्राप्त हुआ नहीं। अभी यह काल ऐसा होगा। परन्तु यहाँ तो प्रार्थना करते हैं, यह देखो न! यह .... कहा? यहाँ यह कहते हैं। अन्तिम वस्तु की स्थिति कहते हैं। ओहोहो! अरे! मोक्षपन्थ के अन्दर ऐसा एक विकल्प रह जाता है। उससे उसे पुण्यबन्ध होकर स्वर्ग में भव होगा। वह अंगारों में सिंकनेवाला है। यह कहता है, इन्द्र के सुख हैं। धूल भी नहीं, सुन न! सुख तो आत्मा में होगा या सुख बाहर में होगा? बहुत रूपवान इन्द्राणी होवे न? और वह क्या कहलाता है? धान का ढोकला खाता न हो। धान-बान न हो। यह तो धान खाये तो अच्छा लगे और दो दिन न खाये तो ऊं... ऊं... हो जाये। वे तो धान बिना रूपवान शरीर। आहाहा! धूल भी नहीं, सब अंगारे सुलगे हैं, सुन न! आचार्य पुकार करते जाते हैं, हों!

कहते हैं, हमको केवल एक यह हो। हमें स्वर्ग के भव और हमें स्वर्ग नहीं चाहिए। समझ में आया? बापू! धर्म का मार्ग कठिन, अलग है। यह दुनिया कहीं मान बैठे, ऐसा धर्म नहीं है। धर्मी जीव को तो आत्मा के आनन्द के समक्ष कहीं चैन नहीं पड़ता। भले राग में पड़ा हो। समझ में आया? आत्मा का आनन्द है, ऐसा भासित हुआ है न? ऐसा श्रद्धा, ज्ञान में भासित हुआ है न? स्वाद में। उसे कहीं चैन नहीं पड़ता। कहीं चैन नहीं पड़ता। विषय की वासना, मान का विकल्प जहर जैसा, काले नाग जैसा लगता है। काट डालो... काट डालो... आहाहा! वह लड़का नहीं? पालीताणा। बेचारा बारह वर्ष का लड़का भगवान की पूजा करके बैठा था। उस ओर दो बहिनें बैठी थीं। सर्प आया, काला नाग पीछे से आया। कोहनी में डंक मारा। अभी महीना हुआ। ऐसे ऊँचा किया तो पीछे से नाग आया। वड़ में से कहीं से निकला। काट डाला यहाँ से। कौन काटे? नीचे उतारा वहाँ हो गया। हरा शरीर हो गया, जहर चढ़ गया और मर गया। अभी पालीताणा में बना है। भगवान की पूजा-भक्ति की। क्या करे? आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान ने भी सामने नहीं देखा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान कौन भगवान ? भगवान कहाँ ? भगवान तो यहाँ है। तेरा भगवान तो तू है। तेरा भगवान वह भगवान नहीं कुछ। आहाहा ! और पूजा-भक्ति का भाव होता है, वह तो एक शुभ विकल्प है। वह वापस कर्ताबुद्धि हो, मिथ्यात्वभाव सब इकट्ठा पड़ा हो। उसमें क्या कहाँ किस तराजू में उसका पुण्य तोला जाये ! लोग ऐसा कहते हैं कि आहाहा ! पूजा की, और लड़का कैसा भाग्यशाली, यहाँ बैठा और एकदम उड़ गया। तथा यात्रा करके, ऊपर बैठकर यात्रा करके आया। अरे ! धूल भी यात्रा नहीं। यात्रा तो आतमा आनन्दस्वरूप में आरूढ़ हो, वह यात्रा है। वह तेरा तीर्थ यहाँ है। बाहर तीर्थ नहीं है। वह तो शुभ विकल्प आता है। अशुभ से बचने के लिये (आता है) ऐसा शास्त्र में आता है। अशुभ वंचनार्थ, ऐसा आता है न ? उस समय शुभ में अशुभ नहीं। उस प्रकार के चारित्र का (विकल्प आता है)।

भगवान यहाँ तो पुकार करते हैं, हमें तो नित्य उदय रहे **ऐसा केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही मुझे स्फुरायमान हो।** जो शक्ति में है, स्वभाव में है, वह बाहर प्रगट हो जाओ। बस। पर्दा छूटकर बाहर प्रगट होओ। हमें दूसरा कुछ नहीं चाहिए। कहो, पण्डितजी ! आहाहा ! ऐसा फिर सम्हाल... देह छोड़ते होंगे तो सम्हाल नहीं देते होंगे दूसरे को ? भाई ! मेरे पीछे तुम यह करना। आचार्य पद रखना।

मुमुक्षु : शिक्षा तो करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहते हैं, यह विकल्प हमें नहीं चाहिए। समझ में आया ? आहाहा ! किसे करना शिक्षा ? शिक्षा करनेवाला अन्दर स्वयं है। भाई ! अब जाता हूँ। ... कहते हैं, ऐसे विकल्प से हमारे क्या काम है ? समझ में आया ? हम जहाँ हैं, वहाँ स्थिर हों और पूर्ण प्रगट होओ, इसके अतिरिक्त हमारे क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ – स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद... देखो ! जैसा आत्मा का स्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहा, वैसा स्वरूप। यथार्थ .... द्रव्य से नित्य, पर्याय से अनित्य। गुणों से शाश्वत् है, ऐसे जिस प्रकार से है, उस प्रकार से यहाँ आत्मज्ञान हुआ। आत्मज्ञान हुआ, हों ! शास्त्रज्ञान, ऐसा नहीं। **स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के**

बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है। उसे स्वर्ग-बर्ग में मिले, वह उसका फल नहीं। आहाहा! **उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है।** परन्तु यह पूर्ण आत्मा का प्रगट होना और अपूर्ण आत्मा का प्रगट होना, यह दो और क्या? आत्मा द्रव्य जो त्रिकाल है, उसका मोक्षमार्ग इस प्रकार से प्रगट हो, वह आत्मा का अपूर्ण प्रगट होना है। और केवल्य दशा आदि हो, वह आत्मा का पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है। आत्मा प्रगट होता होगा? यह तो .... उसका फल ....

आत्मज्ञान होने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है। इसलिए मोक्ष का इच्छुक पुरुष... 'काम एक आत्मार्थ का....' आता है न? 'दूजा नहीं मन रोग...' रोग-रोग, मन का दूसरा रोग नहीं। यहाँ से कुछ मिलेगा, यहाँ से स्वर्ग में जाऊँगा, ऐसा है। आहाहा! कहते हैं, **मोक्ष का इच्छुक पुरुष...** अकेला पूर्ण पवित्रता। उसकी जिसे इच्छा है। तथापि उस इच्छा से कहीं आता नहीं है। परन्तु इच्छा विकल्प आता है। **यही प्रार्थना करता है कि-मेरा पूर्ण-स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो;...** लो ठीक। मेरा पूर्ण स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट होओ। जैसा पूर्ण स्वभाव वस्तु में है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द पूर्ण स्वरूप है, ऐसा हमें वर्तमान दशा में प्रगट होओ। जैसा है, वैसा होओ। है, वैसा होवे। है, वैसा होना है। नहीं, वैसा होना—ऐसा है नहीं। समझ में आया? यह मार्ग तो कठिन, भाई! यह समझना कठिन पड़े। यहाँ तो सामायिक करना, प्रौषध करना। शान्तिभाई! सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना, यात्रा करना, पर्यूषण के आठ दिन के अपवास करना। वह सब इसमें कहीं आया नहीं। वह तो विकल्प है। आहाहा! जिसे तो लोग संवर और धर्म मानते हैं।

चैतन्य चमत्कार वस्तु सृष्टि के लक्ष्य में नहीं है। श्रीमद् कहते हैं न? 'गुप्त चैतन्य चमत्कार वस्तु सृष्टि के लक्ष्य में नहीं है।' भगवान आत्मा अन्दर में द्रव्यस्वभाव से गुप्त चमत्कार अन्दर पड़ा है। आहाहा! जिसकी पर्याय में एकाग्र होने से, पर्याय से एकाग्रता होने पर जिसका चमत्कार बाहर आवे, ऐसा गुप्त चमत्कार प्रभु आत्मा है। ऐसा चमत्कार दुनिया में दूसरी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! परन्तु जँचे कैसे? जिसे बीड़ी बिना चले नहीं, तम्बाकू बिना चले नहीं। एक चपटी तम्बाकू आवे, वहाँ अन्दर बैंकुण्ठ देखता है।

आहाहा! ऊपर से तृप्ति हो गयी। अरे! ऐसे पामर को ऐसी प्रभुता कैसे जँचे? जो विषय आदि के भाव में रंगा हुआ, उसे विषयरहित चीज़ का रंग कैसे लगे? आहाहा! समझ में आया? छोटे-बड़े अनेक प्रकार के पाँच इन्द्रियों के विषय जो अनित्य क्षणिक है, उसमें जहाँ रंग लगा, रंग लगा, उसे इस चैतन्य के विकाररहित स्वभाव का रंग कैसे लगे? और जिसे यह रंग लगा, अब उसे दूसरा रंग कैसे लगे? आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, **मेरा पूर्ण-स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्धमोक्षमार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या काम है?** आहाहा! शास्त्र रचना, यह लोग समझे, ऐसे विकल्प का हमारे क्या काम है? कहते हैं। देखो तो सही।.... है न अन्दर। समझ में आया? यह बात २६९ में की।

अब नय की अनेकता के विकल्पों को तोड़ने की बात करते हैं। इन बन्ध और मोक्ष के भेद के विकल्पों से हमें क्या काम? हम तो अभेदस्वरूप चैतन्य हैं। उसका आश्रय लेकर हमें तो पूर्ण दशा प्रगट होवे, इसके अतिरिक्त दूसरा हमारे है नहीं।

अब २७० श्लोक।

कलश - २७०

'यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधित होता है, तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयों में तो परस्पर विरोध भी है, इसलिए मैं नयों का विरोध मिटाकर आत्मा का अनुभव करता हूँ'-इस अर्थ का काव्य कहते हैं।

(वसंततिलका)

चित्रात्म-शक्ति-समुदायमयोऽयमात्मा,
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षण-खण्ड्यमानः।
तस्मा-दखण्डमनिराकृत-खण्डमेक-
मेकान्त-शान्त-मचलं चिदहं महोऽस्मि।।२७०।।

श्लोकार्थ : [चित्र-आत्मशक्ति-समुदायमयः अयम् आत्मा] अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा [नय-ईक्षण-खण्ड्यमानः] नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर [सद्यः] तत्काल [प्रणश्यति] नाश को प्राप्त होता है; [तस्मात्] इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि- [अनिराकृत-खण्डम् अखण्डम्] जिसमें से खण्डों को *निराकृत नहीं किया जाता है, तथापि जो अखण्ड है, [एकम्] एक है, [एकान्त-शान्तम्] एकान्त शान्त है (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है, ऐसा अत्यन्त शान्तभावमय है) और [अचलम्] अचल है (अर्थात् कर्मोदय से चलायमान च्युत नहीं होता) ऐसा [चिद् महः अहम् अस्मि] चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।

भावार्थ : आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है; इसलिए यदि नयों की एकान्त दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाए। ऐसा होने से स्याद्वादी, नयों का विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तु को अनेक शक्तिसमूहरूप, सामान्यविशेषरूप, सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।२७०।

कलश - २७० पर प्रवचन

यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधित होता है... क्या कहते हैं? आत्मा में अनन्त गुण हैं, तो एक-एक नय से, एक-एक गुण सिद्ध हो सकता है। ज्ञाननय से ज्ञान, श्रद्धानय से श्रद्धा, ऐसे इत्यादि। एक-एक गुण एक-एक नय से सिद्ध हो सकता है। नयों द्वारा आत्मा सधता है तो भी यदि नयों के ऊपर ही दृष्टि रहे तो नयों में तो परस्पर विरोध भी है। नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है। यह विरोध भी है। समझ में आया? और यह अनेक विरोधी शक्तियाँ हैं, ऐसी शक्तियाँ न जाने, न कहे तो वाद-विवाद खड़ा हो। नित्य है तो नित्य को जाने किस प्रकार? तो अनित्य भी है। अनित्य है तो क्षणिक है, तो किसे जाने? त्रिकाल नित्य को। ऐसे एक-एक नय को जानने से, दूसरा नय तो ज्ञात होनेयोग्य है परन्तु यह ज्ञात होने से यदि दूसरा नय न कहे तो वाद और विवाद उत्पन्न होता है। अब

* निराकृत=बहिष्कृत; दूर; णद-बोतल; नाकबूल

यह वाद-विवाद उत्पन्न न हो, इसलिए अनेक नयों से वस्तु सिद्ध होती है, तथापि उस नय के भेद पर दृष्टि रहे तो भी अभेद का अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

नयों पर दृष्टि, इसलिए है तो सही, ऐसा कहते हैं। आत्मा नयों द्वारा सधता है, ऐसा कहा है न? अन्दर है तो सही। अन्दर अनन्त गुणों के नय से वह सिद्ध होता है। एकान्त से अकेला नय-नय कहे तो वाद उत्पन्न होता है। आत्मा शुद्ध है? हाँ। पर्याय अशुद्ध है? कहे, ना। पर्याय अशुद्ध है। ऐसे विरोध आया और यदि पर्याय अशुद्ध न कहे तो शुद्ध है तो वर्तमान पवित्र शुद्ध है पर्याय में? यह वाद खड़ा होता है। समझ में आया?

यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधित होता है... ऐसा सिद्ध करना है। परस्पर विरुद्ध नय होने पर भी, इसलिए तो वस्तु एक-एक विकल्प से साबित होती है, **तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयों में तो परस्पर विरोध भी है,...** एक नय से नित्य कहे, दूसरे नय से अनित्य कहे। एक कहे एक है, दूसरा कहे अनेक है, ऐसा कहे। समझ में आया? तो परस्पर तो विरोध है। **इसलिए मैं नयों का अविरोध करके अर्थात् नयों का विरोध मिटाकर...** अर्थात् है, उस प्रकार से ज्ञान करके **विरोध मिटाकर आत्मा का अनुभव करता हूँ...** ऐसे नय के भेद के विकल्प का मुझे काम नहीं है। आहाहा! कहाँ तक गये! कहो, समझ में आया?

क्रियानय, ज्ञाननय पहले स्थापित की थी। पश्चात् वहाँ कहा था तत्त्व प्रगट होता है। पश्चात् बन्ध-मोक्ष के पड़नेवाले विकल्पों से क्या काम है? अब नयों के... है सही, ऐसा कहते हैं, हों! यह स्वरूप ... नय बिना वस्तु को सिद्ध करना साबित नहीं होता। है, तथापि उन नयों के भेद पर लक्ष्य रहता है, वह तो विकल्प है। आहाहा! उस विकल्प से भी वस्तु साबित नहीं होती। नय द्वारा साबित की कि ऐसा है। नय द्वारा, विकल्प द्वारा। तथापि उस विकल्प से वस्तु सिद्ध नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? कहाँ ले गये, देखो! आहाहा! अभी तो यहाँ तो लोग बाहर से अटके। पंच महाव्रत से ऐसा होता है, दया, दान, व्रत से ऐसा होता है, तप से ऐसा होता है, यात्रा से ऐसा होता है। यहाँ तो कहते हैं, वे विकल्प तो कहीं उनके घर में गये। वस्तु में अनन्त धर्म है। उन अनन्त धर्म को एक-

एक नय से एक-एक धर्म साबित नहीं होता, तब तो वस्तु में परस्पर धर्म हैं, वे सिद्ध नहीं हो सकते। समझ में आया? और परस्पर विरोध होने पर भी, उसके विकल्प का नाश करके अविरोध न करे तो आत्मा का अनुभव नहीं होता। समझ में आया?

इस अर्थ का काव्य कहते हैं। लो। ४७ शक्तियाँ हैं न? वह यहाँ टीका में यह डाला है। उसमें कलशटीका। परम अध्यात्म तरंगिणी में डाला। यह सब ४७ में है।

चित्रात्म-शक्ति-समुदायमयोऽयमात्मा,
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षण-खण्ड्यमानः।
तस्मा-दखण्डमनिराकृत-खण्डमेक-
मेकान्त-शान्त-मचलं चिदहं महोऽस्मि।।२७०।।

ओहोहो! यह अमृतचन्द्राचार्य भरतक्षेत्र में चलते सूर्य, चन्द्र, सिद्ध, आहाहा! लोगों ने इनकी भी पहिचान नहीं की। सम्प्रदाय में। आहाहा! क्या सत्य है उसके सामने... तुलना तो कर। हम इस सम्प्रदाय के, इस सम्प्रदाय के बात करे, इसलिए खोटी। ऐसा किसलिए करता है? यह क्या कहते हैं? इसकी तुलना तो कर। ऐसा तू है, ऐसा वे कहते हैं। समझ में आया? है वैसा कहे, भाई! तुझे खबर नहीं। दूसरे जो कहते हैं, वह तू है, वैसा नहीं कहते। दूसरे प्रकार से विकल्प से कहते हैं। समझ में आया?

यह तो एकलडा... क्या कहा? 'ऐकांते वसवुं रे एक ज आसने... ज्योति ...' आत्मा की ज्योति, हों! 'समीप रहे पण मनुष्यनो संग जो। ऐकांते वसवुं रे एक ज आसने। ऐकांते वसवुं रे एक ज...' निर्विकल्प आसन। 'भंग पडे तो पड़े भजनमां भंग जो। ओधवजी अब आ ते साधन शुं करे?' अरे! हम निर्बल पर्याय, उसमें ऐसा साधन किस प्रकार करना? कि इस प्रकार हो सकता है। एकान्त आत्मा में जाकर, एक आसन लगाकर आत्मा का साधन हो सकता है। निर्बल नहीं है। समझ में आया?

'चित्र-आत्मशक्ति-समुदायमयः अयम् आत्मा' अभेद है न शक्तिवाला? **'चित्र'** अर्थात् **अनेक प्रकार की...** आत्मशक्ति अर्थात् **निज शक्तियों का...** आत्मशक्ति अर्थात् निजशक्ति। आहाहा! भगवान आत्मा... ४७ शक्ति अपने वाँचन हो गया है। जीवत्वशक्ति, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, स्वच्छत्व,

प्रकाश, असंकुचितविकासत्व, आर्यकारणत्व, परिणम्य परिणामकत्व, त्यागोपादानशून्यत्व, अगुरुलघुत्व, उत्पादव्ययध्रुवत्व, परिणाम, अमूर्तत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, निष्क्रियत्व, नियतप्रदेशत्व, स्वधर्मव्यापकत्व, साधारणासाधारणधर्मत्व, अनन्तधर्मत्व, विरुद्धधर्मत्व, तत्त्व, अतत्त्व, एकत्व, अनेकत्व, भाव, अभाव, भावाभाव, अभावभाव, भावभाव, अभावाभाव, भाव, क्रिया, कर्म, कर्तृ, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, स्वस्वामिसम्बन्ध आदि ४७ शक्तियाँ कहीं। कहो, समझ में आया? आहाहा! ऐसी अनन्त शक्तियाँ। विरुद्धधर्मशक्ति उसमें आयी थी। अनन्त धर्मशक्ति-विरुद्धधर्मशक्ति। यह शक्ति है। तत् और अतत्। विरुद्धधर्मशक्ति है। इस प्रकार सिद्ध न करे तो साबित नहीं होता। क्योंकि उस विरुद्ध शक्ति के ऐसे भेदरूप खण्ड-खण्ड ऊपर रहे, तो अखण्ड का साधन नहीं होता। वजुभाई! आहाहा! समझ में आया?

यह तो जिसे संसार का दु:ख मिटाना हो, उसकी बात है। ओहो! संसार से, चार गति के दु:ख से, दु:ख से उकता गया हो। चार गति के दु:ख, हों! स्वर्ग के भी दु:ख। आहाहा! चार गति दु:ख से डरे, आता है न? योगसार में। 'चार गति दु:ख से डरी' लो, इसमें क्या बाकी रहा? स्वर्ग के सुख लिये? योगसार में आता है या नहीं? योगसार। मोहनभाई! कहाँ योगसार? अपने स्वाध्याय नहीं करते? उसमें आता है। वह पुस्तक है न। 'चार गति दु:ख से डरी' ऐसा वहाँ कहा है। यह नहीं कहा कि नरक और पशु के दु:ख से डरी। चार गति में मनुष्य आ गये या नहीं? पैसेवाले-अरबोंपति? 'चार गति दु:ख से डरी।' ऐसा आता है। पश्चात् क्या आता है, वह भूल गये।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : .... चार गति के दु:ख हैं। आहाहा! आचार्यों की शैली कैसी है, देखो! दिगम्बर सन्तों की कथनी में कितना गहरा भरा है। चार गति के दु:ख। बड़े चक्रवर्ती वे भी दु:खी हैं, राजा तो दु:खी, देव भी दु:खी, सर्वार्थसिद्धि का देव (वह भी दु:खी)। आहाहा! कैसी शैली है, देखो तो सही! चार गति दु:ख से डरी। जिसे आत्मा का आनन्द प्रगट करना हो, उसके लिये है, भाई! समझ में आया? वाद-विवाद करके एक-दूसरे को हराने के लिये और यह करने के लिये यह बातें इसमें नहीं हैं। ऐसे विकल्प से

हमें क्या काम ? ऐसा कहा न ? आहाहा ! वस्तु से ऐसा तू है, भगवान ! तेरा स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा ! ऐसी इनकार करेगा तो भी ऐसा है और हाँ करेगा तो भी ऐसा ही है। आहाहा ! अनन्त आनन्द और आनन्द ज्ञान, शान्ति का तू भरपूर सागर है। आहाहा ! ऐसी वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं।

अनेक प्रकार की... 'चित्र' की व्याख्या की। आत्मशक्ति अर्थात् **निज शक्तियों का समुदायमय...** अभेद लेना है न वापस ? उन **निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा...** समुदायमय, समुदाई, समुदाय ऐसा हुआ न ? समुदाई आत्मा, समुदाय यह सब। आहाहा ! **समुदायमय यह आत्मा...** अनन्त-अनन्त जितनी शक्तियाँ हैं, उससे भी अनन्त। यह ४७ में कितनी कही जाये ? ४७ कर्म की प्रकृति है न ? घाति की ? इसलिए सब ४७ ही आया। ४७ नय, ४७ शक्ति, ४७ उपादान के दोहे, ४७ प्रकृति। चार घातिकर्म की प्रकृति ४७ है। भगवान आत्मा इन ४७ प्रकृति से रहित, अनन्त शक्ति सहित।

यह आत्मा **'नय-ईक्षण-खण्ड्यमानः' नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर...** है, कहते हैं। कहो, है ? एक-एक धर्म को एक-एक नय से लक्ष्य में लेने से तो खण्ड होते हैं, कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? अब इतना भी बाधक है। अब उसे यह बाहर के महाव्रत और पूजा, भक्ति से धर्म हो। अरे ! कहाँ गया तू कहाँ ? फँसा है न, फँसा ? **'नय-ईक्षण'** नय की **'ईक्षण'** अर्थात् देखना। एक-एक धर्म को नय से एक-एक को देखने से खण्ड-खण्ड किया जाता है। **तत्काल नाश को प्राप्त होता है;...** देखो ! आहाहा ! अखण्ड अभेद वस्तु भगवान एक-एक धर्म को देखने से भेद करने से अभेद का नाश होता है। समझ में आया ? आहाहा ! कहाँ ले गये ? समझ में आया ? विशेष बात कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ५७४, श्लोक-२७०, २७१ मंगलवार, पोष कृष्ण १
दिनांक - १२-०१-१९७१

यह समयसार परिशिष्ट, २७० श्लोक है। **'चित्र-आत्मशक्ति-समुदायमयः अयम् आत्मा'** बहुत सार-सार अन्तिम कलश हैं। जिसे आत्मा का अनुभव करना हो, वह कैसे करे? जो अनन्त काल से आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न होने पर भी उसे अनुभव में, श्रद्धा में प्राप्ति हुई नहीं। उसकी प्राप्ति कैसे हो? यह बात है अन्तिम। आत्मा एक स्वतन्त्र वस्तु है। दूसरे अनन्त आत्मायें भिन्न हैं। उसमें **'चित्र'** आत्मशक्ति। **'चित्र'** अर्थात् अनेक प्रकार के शक्ति अर्थात् आत्मिक गुण हैं। आत्मवस्तु एक होने पर भी अनेक प्रकार के निज गुणों के समुदायमय आत्मा है। गुण अनन्त हैं, वस्तु एक है परन्तु गुण अनन्त हैं।

ऐसा जो **समुदायमय यह आत्मा 'नय-ईक्षण-खण्ड्यमानः'** एक-एक धर्म को अथवा गुण को, एक-एक नय से देखने से, वह वस्तु पूरी अखण्ड होने पर भी, खण्ड-खण्ड हो जाती है अर्थात् कि वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। एक-एक धर्म को देखने से... देखो न! बाहर की तो कहीं बात रह गयी। आत्मा एक अनन्त गुण का समुदाय, अनन्त शक्ति का पिण्ड है। उसमें एक-एक शक्ति को देखने से आत्मा खो जाता है। कलश में ऐसा है, खो जाता है।.... अर्थात् कि एक समय में अनन्त शक्ति का एकरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसे राग से देखना, वह तो नहीं; पर से देखना, वह तो नहीं परन्तु अनन्त गुणों का समुदाय एक ऐसी अनन्त शक्ति है। एक-एक गुण को देखने से अखण्ड वस्तु प्राप्त नहीं होती। अर्थात् कि एक-एक गुण को देखने से अखण्ड अभेद वह खो जाता है। अर्थात् कि खण्ड-खण्ड किये जाने पर नाश पाता है। अखण्डपना द्रव्य का व्याप्त नहीं। समझ में आया? अरे रे! ऐसा धर्म किस प्रकार का? .... समझ में आया? आहाहा!

वस्तु एक है परन्तु वह अनन्त गुण का समुदाय है। एक ही गुणमय नहीं। अनन्त गुण का एकरूप उसका है। अब कहते हैं कि उन अनन्त गुणों में नयों की दृष्टि से, एक-एक गुण को लक्ष्य में लेने से, एक-एक नय से एक-एक धर्म को दृष्टि में लेने से अखण्ड वस्तु प्राप्त नहीं होती। समझ में आया? अरे!

मुमुक्षु : खण्ड-खण्ड में अखण्ड कहाँ से प्राप्त हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का निकला है न एक। वीर्यवाला है न। जवाब तो कैसा देता है। होवे तब सही। अभी तो शुरुआत ऐसी की है। निर्विकल्पता बाद में होती है परन्तु उसे बात पहले बैठनी चाहिए न? आहाहा!

कहते हैं, हो, अनन्त गुण एक वस्तु में हो। चित्रशक्ति—अनेकशक्ति। चित्र अर्थात् अनेक प्रकार की, चित्र अर्थात् अनन्त। अनन्त प्रकार की शक्तियाँ आत्मा में **'नय-ईक्षण'**। एक ज्ञान में एक अंश से एक धर्म को देखने से, एक धर्म पर लक्ष्य देने से, एक गुण पर लक्ष्य देने से, **तत्काल नाश को प्राप्त होता है;...** एक क्षण में उसे अखण्डपना दृष्टि में नहीं आता। अर्थात् नहीं आता अर्थात् अखण्डपने के सत्त्व का श्रद्धा में नाश होता है। आहाहा! समझ में आया? भाषा समझ में आती है? बराबर।

ओहो! कहते हैं कि तू दूसरी बात छोड़ दे।... यह नहीं तुझमें। यहाँ तो तेरा जो ज्ञेय है, जाननेयोग्य जो ज्ञेय एक वस्तु अखण्ड अभेद पदार्थ है, उसे जानने में, उसमें रहे हुए अनन्त-अनन्त शक्तिरूप गुण, उसके एक-एक गुण को देखने जाने से, वह खण्ड-खण्ड होकर अर्थात् एकरूप दृष्टि में नहीं आता। विकल्प होकर आत्मा ऐसा है, ऐसा माना जाता है तो आत्मा की श्रद्धा का नाश होता है। बहुत सूक्ष्म है।

तत्काल 'सद्यः प्रणश्यति' ऐसा है न? इसका अर्थ, कि भगवान आत्मा वस्तु जो है, एकरूप, अनन्त गुण का एकरूप है। एकरूप को दृष्टि में न लेकर, अभेद को दृष्टि में न लेकर, उसके भेद को जहाँ दृष्टि में लेने जाता है, वह अभेद श्रद्धा में नहीं आता। नहीं आता अर्थात् नाश पाता है, ऐसा (कहा)।...भाई! ऐसा सूक्ष्म है। भारी सूक्ष्म! राग से धर्म होता नहीं, पुण्य से, व्रत से हो वह भी धर्म नहीं। इसमें नहीं। यह तो इसमें है, इसकी बात चलती है।

पुण्य-पाप के विकल्प, शरीर, कर्म इसके अस्तित्व में, आत्मा के अस्तित्व में ही नहीं है। उनका अस्तित्व दूसरा अलग रहता है। यह तो जिसके अस्तित्व में संख्या से अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं, वह बराबर है। नहीं, ऐसा नहीं। परन्तु अनन्त को एक-एक शक्ति का लक्ष्य करने से, पूरी वस्तु जो अभेद है, उसकी श्रद्धा नहीं होती, इसलिए उस तत्त्व की श्रद्धा में उसका नाश होता है। समझ में आया? लो, यहाँ तो अब कहा न कि देव की भक्ति

से, गुरु की भक्ति से निर्जरा होती है। बहुत कठिन मार्ग है। है तो बहुत सरल परन्तु इसके अन्दर में इसे बैठना चाहिए। यह ऐसा बैठना चाहिए कि निःसन्देह ऐसा है। ऐसी निर्विकल्परूप से प्रतीत हो गया। दूसरा हो, रागादि हो।... पूरी दुनिया ... परन्तु तेरे तत्त्व में विकार, शरीर, कर्म तो नहीं है परन्तु कहते हैं कि अनन्त गुण तो है। परन्तु अनन्त गुण होने पर भी अनन्त गुण का एक-एक का लक्ष्य में अनन्त भेद करने से विकल्प उत्पन्न होता है। उसमें अनेकरूप दृष्टि में अभेद की दृष्टि नहीं होती। इसलिए अभेद तत्त्व का उसमें एक-एक गुण के लक्ष्य से अभाव होता है। पण्डितजी! आहाहा! भारी बात, भाई! ऐसा मार्ग! कहो, समझ में आया इसमें?

अब यह तो बाहर में ... यह व्रत करें, तप करें, यह करें, इससे धीरे-धीरे होगा। व्यवहार करें... भाई! इसमें नहीं, उससे कैसे होगा? इस आत्मा ने अज्ञानरूप किये हुए बालव्रत, बालतप, ये सब विकल्प स्वरूप में तो नहीं। नहीं, उनका साधन विकल्प कैसे होगा? यहाँ तो (गुण) इसके हैं। भगवान आत्मा एकरूप वस्तु है और उसमें अनन्त गुण तो हैं; नहीं है-ऐसा नहीं। व्यवहार-निमित्त तो नहीं; यह तो इसमें है। आहाहा! तथापि वे अनन्तरूप हैं, इसे अनन्तपने का लक्ष्य करने से, एकरूप तत्त्व की दृष्टि नहीं होती; इसलिए वस्तु का इसे श्रद्धा में नाश होता है। भाषा कैसी ली है? सद्य नाश पाती। एक-एक गुण को लक्ष्य में लेने से, एक-एक नय से एक-एक धर्म को देखने से, तत्काल अर्थात् उसी क्षण अभेद दृष्टि में नहीं आता; इसलिए अभेद का उस काल में नाश होता है। भाई! आहाहा! समझ में आया? आचार्य की कथनी तो गजब बात है। और ऐसा होता है या बाद में होगा, ऐसा नहीं।

भगवान आत्मा एकरूप स्वरूप है। समुदाय स्वरूप तो एक है न? उसमें गुण भले अनन्त हैं। आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, जीवत्वशक्ति इत्यादि। उसमें ऐसी पद्धति की शैली है। अस्ति, नास्ति, ध्रुव और अध्रुव ऐसी। ऐसी शैली ली है। इस कलश टीका में छह .... लिये हैं। अस्ति, नास्ति।...

यहाँ तो मूल पाठ में लिया है।... यही शक्तियों का स्वरूप है। उसमें फिर सब आ जाता है। ऐसा आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा के पन्थ में उन्होंने देखा हुआ और उनके मार्ग में ऐसा

आत्मा होता है। ऐसे आत्मा को भी अनन्त गुण के भेद से देखने से... आहाहा! अभेद का... भेद से देखने से, एक गुण से देखने से अभेद का उसी क्षण नाश होता है। अर्थात् क्या? अभेद का अस्तिपना उस क्षण उसे प्रतीति में नहीं आता। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा भारी धर्म है... भाई! साधारण लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह क्या? परन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है, वहाँ क्या (हो)? आहाहा!

मुमुक्षु : ...साधारण लोगों को...

पूज्य गुरुदेवश्री : साधारण लोगों को पकड़ में नहीं आता। ऐसी भाषा अब बहुत नहीं। पहली शुरुआत में धीरे... धीरे... उसमें...

मुमुक्षु : यह तो हम लोग समझते हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पहला स्पष्ट, इतना सब तो स्पष्ट नहीं आता। वस्तु यह रही। परन्तु स्पष्ट थोड़ी भाषा में...

कहते हैं, तेरी श्रद्धा की नजर अभेद द्रव्य पर होना चाहिए। उसके बदले उसमें अनन्त गुण हैं, हैं भले परन्तु अनन्त को अनन्तरूप से भिन्न-भिन्न भासित होने पर, उसे एकपने का उस क्षण में श्रद्धा में नाश होता है और भेदरूप ही हूँ, ऐसा भास होता है। समझ में आया? भारी कठिन, भाई!

'तस्मात्' इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ... देखो! आचार्य स्वयं ऐसा कहकर अपनी बात जगत को प्रसिद्ध करते हैं। भाई! **ऐसा अनुभव करता हूँ कि 'अनिराकृत-खण्डम् अखण्डम्'** खण्डों को रद्द तो नहीं किया तूने। नहीं, ऐसा नहीं। उसमें गुण अनन्त नहीं, ऐसा नहीं। हैं अवश्य। होने पर भी खण्ड नहीं किये गये, रद्द नहीं किये गये। अनन्त नहीं है, ऐसा नहीं कहा। ऐसा होने पर भी **जो अखण्ड है,...** वस्तु तो अखण्ड एकरूप है। वह इतना ... यह तो खण्ड-खण्ड नहीं परन्तु अखण्ड वस्तु है। आहाहा! अनन्त गुणों को रद्द किये बिना। है न? बहुत शब्द नीचे हैं। **बहिष्कृत...** किये बिना। बहिष्कृत नहीं किये। अनन्त गुण नहीं है, ऐसा नहीं है। **दूर...** किये, ऐसा नहीं। अनन्त को दूर रखना और एक को ऐसे रखना, ऐसा नहीं। **रदबातल...** लो। रदबातल नहीं किये। रद्द करके बातल नहीं किये। नहीं, ऐसा नहीं। रद्द करते हैं न?

मुमुक्षु : आवेदन रद्द करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवेदन रद्द कर डालो। यह नौकर-बौकर का ऐसा कठोर शब्द क्या प्रयोग करते हैं ? डिसमिस करे। यह वह दूसरा एक था न।... गया था और अधिक रहे थे न। इसी प्रकार इन अनन्त गुणों को डिसमिस नहीं किया। समझ में आया ? आत्मा में अनन्त गुण हैं, उन्हें डिसमिस नहीं किया, हैं तो सही। ऐई! यह तुम्हारी भाषा है, अंग्रेजी। आहाहा!

तथापि जो अखण्ड है, 'अनिराकृत-खण्डम् अखण्डम्' ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उस अनन्त का तिरस्कार, नकार, बातल किया नहीं, तथापि वस्तु तो अखण्ड है। एकरूप अभेद दृष्टि चैतन्य भगवान के ऊपर दृष्टि देने से ही आत्मा अखण्ड को साधे, तब आत्मा साधा कहलाता है। समझ में आया ? आहाहा! देखो! यह स्याद्वाद, यह स्याद्वाद। अनन्त है, तथापि एकरूप में नहीं। एकरूप है, तथापि उसमें अनन्त गुण हैं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसा स्वरूप नहीं होता। अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण। अभी तो उस एक को दो कहे वहाँ शोर मचावे। आत्मा ज्ञान ? आत्मा ज्ञान ? आत्मा और ज्ञान दो हो गये। द्वैत हो गया। आत्मा अनुभव करे ? दो हो गये। आत्मा और अनुभव ? वह शोर मचावे। नहीं, दो नहीं होते। अरे! भाई! अनुभव तो ठीक परन्तु यह तो अनन्त गुण हैं, वे यथार्थरूप से हैं। वास्तविकरूप से अन्दर द्वैत अर्थात् अनन्त गुण हैं। परन्तु भेद पर दृष्टि देने से विकल्प उठते हैं, इसलिए निर्विकल्प अखण्ड की दृष्टि नहीं होती। नहीं होती, इसलिए उसे खण्ड-खण्ड होने पर भी अखण्ड कहा है। आहाहा! भाई! सार में सार अन्तिम श्लोक है। अकेला मक्खन नितारा है।

और **अखण्ड है, एक है,...** वे अनन्त संख्या से हैं न? खण्ड-खण्ड नहीं, इसलिए अखण्ड हैं और अनन्त हैं, तथापि संख्या से स्वयं वस्तु तो एक है। गुण अनन्त हैं, तथापि वस्तुरूप से एक है। अखण्ड है, एक है। आहाहा! **'एकान्त-शान्तम्'** सर्वथा पूर्ण शान्त है। **'एकान्त-शान्तम्'** देखा! अनेकान्त करो न! घड़ीक में शान्त है और अशान्त है। प्रभु तो अखण्ड एक **एकान्त शान्त...** एकान्त शान्त। अथवा सर्वथा शान्त। कथंचित् शान्त और कथंचित् अशान्त नहीं। सर्वथा शान्त, पूर्ण शान्त। भगवान

अकषायस्वभाव, अखण्ड वस्तुरूप से दृष्टि देने में दृष्टि का विषय अखण्ड है। दृष्टि के विषय में अन्दर एकपना आता है और वह पूर्ण शान्तस्वरूप, पूर्ण शान्तस्वरूप है। एकान्त शान्त का अर्थ एक ही शान्त स्वभाव ही उसका पूर्ण है। उसमें विकल्प और ... ऐसा नहीं। अनेकान्त करो। इस भगवान आत्मा में शान्ति है। ... पूर्ण शान्त, एकान्त शान्त, सर्वथा शान्त, एकरूप शान्त। आहाहा!

देखो! यह आत्मा। देखो! यह आत्मा। ऐसे आत्मा को देखना, इसका नाम सम्यग्दर्शन, ऐसा कहते हैं। यह दुनिया तो सब लाख बात करे। मार्ग यह है। सबने गप्प लगायी है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त कल्पना से कल्पना से जोड़ दिया है कि ऐसा यह है। आहाहा! परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने दिव्यध्वनि में बहुत संक्षिप्त में कहा, उसे आचार्यों ने संक्षिप्त शब्दों में यह बात की है।

एकान्त शान्त है... एक अन्त शान्त, ऐसा। एक ही शान्तरूप धर्म है। अकेला शान्तरूप, उसमें कषाय का कण नहीं। **(अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है ऐसा अत्यन्त शान्तभावमय है)...** एकान्त शान्त है। यहाँ तो एकान्त शान्त ही स्वरूप है। त्रिकाल एकान्त शान्तस्वरूप है। अखण्ड है, एक है, शान्त है। शान्तरस का पूर्ण रूप है।

और 'अचलम्' त्रिकाल चलित नहीं, ऐसी चीज़ हैं। **(अर्थात् कर्मोदय से चलायमान च्युत नहीं होता)...** अर्थात् कि अब चलित नहीं। चलित नहीं परन्तु त्रिकाल अचल है। त्रिकाल अपने ध्रुव स्वभाव से चलित नहीं। आहाहा! ध्रुवस्वरूप नित्यानन्द प्रभु त्रिकाल अचल है। अचल शब्द पहले आ गया। ध्रुव, अचल और अनुपम गति। गति डाली, पर्याय डाली। समझ में आया? **ऐसा 'चिद् महः अहम् अस्मि' चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।** ऐसा चिद्मात्र। **'चिद्'** अर्थात् ज्ञान, चैतन्य। **'महः'** अर्थात् तेज, **'अहम्'** अर्थात् मैं। **'अस्मि'** अर्थात् हूँ। कहो, इसमें तो कुछ स्त्री-पुत्र आये नहीं। इसमें अन्दर कुछ आया नहीं। पैसा मैं हूँ। यह तो इसमें नहीं। यह तो बात हो गयी। यह तो इसमें है... है... है, तथापि एकरूप में वह नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी आत्मा की दृष्टि होने पर उसे सम्यग्दर्शन, आत्मा का अनुभव इस प्रकार से होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई उसकी

रीति और उपाय नहीं है। जयन्तीभाई! आहाहा!

'चिद् महः अहम् अस्मि' मैं तो ऐसा अनन्त-अनन्त शक्ति-गुणरूप होने पर भी रद्द किये बिना, तथापि एक अखण्ड हूँ। शान्त... शान्त... शान्त.. जिसमें विकल्प का-भेद का मैल नहीं। समझ में आया? आहाहा! भारी, लोगों को कठिन पड़े। परन्तु अभ्यास नहीं न, अभ्यास नहीं। वास्तविक अस्ति तत्त्व प्रभु! 'जिन, वह जिनवर और जिनवर, वह जिन।' दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। ऐसा मैं हूँ। इसका नाम आत्मा माना, अनुभव किया, जाना कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

भावार्थ – आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं... आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं। **और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है;...** इस न्याय से तो एक धर्म को नय कहा है।... धर्म, वह नय है। धर्म को नय कहा है। भेद पड़ा न? स्वामी कार्तिकेय में, इसमें भी बनारसीदास में भी डाला है। ज्ञाननय, धर्मनय, शब्दनय, तीन। अंश है न, इसलिए धर्म को नय कहा। समझ में आया? उसमें है। कहीं कहा है। कर्ता-कर्म होगा? कर्ता-कर्म का होगा? पाठ में नहीं। स्वामी कार्तिकेय का श्लोक रखा है। कहीं है, है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में है। आवाज आती है, नहीं? कहीं होगा? बात तो कही थी। स्वामी कार्तिकेय में है। इस ओर है। भाषा रखी नय। यह नय तो कर्ताकर्म में आ गया। १४३ होगा? १४३ में आते हैं नय। स्वामी कार्तिक का श्लोक है।

आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति का ग्राहक (जाननेवाला) एक-एक नय है;... एक ज्ञान का एक अंश है। **इसलिए यदि नयों की एकान्त दृष्टि से देखा जाए...** नय को एक ही दृष्टि से एक-एक ज्ञान में, एक-एक अंश से एक-एक धर्म को देखने में **तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाए...** हो जाये, इसका अर्थ? अखण्डपना दृष्टि में नहीं आता। समझ में आया? **आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर...** आत्मा खण्ड-खण्ड होता होगा? न छेदन्ति, न भेदन्ति आता है न? किस अपेक्षा से बात है? खण्ड-खण्ड अर्थात् एक-एक गुण को लक्ष्य में लेने से, तुझे खण्ड-खण्ड भासित होगा, अखण्डरूप से भासित नहीं होगा। ऐसा इसका अर्थ है। भाषा पकड़े परन्तु उसका भाव क्या है, उसे जानना चाहिए न।

आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाए... अर्थात् आत्मा का नाश हो जाता है। एक ओर आत्मा अविनाशी, अनादि-अनन्त (है, ऐसा कहे)। वजुभाई! क्या है? इसका अर्थ कि अपनी अस्ति में सत्ता का अस्तित्व एकरूप भासित नहीं हुआ और खण्ड-खण्ड भासित हुआ तो श्रद्धा में अखण्डपने की नास्ति हुई, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? १४३ में है। कहीं है अवश्य। ... स्वामी कार्तिकेय में है।

ऐसा होने से स्याद्वादी,... देखो! अपेक्षा से समझ में आवे। **नयों का विरोध दूर करके...** लो। अर्थात् कि है। एक-एक गुण है। ऐसा न हो, तब तो वस्तुस्वरूप सिद्ध नहीं होता। परन्तु विरोध मिटाकर। नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है। **चैतन्यमात्र वस्तु को अनेक शक्तिसमूहरूप,...** लो। चैतन्यमात्र अकेला आत्मा। **अनेक शक्तिसमूहरूप,...** भले हो। एक है। अनेक शक्तिसमूह एकरूप है। **सामान्यविशेषरूप,...** दो लिया, देखो! सामान्य द्रव्य और पर्यायस्वरूप। **सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है।** समझ में आया? सामान्य अर्थात् एकरूप और विशेष अर्थात् गुण के भेदरूप होने पर भी **सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है।** वह तो ज्ञान चैतन्यमात्र अकेला हूँ, ऐसी दृष्टि करके अनुभव करना इसका नाम आत्मा को स्वीकार किया, माना, पहिचाना, अनुभव किया है। **ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।** वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है, इस प्रकार आचार्यदेव गद्य में कहते हैं-

(ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि-) मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूँ; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।

भावार्थ : यदि शुद्धनय से देखा जाए तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है, इस प्रकार आचार्यदेव गद्य में कहते हैं- न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।

(ज्ञानी...) अर्थात् धर्मात्मा। **(शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि-)** समझावे तो ऐसा न! शुद्धनय का अवलम्बन अर्थात् मूल तो त्रिकाल अभेद है, वह शुद्धनय। **मैं अपने...** धर्मात्मा अपने एकरूप स्वभाव को ऐसा अनुभव करता है कि **मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ,...** द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न, भाव भिन्न—ऐसा है नहीं। है, अन्दर है। आया न? किसमें आया? स्याद्वाद में आया, स्याद्वाद में आया। जिस धर्म का जिसकी अपेक्षा कथन किया जाए, वह धर्म भी नय, जिस शब्द से कथन किया, वह शब्दनय और उसे जाननेवाला ज्ञान, यह तीनों नय हैं। स्याद्वाद का पाठ है। मूल गाथा है।

सो चिय इक्को धम्मो, वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य।।२६५।।

स्वामी कार्तिकेय।.... इस नय से। तीनों को नय कहा है। पण्डितजी! धर्म को भी नय कहा है। एक है न, एक इसलिए। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में श्लोक (२६५) है। एक ज्ञान के अंश को नय कहा और शब्दनय बोलते हैं न, उसे भी एक औपचारिक नय कहा।

कहते हैं, शुद्धनय अर्थात् एकरूप वस्तु को देखने से **द्रव्य से खण्डित करता...** अर्थात् कि द्रव्य, उस द्रव्य में और क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न, भाव भिन्न - ऐसे खण्डित नहीं करता। द्रव्य में सब एकरूप आ जाता है। द्रव्य से पृथक् नहीं पड़ता, क्षेत्र से खण्डित नहीं करता। और उसका क्षेत्र अलग, द्रव्य का अलग, ऐसा नहीं है। वह का वह द्रव्य और वह का वह क्षेत्र और वह का वह काल और वह का वह भाव। समझ में आया?

न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ... एक समय की

अवस्था ... त्रिकाल समय का स्वरूप, वह और भिन्न तथा द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न-ऐसा है नहीं। **न भाव से खण्डित करता हूँ;...** और उसके गुण भिन्न तथा द्रव्य भिन्न, ऐसा कुछ है नहीं। किसी भी एक बोल से लो तो चारों उसमें आ जाते हैं। दृष्टान्त दिया था न आम का? आम का दृष्टान्त दिया था। बनारसीदास, २७०। आम का नहीं? चार। आत्मद्रव्य, क्षेत्र, भाव से अखण्डित है। द्रव्य से एकरूप है। क्षेत्र भी उसका वह है। काल भी उसका वह है और भाव भी उसका वह है। **जैसे पका आम फल, पके चार अंश रस, जाली, गुठली, छिलका जग मानता है।** रस, जाली, गुठली और छिलका। **ऐसे तो न बने ऐसे बने आम नहीं। रूप, रस, गन्ध, अखण्ड प्रमाण है।** परन्तु आम का रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, जो देखे एक चीज़ होवे तो वह सब इकट्ठा ही है। समझ में आया?

आम के फल में रस भिन्न, जाली भिन्न, गुठली भिन्न, छिलका भिन्न, यह चार अंश हैं। **वैसे पदार्थ में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चार अंश है, ऐसा नहीं।** समझ में आया? आम में एक मीठा रस है, एक जाली। जाली होती है न? जालीवाला आम। गुठली और छिलका। ऐसे चार अंश हैं, ऐसा नहीं है। वह तो चार भाग पड़ गये। **वैसे पदार्थ में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चार अंश, ऐसा नहीं। इस प्रकार है। जैसे आम का फल है और उससे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से अभिन्न है।** रंग से देखो तो पूरा आम, स्पर्श से देखो तो पूरा आत्मा, रस से देखो तो पूरा आम, गन्ध से देखो तो पूरा आम। समझ में आया? उसी प्रकार जीव में द्रव्य से देखो तो अखण्ड वस्तु, क्षेत्र से देखो तो अखण्ड वस्तु, काल से देखो तो अखण्ड वस्तु। काल अर्थात् त्रिकाल, हों! भाव से देखो तो त्रिकाल वस्तु एक ही है। समझ में आया? परन्तु उसका द्रव्य का भाग अलग, क्षेत्र का अलग, काल का अलग, भाव का अलग—ऐसे चार भाग नहीं हैं।

न भाव से खण्डित करता हूँ;... अर्थात् कि भाव भिन्न चीज़ है। अनन्त गुण का भाव। परन्तु अनन्तगुणभाव भाव देखो तो वह द्रव्य है, भेद नहीं। भाव देखो तो द्रव्य है, द्रव्य देखो तो क्षेत्र, काल और भाव है। क्षेत्र से देखो तो द्रव्य, काल और भाव है; काल देखो तो द्रव्य, क्षेत्र और भाव है। समझ में आया? आम का दृष्टान्त दिया। आम देखो तो वह है। रंग से देखो तो पूरा आम, रस से देखो तो पूरा आम, गन्ध से देखो तो पूरा आम, स्पर्श से देखो तो भी पूरा आम। परन्तु उसकी गुठली, जाली, रस और छिलका। छाल-छाल-

छिलका। ऐसे चार टुकड़े से आम नहीं है। चार भाग ऐसा आम नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा में एक द्रव्य कुछ अलग, क्षेत्र अलग, काल अलग और भाव अलग—ऐसा नहीं है। द्रव्य से देखो तो भी वह। अनन्त गुण का पिण्ड। क्षेत्र से देखो तो अखण्ड प्रदेश। एक द्रव्य, एक क्षेत्र, काल से देखो तो त्रिकाल, एक काल। भाव से देखो तो अकेला भाव। अकेला भाव। समझ में आया? गजब! आम का दृष्टान्त देकर गजब किया है।

मैं तो **सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।** लो। सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। सुविशुद्ध। सुविशुद्ध का अन्तिम है न यह पीछे का गुण? **एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।** एक ज्ञानमात्र भाव हूँ। इस ज्ञानमात्र भाव में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों इकट्ठे आ गये। चारों कहीं भिन्न नहीं हैं। देखो! यह अभेद-अभेद। आहाहा! **शुद्धनय से देखा जाए तो...** अर्थात् एकरूप द्रव्य से अभेद से देखा जाये। **देखा जाए तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता।** दिखता नहीं, है नहीं। समझ में आया? भारी ऐसा धर्म! धर्म की यह पद्धति होगी? ऐसा? जिसमें धर्मी को ऐसा कहा न, ज्ञानी को, ऐसा अपने को देखता है।

द्रव्य, गुण-पर्याय का पिण्ड वह द्रव्य। एक असंख्य प्रदेश क्षेत्र, वह अखण्ड, वही त्रिकाल और वही भावस्वरूप। समझ में आया? धर्मीजीव एक वस्तु के चार भाग को भेद करके नहीं देखता। ऐसा कहा। एक वस्तु सब (पूरी) द्रव्य कहो तो वह, क्षेत्र कहो तो वह, काल कहो तो वह, भाव कहो तो वह। वस्तुरूप से वह द्रव्य है, क्षेत्ररूप से वही द्रव्य-गुण-पर्याय का क्षेत्र जो अखण्ड एकरूप, वह क्षेत्र है, एक ही रूप है। काल कहो तो त्रिकाल वही वस्तु है। भाव कहो तो अकेले भावरूप वही वस्तु है। समझ में आया? देखो! यह आत्मा ऐसा है। अपनी दृष्टि का विषय दूसरा कौन करे ऐसा है? ऐई! क्या कहा?

मुमुक्षु : अपनी दृष्टि का विषय दूसरा कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी आँख का विषय दूसरी आँख देकर कैसे करे? समझ में आया? असंख्य प्रदेश कहो तो वह, द्रव्य कहो तो वह, काल कहो तो वह। काल अर्थात् एक समय की अवस्था नहीं, हों! त्रिकाल। भाव कहो तो वह। भाव में फिर द्रव्य-क्षेत्र-काल भिन्न कहाँ रह गये? द्रव्य में क्षेत्र-काल-भाव भिन्न कहाँ रह गये? क्षेत्र में द्रव्य-

काल-भाव कहाँ रह गये ? काल में द्रव्य-क्षेत्र-भाव भिन्न कहाँ रह गये ? भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल भिन्न कहाँ रह गये ? यह सब अन्तिम कलश हैं वे बहुत ऊँचे हैं।

अच्छे में अच्छा माल लाना, ऐसा कहे। अच्छे में अच्छा, ऊँचे में ऊँचा माल। कीमत में दिक्कत नहीं, ऐसा कहे। कीमत में दिक्कत नहीं कीमत चाहे, जितनी हो परन्तु अच्छे में अच्छा (माल) देना। मखमल हो या दूसरा हो, अच्छे में अच्छा माल कोमल। अच्छे में अच्छा माल देना। भरूच का एक पारसी था। एक ही भाव। लड़का आवे, बड़ा आवे या वैरिस्टर आवे, एक ही भाव। कम-अधिक बोले तो कहे, यहाँ नहीं बापू! जो भाव है, लिखा है तत्प्रमाण तुम्हें लेना हो तो ले जाओ। यह कम या अधिक, अमुक यह शब्द नहीं। दुकान में कहता। बहुत वर्ष पहले थी। अब अभी क्या हो... टोपी चाहिए थी एक ... मखमल की टोपियाँ। उसके भण्डार में ले गया। कीमत में ऊँची थी। कम-ज्यादा भाव ऐसी दुकान है नहीं। यहाँ भगवान कहते हैं, हमारा एक ही माल है। आहाहा! आठ वर्ष का लड़का हो तो भी यह, पण्डित हो तो भी यह, देव हो तो भी यह और रंक हो तो भी यह, नारकी हो तो भी यही। समझ में आया ?

शुद्धनय से देखा जाए तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता। इसलिए ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता। लो। अन्तर्दृष्टि करने में भेद नहीं होता। अन्तर्दृष्टि करने में अकेला अभेद ही दृष्टि का विषय होता है।

कलश - २७१

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है-इस अर्थ का काव्य कहते हैं-

(शालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।२७१।।

श्लोकार्थ : [यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेय-ज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः] जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए; [ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोल-वल्गन्] (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह [ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत्-वस्तुमात्रः ज्ञेयः] ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय स्वयं ही ज्ञाता-इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए)।

भावार्थ : ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है। और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जाननेयोग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है। और स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-इन तीनों भावों से युक्त सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है।२७१।

कलश - २७१ पर प्रवचन

अब, **ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है,...** अब और ज्ञान भिन्न, ज्ञेय भिन्न और ज्ञाता भिन्न, आहाहा! तीन को अब निकाल डालते हैं। समझ में आया? जाननेवाला मैं, ज्ञात हो, ऐसे छह द्रव्य; जाने ज्ञान—ऐसे भाग नहीं हैं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है... आहाहा! छह द्रव्य को जानने की जो पर्याय ज्ञान, वह पर्याय और द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों होकर ज्ञेय स्वयं ही है। ज्ञान भी स्वयं ही है और ज्ञाता भी स्वयं ही है। समझ में आया? आहाहा! कहाँ समाहित किया, देखो न अन्त में। २७१

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।२७१।।

ओहोहो! ऐसी बात भी अन्यत्र कहीं है नहीं, ऐसी बात है। आहाहा! वीतराग के मार्ग को वीतरागी सन्तों ने वीतराग के चारित्र में यह बात वर्णन की है। **'यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेय-ज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः'** क्या कहते हैं? **जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए;...** ज्ञेय जगत के हैं, उनका ज्ञान - ऐसा नहीं मानना। **यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र...** छह द्रव्य का जानना, इतना मैं नहीं। आहाहा! छह द्रव्य की जानने की ज्ञान की पर्याय और द्रव्य-गुण तीनों होकर मैं ज्ञेय हूँ। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह... क्या कहते हैं? देखो! ओहो! जगत के जितने ज्ञेय हैं, छह द्रव्य, अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद आदि, उनका ज्ञान अपना अपनेरूप परिणमता है, वह स्वयं ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान आ जाता है। वह ज्ञेय मेरी पर्याय, मेरा द्रव्य, मैं, वह ज्ञेय हूँ। वे छह द्रव्य ज्ञेय हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? परन्तु **ज्ञान की कल्लोलों के**

रूप में परिणमित होता हुआ... ज्ञान की अवस्था छह द्रव्य को जाननेरूप अपनी पर्याय परिणमती है, अपना द्रव्य, गुण के अन्दर की पर्याय वह भी अपनी पर्याय ज्ञेय है, वे ज्ञेय नहीं। आहाहा! मुझमें सब समाहित हो गया है। ज्ञेय भी मैं, ज्ञान भी मैं, ज्ञाता तो मैं। आहाहा! मैं एक ही हूँ। छह द्रव्य का ज्ञान इतनी पर्याय जितना मैं नहीं, ऐसा कहते हैं। उतना ज्ञेय मैं नहीं। मैं तो छह द्रव्यों की पर्यायरूप परिणमता ज्ञान, वह परिणमता ज्ञान, वह ज्ञेय है और ऐसी अनन्त पर्यायों को पिण्ड गुण,... यह तीनों होकर मैं ज्ञेय हूँ। आहाहा!

यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए;... ओहोहो! **'ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोल-वल्गन्' ज्ञेयों के आकार से...** आकार, यह व्यवहार से कहा। उस सम्बन्धी का अपना परिणमन, उसके **ज्ञान की कल्लोल...** ज्ञान की कलारूप, पर्यायरूप परिणमना, वह मेरी पर्याय का ही धर्म है। वह ज्ञेय के कारण नहीं, वह ज्ञेय—ऐसा नहीं। वह ज्ञेय के कारण नहीं, वह ज्ञेय नहीं। मेरी ज्ञान की पर्याय ही इतनी। ज्ञान की पर्यायरूप से छह द्रव्य का जैसा स्वरूप है, उसरूप पर्याय परिणमे, वह मेरा ज्ञेय है। समझ में आया? यह समझ में आये ऐसा है, हों! न समझ में आये, ऐसा नहीं। भाषा तो बहुत सादी है।....

ज्ञान मैं, ज्ञाता मैं और ज्ञेय यह लोकालोकऐसा है नहीं। यह व्यवहार हो गया। यथार्थ में यह छह द्रव्य सम्बन्धी की जो ज्ञान की अवस्था का परिणमन, यह परिणमन वह वास्तव में तो मेरा ज्ञेय है। अकेला परिणमन अकेला ज्ञेय नहीं। द्रव्य, गुण, पर्याय तीन होकर मैं ज्ञेय हूँ। यह होकर मैं ज्ञेय हूँ, ऐसा नहीं। छह द्रव्य है, वे ज्ञेय होकर मैं ज्ञेय हूँ, ऐसा नहीं। कहो, समझ में आया या नहीं?

मेरे अस्तित्व में... चैतन्यमात्र मैं हूँ, ऐसा कहना है न? मैं चैतन्यमात्र हूँ। ज्ञानमात्र स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही अपना ज्ञेय और स्वयं ही अपना ज्ञाता। आहाहा! बहुत धीरज चाहिए। कहते हैं कि तेरा आत्मा एक समय की पर्याय में ज्ञान की पर्याय परिणमति है, उसमें छह द्रव्य सम्बन्धी की पर्याय में ज्ञेय का आकार आ गया। आकार अभी विशेष है। उसमें ज्ञान आ गया। वह स्वयं ज्ञेय है। अकेली पर्याय ज्ञेय नहीं। द्रव्य-गुण तीनों होकर मैं ज्ञेय हूँ। यह छह होकर मैं ज्ञेय हूँ, ऐसा नहीं। पण्डितजी! भारी सूक्ष्म बातें हैं! वस्तु ऐसी है।

जगत में मैं ही हूँ। दूसरी चीज़ें हैं या नहीं, उसके साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं। आत्मा वस्तु है, ज्ञानस्वभावी अनन्त गुणवाला तत्त्व है, उसे अनन्त गुण के भेदवाला तो निकाल डाला, अब कहते हैं कि परन्तु परज्ञेय और मैं ज्ञान और ज्ञाता मैं, यह तीन भेद भी उसमें नहीं है। ऐसा व्यवहार भी नहीं है। परन्तु यह तो ज्ञाता मैं, ज्ञान मैं और ज्ञेय मैं, ऐसे तीन भेद नहीं। मैं तीनों एक ही हूँ। समझ में आया?

'ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत्-वस्तुमात्रः ज्ञेयः' है? **ज्ञान-ज्ञेय...** द्रव्य, गुण, पर्याय। ज्ञानगुण, ज्ञाताद्रव्य **वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञाता-इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए)।** तथापि इन तीन भेद से समझाते हैं। परन्तु अब यह ज्ञाता, यह ज्ञान और मैं ज्ञेय, ये तीनों भेद जिसमें नहीं, ऐसा कहते हैं। परज्ञेय तो नहीं... आहाहा! समझ में आया? भारी मार्ग ऐसा, भाई! वह तो तत्सूतरी करणेन... काउसग्ग करे, हो गया धर्म जाओ। चन्दुभाई! तत्सूतरी करो, इच्छामि पडिकमणा करो, जाओ सामायिक हो गयी। यह सामायिक, वह धर्म है। जाओ। आहाहा! भाई! तुझमें तेरा अस्तित्व होनेरूप तू है, इसकी तुझे खबर नहीं है। आहाहा!

तीन काल, तीन लोक के जितने द्रव्य हैं, गुणों की पर्यायें, उन सबको तेरी ज्ञान की एक समय की पर्याय जानती है, वही तेरा ज्ञेय है, यह ज्ञेय नहीं। आहाहा! एक समय की पर्याय ज्ञेय नहीं। यह सब द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञेय; उसका पूरा ज्ञान, वह ज्ञान; पूरा ज्ञाता, वह आत्मा। तीन होकर वस्तु तो एक की एक है। सूक्ष्म श्लोक बहुत सरस है। वस्तु के मर्म का अकेला मक्खन है। ओहोहो! कहते हैं, आत्मा अपने द्रव्य पर दृष्टि देने से वह स्वयं ही ज्ञाता, स्वयं ज्ञान, स्वयं ज्ञेय। परन्तु छह द्रव्य ज्ञेय और मैं ज्ञान तथा ज्ञाता, ऐसा कोई सम्बन्ध पर के साथ ज्ञेयज्ञायक का सम्बन्ध, वह भी नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया? इसका भावार्थ कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५७५, श्लोक-२७१ बुधवार, पोष कृष्ण २
दिनांक - १३-०१-१९७१

२७१ कलश, इसका भावार्थ है। है ? यह क्या कहते हैं ? यहाँ तो परज्ञेय को उड़ाते हैं। आत्मा **ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से...** वह जानने की क्रिया अपने में होती है। जगत के जो ज्ञेय हैं, उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने में परिणमता है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप ही है, वह ज्ञेयस्वरूप नहीं। ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्य ज्ञात होते हैं, वे छह द्रव्य ज्ञात नहीं होते। वास्तव में छह द्रव्य सम्बन्धी का अपना जो ज्ञान, उस ज्ञान में छह द्रव्य अपने में अपने कारण से ज्ञात हों, यह तो आ गया, यह वास्तव में उसका ज्ञेय है। अपने ज्ञान का यह ज्ञेय है। ज्ञान का वह ज्ञेय है, यह व्यवहार है। समझ में आया ? नहीं समझ में आया ? पण्डितजी ! समझ में आया या नहीं ? नहीं आया ?

श्रोता : परद्रव्य ज्ञात होते हैं इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे ज्ञेय नहीं हैं, वे ज्ञेय नहीं हैं। वे नहीं, वे ज्ञेय ही नहीं। उस ज्ञेयसम्बन्धी अपनी ज्ञान की पर्याय जाननेरूप परिणमती है, वह स्वयं अपनी पर्याय में अस्तित्व वह ज्ञान की पर्याय का है, वह उसका ज्ञेय है। अन्य ज्ञेय नहीं। समझ में आया ?

ज्ञानमात्र भाव... यह आत्मा तो जाननस्वभाव है। कहते हैं कि वह छह द्रव्य को भी जाननेरूप जाननक्रिया अपनी अपने में अपनी पर्याय में होती है। वह वास्तव में तो अपना ज्ञेय हैं। समझ में आया ? अन्तिम कलश है न, इसलिए एकदम (अन्तर की बात ली है)। अन्दर स्वयं ही छह द्रव्य को जानने की ज्ञान की जो पर्याय, वह तो अपनी है। उसमें छह द्रव्य का ज्ञान, उसे छह द्रव्य का कहना, वह तो व्यवहार है। वह तो ज्ञान ही अपना है।

श्रोता : ज्ञान की तरंग है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी तरंग-कल्लोलें हैं। पढ़कर आये होंगे न। शब्द आता है। कल्लोल है न ! आहाहा !

श्रोता : चौथी लाईन।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, चौथी। कहते हैं... कहो, समझ में आया या नहीं ?

श्रोता : हाँ, जी ! स्वयं ही ज्ञेय और परसम्बन्धी का जो ज्ञान है, वह तो व्यवहार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार है। सुमनभाई कहे ऐसा लड़का, ऐसा लक्ष्य ! बड़ा प्रोफेसर है और प्रोफेसर का ऑफिस। ऑफिस ही कहलाये न ? ऑफिस कहलाये ? कौन जाने क्या तुम्हारी भाषा होगी ?

श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह बड़ा... वह ऑफिसु है, ...किसे कहते हैं ऑफिसर ?

यह आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, तो ज्ञान में परिणमन होता है, वह तो अपने अस्तित्व में अपने से अपना वह ज्ञेय है, उसका ज्ञान नहीं। वह ज्ञेय और यह ज्ञान, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? जाननक्रियारूप भाव, वह तो ज्ञानस्वरूप है, वह कहीं परज्ञेयस्वरूप नहीं है। **और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है।** अब देखो, स्पष्टीकरण करते हैं। क्योंकि **बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है,...** रागादि या छह द्रव्य, वह अपना ज्ञान, द्रव्य ज्ञानगुण और ज्ञान की पर्याय, इनसे छह द्रव्य वे तो ज्ञेय हैं, वे तो भिन्न हैं। उस भिन्न का यहाँ ज्ञान, ऐसा नहीं होता। वह अपना ज्ञान है। पण्डितजी !

श्रोता : सूक्ष्म बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है, लो ! पण्डितजी ऐसे संस्कृत के प्रोफेसर।

आहाहा ! विषय ऐसा है। अपने अस्तित्व में स्वयं ज्ञानमात्र स्वभाव है। अब ज्ञानमात्र जो ज्ञान की परिणतिरूप परिणमे, वह तो अपनी क्रिया है। वह ज्ञेयरूप परिणमती है ? ज्ञेय तो भिन्न है। समझ में आया ?

बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते;... राग का ज्ञान हुआ, उसमें कहीं राग ज्ञान की पर्याय में प्रविष्ट-आता नहीं। लोकालोक का ज्ञान हुआ, उसमें लोकालोक कहीं ज्ञान की पर्याय में आता नहीं। वह तो अपने ज्ञान का परिणमन का अस्तित्व है, इतना उसका स्वभाव है, वह तो स्वज्ञेय है। आहाहा ! ऐसा वीतराग का मार्ग ! वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। वीतराग ने कहा है, वह तो जैसा है, वैसा कहा है न ? आहाहा !

किसे कहते हैं कि तेरे ज्ञान में... आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। तेरा भाव, ज्ञानभावी

आत्मा, ज्ञानभावी आत्मा, ज्ञ-स्वभावी आत्मा है, तो उस ज्ञान में परिणमन जाननक्रिया होती है, वह तो अपनी क्रिया है, वह कहीं ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उनकी वह क्रिया नहीं है तथा ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उसमें ऐसा भी नहीं; वह तो ज्ञेयसम्बन्धी की अपनी जाननक्रियारूप परिणमन हुआ, वही वास्तव में तो अपना ज्ञेय और स्वयं ज्ञान और स्वयं ज्ञाता है। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक... समझाना है न! आकार, वह कहाँ आकार में आता है परन्तु जैसे ज्ञेय हैं, उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान, अपने कारण से परिणमता है, उस ज्ञेय के कारण से नहीं। उसे उन ज्ञेयसम्बन्धी का अपना ज्ञान है न, इसलिए उसे ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आती है, ऐसा कहने में आया है। भारी सूक्ष्म, भाई! यह तो दया, व्रत और भक्ति के परिणाम से धर्म हो, वहाँ अटके हैं। यह तो बहुत सूक्ष्म है। अन्तिम कलश है न!

भगवान! तू चैतन्यभाववाला है न? या ज्ञेयभाववाला है? आत्मा चैतन्यभाववाला है न? या ज्ञेयस्वभाववाला है? आहाहा! तो ज्ञानस्वभाववाला, वह ज्ञानरूप परिणमे! वह ज्ञेयरूप कैसे परिणमे? वह ज्ञेयरूप कैसे हो? आहाहा! समझ में आया? हाँ, उसके ज्ञान के भाव में, परिणमन में वे ज्ञेय जैसे हैं, उसी प्रकार का ज्ञान अपने कारण से, ज्ञानभावी आत्मा होने से, ज्ञान का परिणमन ज्ञानरूप होता है। समझ में आया?

शरीर में रोग आया और ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। यहाँ तो (ऐसा) कहते हैं। वह रोग और शरीर की अवस्था परज्ञेयरूप से है। वह ज्ञान जो वस्तु आत्मा है, उसके अस्तित्व की पर्याय में वे ज्ञेय आते नहीं। वह रोग और जीर्ण शरीर दिखता है, वह ज्ञान की पर्याय में नहीं आते। ज्ञान की पर्याय उस सम्बन्धी को जानने का अपना ज्ञान, अपने सम्बन्धी जानने का ज्ञान उस सम्बन्धी ज्ञात होता है। ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञानभाव से जाननक्रियारूप ज्ञान परिणमता है, वह कहीं ज्ञेयरूप परिणमता है और ज्ञेय यहाँ आ जाते हैं, ज्ञेय में ज्ञान जाता है या ज्ञान में ज्ञेय आते हैं, ऐसा नहीं है। कहो, वजुभाई! यह कितना भेदज्ञान कराया! आहाहा!

तेरा भाव, स्वभाव ज्ञान-आत्मा है, वह तो ज्ञानस्वरूप है। अब ज्ञानस्वरूप और

जगत लोकालोक ज्ञेय, रागादि सब; उस सम्बन्धी की झलक अर्थात् जैसा वह है, वैसा यहाँ ज्ञान अपने कारण से, अपने स्वभाव के कारण से जाननक्रियारूप होता है, वह वास्तव में तो अपना ज्ञेय है। अन्य ज्ञेय उसके हैं नहीं। आहाहा! वीतरागमार्ग सूक्ष्म है। लोगों को सुनने मिला नहीं। बाहर में भटक मरकर जिन्दगी जाती है। आहाहा! कितना धीर हो।

तेरे ज्ञान में पर ज्ञात होते हैं, ऐसा नहीं। पर को जानता है, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। पर को करे तो नहीं, पर से इसमें होवे तो नहीं, परन्तु पर ज्ञात होता है, ऐसा भी नहीं है और पर ज्ञान की पर्याय में आता है, ऐसा नहीं है। वस्तु द्रव्य ज्ञायकभाव, वह स्वयं ज्ञान की पर्यायरूप जाननक्रियारूप, स्वभाव की क्रियारूप वह हो, तो वह तो अपनी क्रिया है, स्व-परप्रकाशक की क्रिया है। उसमें वह ज्ञात होता है—ऐसा कहना, वह तो व्यवहार है। वह ज्ञात नहीं होता, अपनी जाननक्रिया ही ज्ञात होती है। सुमनभाई! यह तो लॉजिक से आता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा गजब मार्ग, भाई!

अरे! भगवान! तू इतना है। तू इतना है और ऐसा ही है। दूसरे प्रकार से माने तो तेरे स्वरूप का घात होता है। आहाहा! तेरा स्वरूप इतना है। ऐसा सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं कि मेरे ज्ञान की पर्याय में लोकालोक ज्ञात होता है, ऐसा नहीं। मेरी ज्ञान की पर्याय को मैं जानता हूँ। आहाहा! लोकालोक को जानना कहना, वह असद्भूतव्यवहार उपचार है, झूठा व्यवहार है। यह सच्चा व्यवहार है अर्थात् कि जितने ज्ञेय लोकालोक में हैं, उन्हें अपने जानने के भाववाला तत्त्व होने से उन्हें और अपने को जानने की क्रियारूप, अपने में अपने कारण से ऐसा अस्तित्व परिणमित होता है। वह वास्तव में तो ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञान का परज्ञेय है, वह तो व्यवहार है। ऐसा है नहीं। आहाहा! मगनभाई! ऐसी बात है। क्या हो?

कहते हैं, **बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है,...** अब ज्ञान परिणमित तो हुआ है। तो उस ज्ञान में वे ज्ञेय तो आते नहीं। तब क्या हुआ? कहते हैं, ज्ञान परिणमा तो है। छह द्रव्य और लोकालोक हैं, तद्नुसार अपनी ज्ञानपर्याय हुई तो है, परन्तु हुई है तो किसमें हुई है? अपने में और अपने से हुई है। वे ज्ञेय हैं, इसलिए हुई है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

ज्ञेयों के आकार... अर्थात् विशेषताएँ। जितने परज्ञेय हैं, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय, वे सब विशेष, उनकी ज्ञान में **झलक...** अर्थात् उस सम्बन्धी का ज्ञान अपने में परिणमित होता है। वह **ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है...** वह ज्ञेयाकार दिखता है।

परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगे हैं। ज्ञान की पर्याय का ऐसा स्वभाव है। समझ में आया? नदी के प्रवाह में रात्रि के भाग में... परमात्मप्रकाश में दृष्टान्त दिया है। नदी का पानी स्वच्छ-स्वच्छ ऐसे निर्मल प्रवाह है। ऐसा... ऐसा... कभी व्याख्यान सुना है? कभी यहाँ का व्याख्यान सुना है? पहली ही बार? सुनो।

यह आत्मा जो है, वस्तु है अस्ति-सत्ता है, तो वह ज्ञानस्वभाववाला आत्मा है। ज्ञानस्वभाववाला, जाननस्वभाव। जैसे शक्कर है तो मिठास और सफेद स्वभाववाली शक्कर है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा वस्तु है। तो उसका ज्ञानभाव, ज्ञानस्वभाव, वह ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूप में... आज की बात बहुत सूक्ष्म है। भावार्थ है, भाई! २७१ कलश का भावार्थ है न?... पहले से लेते हैं।

ज्ञानमात्र भाव... यह तो कहीं अनजाने को अपने आप सूझे, ऐसा नहीं है। ज्ञानमात्र भाव। यह वस्तु अन्दर है न? जगत के ज्ञेय जो, जगत के जाननेयोग्य पदार्थ हैं, उनका यह जाननेवाला है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है, कहते हैं। व्यवहार अर्थात् कि वास्तविकता नहीं। यह आत्मा ज्ञानभाव जाननक्रियारूप ज्ञानस्वरूप। वह तो उसमें जानने की क्रिया (होती है) क्योंकि उसका स्वभाव ज्ञानगुण शक्ति सत्त्व है। आत्मा तत्त्व है, उसका ज्ञान सत्त्व है। सत्त्व अर्थात् भाव है। उस भाव का वर्तमान परिणमन जाननेरूप होता है। आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञान गुण स्वभाव है। ज्ञ-स्वभावी भगवान आत्मा, हों! आत्मा को भगवान कहते हैं। उस जाननस्वभाव का वर्तमान होना, जाननेरूप होना होता है। जाननक्रियारूप ज्ञानस्वरूप है। बहुत सूक्ष्म है।

और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है। क्या कहते हैं? स्वयं ही अपने ज्ञान से स्वयं अपने को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। चैतन्य दर्पण है, वह चैतन्य दर्पण वस्तु है। वह स्वयं अपने ज्ञेय को करके स्वयं अपने को जानता है। देखो! **स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है।** अर्थात्? ज्ञान भी अपना भाव और ज्ञात होनेयोग्य पर्याय और द्रव्य-गुण वह भी ज्ञेय अपने में अपनी। आहाहा! तत्त्व-वस्तु ऐसी है। **बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है,...** भगवान आत्मा ज्ञानभावी वस्तु, ज्ञानस्वभावी वस्तु, उसमें शरीर, वाणी, मन... अरे! राग-द्वेष, विकल्प और यह जगत - यह सब ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा से, उसके अस्तित्व से यह अस्तित्व अत्यन्त भिन्न है। उन **बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है,...** ज्ञानभाव

स्वभाव है, उससे ये ज्ञेय—शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप के विकल्प रागभाव, वे सब ज्ञानस्वभाव में नहीं आते। वे सब ज्ञेय ज्ञानस्वभाव से अलग रहते हैं।

घट को जाननेवाला घटरूप नहीं होता, वैसे ही घट का जाननेवाला घट को जानता है, ऐसा नहीं है। वह घट सम्बन्धी का ज्ञान और अपने सम्बन्धी का ज्ञान, ऐसे ज्ञानरूप होने से, वह स्वयं ज्ञेय है। ज्ञान का स्वयं ज्ञेय है और ज्ञान अपना गुण है। गजब, भाई! ऐसा तत्त्व। आहाहा! कभी इसे अभ्यास ही नहीं होता। जगत के अभ्यास कर-करके (भटक रहा है)। सुमनभाई को पहिचानते हो न? रामजीभाई के (पुत्र)। उसने वहाँ बड़ा अभ्यास किया है। अमेरिका में। इनका लड़का है। मासिक वेतन अच्छा आठ-आठ हजार। लोगों को अभिमान आ जाए न? धूल में भी नहीं, कहते हैं। अब सुन न! इतनी उम्र में, ४५-४६ वर्ष की उम्र और ऐसा वेतन, आठ हजार, बारह महीने में लाख रुपये। ओहोहो! परन्तु क्या है? वह तो जड़ है, पर है। वह वस्तु है जो पैसा, लक्ष्मी, इज्जत वह तो परवस्तु ज्ञेय है, परवस्तु है।

उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना और अपने सम्बन्धी का ज्ञान अपना उसरूप आत्मा ज्ञान की पर्याय की क्रियारूप होता है। वह ज्ञात होता है, उसकी क्रियारूप ज्ञान नहीं होता। क्योंकि ज्ञान की दशा से वे चीज़ें भिन्न हैं। उन भिन्न चीज़रूप ज्ञान नहीं होता और भिन्न चीज़ ज्ञान की दशा में नहीं आती। लॉजिक से तो बात चलती है परन्तु वह सब विषय ही नहीं मिलता। ....जगत से पूरी बात ही अलग है। आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ एक समय में तीन काल का ज्ञान, वह तो लॉजिक से और न्याय से तो बात करते हैं कि तेरा अस्तित्व है या नहीं? है या नहीं? है तो क्या है? तू है कौन? ज्ञानभाव है। वह ज्ञानस्वभावी जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन उसका स्वभाव है। जानना ऐसा स्वभाव, उसमें यह पर जो वस्तु है, वह जानने के स्वभाव के अस्तित्व में नहीं आती और उसका जानना यहाँ होता है, वह उसका जानना नहीं, परन्तु जानने की अपनी दशा है, उसे वह जानता है। न्याय से-लॉजिक से तो आता है, परन्तु पकड़ना तो इसे पड़ेगा या नहीं? यह कोई पकड़ा दे, ऐसा है? पण्डितजी! लो, यह तो संस्कृत के बड़े प्रोफेसर हैं। जयपुर (के हैं)। कहो, समझ में आया? आहाहा!

ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक... जैसे दर्पण है दर्पण, उसमें सामने आम, कोयला, लकड़ी, सोना, बिच्छू (दिखता है), वह तो दर्पण से भिन्न चीज़ है न? दर्पण से भिन्न चीज़ है न? उस दर्पण में झलक दिखती है, वहाँ आम और कोयला है? अग्नि और पानी वहाँ है? अग्नि और पानी होवे, वह दर्पण में दिखता है। वह अग्नि और पानी का अस्तित्व वहाँ है? दर्पण की स्वच्छता की अवस्था का वह अस्तित्व है क्योंकि यदि अग्नि और पानी दर्पण में होवे तो हाथ लगाने से गर्म होना चाहिए। अग्नि गर्म है, इसलिए वह गर्म होना चाहिए परन्तु ऐसा तो है नहीं। उस दर्पण की स्वच्छता के स्वरूप में अपनेरूप स्वयं दर्पण स्वच्छरूप परिणमित हुआ है, उसमें अग्नि और पानी सम्बन्धी स्वच्छता का परिणमन स्वयं के कारण से हुआ है, उस चीज़ के कारण से नहीं है। यह जरा दृष्टान्त होवे तो मुश्किल से पकड़ में आये, ऐसा है। यह तो अता-पता बिना की बातें हैं। समझ में आया?

उस दर्पण में अग्नि को... दर्पण स्वच्छ है। यह अग्नि और पानी है। बर्फ और अग्नि है। अग्नि ऐसे-ऐसे होती है, बर्फ पिघलता जाता है। उसमें वह दिखायी देता है। वहाँ बर्फ और अग्नि है? बर्फ और अग्नि का अस्तित्व / मौजूदगी तो उसमें है, दर्पण में नहीं। दर्पण में तो उसकी स्वयं की अस्तित्व की जो स्वच्छ दशा हुई, वह उसमें है। वह अग्नि और पानी सम्बन्धी की स्वच्छता, वह दर्पण की स्वयं की दर्पणरूप क्रिया, परिणमन (हुआ, वह) जड़ की पर्याय है, इसकी नहीं। समझ में आया?

इसी प्रकार यह चैतन्य दर्पण। भगवान आत्मा देह-देवल से भिन्न ज्ञान की मूर्ति है। यह कहते हैं कि **ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है...** ज्ञान में जो सामने ज्ञेय हैं, उसी प्रकार की विशेषतारूप से अपनी ज्ञान की दशा होने पर मानो कि परज्ञेयरूप हुआ, ऐसा इसे दिखता है। अग्नि की ज्वाला ऐसे होवे, इसलिए बर्फ पिघले, इसलिए वहाँ मानो होता है? वह तो दर्पण की स्वच्छता का रूप है। इसी प्रकार चैतन्य दर्पण भगवान आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर, वाणी, मन, यह जड़ परवस्तु, इस ज्ञेयसम्बन्धी का अपना ज्ञान, उसमें होने से मानो ज्ञेय के आकार हुआ, ऐसा लगता है, परन्तु वह ज्ञेय आकार का नहीं है, ज्ञान आकार का स्वरूप है। ऐसा तत्त्व जाने बिना इसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता और कभी धर्म नहीं होता। पूजा, भक्ति और व्रत कर-

करके मर जाए, सूख जाए। समझ में आया? सेठ! यह सब अपवास करे, पूजा, भक्ति, यात्रा, दौड़ा-दौड़ी। मर जाते हैं परन्तु तू कौन है, उसे जाने बिना वहाँ कहाँ तू था? समझ में आया?

कहते हैं कि **परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं।** जैसे दर्पण की स्वच्छता ही उस अग्नि और पानी के रूप को माने, स्वच्छरूप होता दर्पण, वह दर्पण की दशा है। इसी प्रकार यह ज्ञान की वर्तमान दशा पर को जानने की (हो, वह) ज्ञान की कल्लोल है। वह ज्ञेय की कल्लोल नहीं, ज्ञेय की तरंग नहीं, ज्ञेय की दशा नहीं। आहाहा! समझ में आया? गजब, भाई! धर्म का ऐसा मार्ग! इसने कभी सामने ही कहाँ देखा है कि मैं कौन हूँ? मुझमें क्या है और मेरा सत्त्व, सत्, मैं एक सत् हूँ। है, है तो आदि-अन्तरहित चीज़ है। है, उसकी शुरुआत नहीं होती; है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती; है, उसका नाश नहीं होता। तो है, तो वह वस्तु क्या है? जिसका स्वभाव, स्व-भाव। ....अपना निजभाव। वह तो ज्ञान जानना। ...वह जानने की क्रिया होने पर, वर्तमान जाननक्रिया होने पर वह परवस्तु जो ज्ञेय है, उसकी जाननक्रिया नहीं है। ज्ञेय हैं, वे यहाँ नहीं आते, यह स्वयं ज्ञेयरूप परिणमित नहीं होता। अपनी ज्ञान की अवस्थारूप होता है, वह अपना ज्ञेय और अपना ज्ञान है।

तुम्हारे यहाँ पढ़ने में नहीं आया होगा। ऐसा, उसमें यह कहीं आया होगा? वजुभाई! अभी धर्म के नाम में आता नहीं। धर्म के नाम में या तो साधु होकर मुँड़ाये—साधु हो जाए, भक्ति करो, पूजा करो, तपस्या करो, अपवास करो। अकेली धमाल। तू कौन है, यह जाने बिना तेरे सब व्यर्थ हैं। समझ में आया? धर्म करनेवाला कौन और कैसे है? उसके अस्तित्व के माहात्म्य बिना इसकी धर्म की क्रिया कभी नहीं हो सकती। समझ में आया? यह क्या कहा?

जैसे दर्पण में अग्नि और पानी जैसा दिखायी देता है, वह तो दर्पण की दशा है, दर्पण के अस्तित्व की दशा है। वह कहीं दूसरी चीज़ सामने है, उसकी दशा नहीं है। इसी प्रकार यह ज्ञानस्वरूपी भगवान, इसमें जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, ऐसा कहना, वह तो कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय की तरंगें हैं। वे ज्ञेयों की तरंगें नहीं हैं। समझ में आया? यह ऐसा सूक्ष्म है। बाहर में गाड़ी हाँककर बेचारे को रोककर रखा। तत्त्व की खबर नहीं होती, यह वस्तु क्या है? मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? मेरी क्रिया क्या होती है? यह जड़ की क्रिया तो इसकी है नहीं,

क्योंकि अस्तित्वरूप से इसका अस्तित्व भिन्न है। परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प का अस्तित्व भी भिन्न है, वह भी आत्मा की क्रिया नहीं है। आत्मा से तो वह शुभ-अशुभराग, देहादि की क्रिया उसके अस्तित्व में है, उस अस्तित्व सम्बन्धी का अपने ज्ञान के अस्तित्व का परिणमन होने पर स्वयं वह तरंगरूप परिणमता है, वह अपनी अवस्था है; पर को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा वस्तु का स्वभाव है। स्व अर्थात् ऐसा अपना भाव है। ऐसे स्वभाव की खबर नहीं होती और इसे धर्म हो जाए। यह मर जाए तो भी नहीं होता। सूख जाए न! समझ में आया?

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, सत्-शाश्वत् है। है, सत् चिदानन्द—चिद् और आनन्द। ज्ञान और आनन्द उसका रूप है। आहाहा! आनन्दरूप क्या कहीं से लाना है? भाई! पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव होते हैं या नहीं? वह तो मलिन अस्तित्व है, वह विकारी अस्तित्व है। तेरा स्वरूप तो उसे जानने में, उसे जानने में रुके, ऐसा भी तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! करने में रुके, वह तो इसका स्वरूप है ही नहीं। आहाहा! गजब काम! कैसा लगता है? कान्तिभाई! ऐसा वहाँ तुम्हारे प्लेन में आता होगा? यहाँ... कान्तिभाई को पन्द्रह सौ का वेतन था। छोड़ दिया। नौकरी छोड़ दी। अब नौकरी करना ही नहीं। व्यर्थ का हैरान होकर मर गया। मुम्बई प्लेन में था, नहीं? पन्द्रह सौ का वेतन। छोटी उम्र है, बालब्रह्मचारी है। छोड़ दी। पन्द्रह सौ का वेतन, सरकारी नौकरी। वापस छोड़ने के बाद चार महीने के छह हजार रुपये आये। सरकारी की... वह तो सब धूल-धाणी हैं।

श्रोता : उसमें कुछ लाभ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं? यह तुम्हारे सुमनभाई को ऐसा होगा?

श्रोता : वह और कब मेरा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु तुम इतना अधिक पहले कहाँ करते थे? यह दस-दस हजार रुपये की आमदनी करे।

श्रोता : उससे अधिक कमाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि तुम्हारा था और दस हजार था, और पाँच सौ देता था। अब इस समय हर महीने हजार करते हुए...

श्रोता : परन्तु वह इतना काम करता है, ये तो एक घण्टे के इतने कमाते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात है। आहाहा! अभी पैसे की कीमत घट गयी है। अभी के पच्चीस लाख और पहले के एक लाख। सब माल के भाव बढ़े और पैसे के घटे। अरे! जगत का भाव भी वह उसका, वह आत्मा का नहीं। चन्दुभाई! रात्रि (चर्चा में) एक बार पूछा था कि सोने का भाव क्या है? तो सब गड़बड़ करने लगे। कोई कहे, ...आना, कोई कहे सोने का... वह सोने का दो सौ भाव, वह हमें पूछना था? यहाँ हमें व्यापार करना है? सोना एक चीज़ है, जड़ पदार्थ है। उसका भाव अर्थात् उसमें रही हुई शक्ति। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श शक्ति, वह उसका भाव है। यह तो तुमने कल्पित किया उसका तोला और दो सौ का तोला, यह तो तुम्हारा कल्पित किया हुआ भाव है। यह उसका भाव कहाँ है? समझ में आया? सोना पदार्थ है, वस्तु है, वह भाववान है। तो उसका भाव क्या? रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, चिकनाहट आदि उसका भाव है कि जो भाव भाववान से भिन्न नहीं होता।

इसी प्रकार आत्मा का भाव क्या? आया न ऊपर? देखो! **ज्ञानमात्र भाव...** पहली लाईन में आया। आत्मा का भाव क्या? कि ज्ञान उसका भाव है। आहाहा! यह ज्ञानस्वभाव स्वयं जो पर को जाननेरूप परिणमता है, वह परिणमन अर्थात् वह आत्मा की दशा है, पर की नहीं, ज्ञेय की नहीं, परिणमन में ज्ञान होने की कल्लोल ज्ञेय के कारण उठी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा वस्तु का स्वरूप है, उसे दृष्टि में नहीं ले, तब तक उसे पाप का-मिथ्यात्व का भाव मिटेगा नहीं और धर्म होगा नहीं।

श्रोता : धर्म न हो तो कुछ नहीं, सुख तो होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में सुख है? कहाँ सुख था? बाहर लटकता है? सच्चिदानन्द -स्वरूप तो स्वयं है। सुख और ज्ञान के स्वभाव से भरपूर भाववाला तो स्वयं है। आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द है। सत्-चिद्-आनन्द। अपना भाव चिद् और ज्ञान और आनन्द तो अपना भाव है। वह भाव अपने में है, पर के कारण है नहीं। पैसे के कारण, स्त्री के कारण, इज्जत के कारण, इस धूल और शरीर के अच्छे रूपवान के कारण जीव को सुख है-(ऐसा) मूढ़ जीव ने अज्ञानरूप से पाखण्ड बुद्धि में माना हुआ है, पापदृष्टि में यह माना हुआ है।

श्रोता : मिथ्यात्व के बड़े पाप की दृष्टि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ? पहिचानते हो न ? बारह वर्ष का है। शीघ्रता में आया है। समझ में आया ?

कहते हैं... आहाहा ! यहाँ तो देखो ! यहाँ तो ज्ञान की बात चलती है न ? ऐसे आत्मा (का) अपना भाव तो आनन्द है। वह जब आनन्दरूप होता है, वह दशा तो अपनी है। वह कहीं स्त्री, कुटुम्ब के कारण यहाँ आनन्द आया है, ऐसा नहीं है। तथा उन चीज़ों का यहाँ स्पर्श नहीं है और यह चीज़ वहाँ स्पर्श नहीं करती। एक-दूसरे में अभाव है। इस अँगुली में इस अँगुली का अभाव है। यह अँगुली इस अँगुलीरूप है, यह अँगुली उस अँगुलीरूप नहीं। ऐसी दो अस्ति और नास्ति न हो तो उसका अस्तित्व टिक नहीं सकता। समझ में आया ?

इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द के स्वभाववाला अस्ति तत्त्व, मौजूदगीवाला तत्त्व है। वह राग और पुण्य तथा पर के पदार्थ से अभावस्वभावस्वरूप है। आहाहा ! भारी कठिन काम, भाई ! ऐसी धर्म की क्रिया होगी ! कभी सुनी न हो। दया पालना, व्रत पालना, रात्रिभोजन नहीं करना, कन्दमूल नहीं खाना। ऐई ! उसे तो यह भी नहीं होता, वह तो जवान है न ?... किया है न ? डॉक्टर को खबर है। आहाहा !

वहाँ हमारे पालेज में साधु आते न, छोटी उम्र, इसलिए सुनने जाएँ। धर्म में स्थानकवासी थे न ? हमारे पिताजी का वह धर्म। उसमें वे रात्रि में गाये—'भूधरजी तमने भूल्यौ रे भटकूँ छूं भवमां।' परन्तु उसमें तत्त्व क्या ? ऐसा गाये। प्रसन्न-प्रसन्न होवे। छोटी उम्र थी १७-१८ वर्ष की उम्र थी। 'भूधरजी तमने भूल्यौ रे भटकूं छूं भव मां, कुतरा ना भव मैं वीणी खादा कटका, भूख ना वैठ्या भडकारे...' ऐसा सुना था। ऐई ! डॉक्टर ! वहाँ भूख की ज्वाला सहन की। महाराज है, वह तो अच्छी बात कहते थे परन्तु उसमें धर्म क्या आया ? समझ में आया ? आहाहा !

भगवान ! यहाँ तो आत्मा को भगवान कहते हैं, हों ! भग+वान है वह। भग अर्थात् ज्ञान और आनन्दरूपी लक्ष्मी का वान अर्थात् उसका स्वरूप है। भग+वान। भग अर्थात् ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी। ऐसी लक्ष्मीवाला भगवान आत्मा है। कहते हैं, उसे ज्ञान में यह शरीर ज्ञात हुआ ? नहीं। शरीर की अस्ति शरीर में है। उस ज्ञानतत्त्व की अस्ति में शरीर की अस्ति नहीं है, तब ज्ञानतत्त्व ऐसा जो भाव, वह जब शरीर को जाननेरूप परिणमित

हुआ, ऐसा कहना, वह ऐसा नहीं है। वह तो अपने ज्ञानभाववाला तत्त्व है। जाननेरूप और आनन्दरूप होता है, वह उसकी दशा और वह उसका ज्ञेय और वह उसे जाननेवाला। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : यह तो घर में और घर में है परन्तु...

पूज्य गुरुदेवश्री : घर में ही होवे न! पर में कहाँ था! लोग नहीं कहते 'घर का लड़का चक्की चाटे और पड़ोसी को आटा।' जगत में यह सब ऐसा हो गया है। स्वयं कौन है, इसकी खबर नहीं होती और दूसरे की सबकी लगायी है।....जमीन और मिट्टी। परन्तु तू भरपूर कौन है? तू कौन है? तुझे क्या करना और क्या कर रहा है? इसकी खबर नहीं होती। बेभान—पागल।

एक बार कहा था, भाई! यह सब आत्मा अपना स्वभाव है, उसे भूलकर इस पर का कर्ता मानते हैं, वे पागल जैसे हैं। तब यह कहे जैसे नहीं, उपमा नहीं, पागल ही है। पागल जैसा कहा न? जैसा, वह तो उपमा हुई कि इसके जैसा। परन्तु इसके जैसा अर्थात् दूसरा। पागल ही है। आहाहा! ऐसे पागल ही होंगे सब? सुमनभाई! ओहो! बापू तो बड़े बैरिस्टर थे। बैरिस्टर सामने आया हो तो जरा विचार करना पड़े। देखो, अभी कहते थे। वे मंगलभाई कहते थे। मंगल वकील है न? मंगल वकील नहीं आये थे? वे कहते थे, रामजीभाई जहाँ सामने कोर्ट में आवे, जज को भी विचार करना पड़े। रामजीभाई हैं। वे क्या दलील करेंगे? मंगलभाई मेहता कहते थे। वहाँ अहमदाबाद गये थे न हम। वे कहते थे। वे यहाँ दो दिन रह गये। उस बेचारे को कुछ भान नहीं होता। वकील होकर बैठे हुए को उस पूर्व के पुण्य के कारण गाड़ी जरा चलती हो। दो-पाँच सौ, हजार पैदा करता हो और रोटियाँ खाता हो। अरे! ऐई! भगवान! तेरी लक्ष्मी का, आनन्द का, ज्ञान का भण्डार तो तेरे पास है, प्रभु! तुझे तेरे निधान की खबर नहीं है। पर के निधान देखने गया परन्तु तेरा निधान क्या है, उसकी तुझे खबर नहीं है।

कहते हैं, **वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं।** आहाहा! ...क्योंकि जो चीज़ पर शरीर, वाणी, मन, ये सब पर हैं। ये इसमें-अपने अस्तित्व में तो आते नहीं। ऐसे अपने अस्तित्व में तो जानने की क्रिया-जाननक्रिया (होती है)। दया के भाव हुए, उसकी

जानने की क्रिया वह आत्मा में है। दया के परिणाम आत्मा में नहीं आते। समझ में आया? अरे! ऐसा कैसा यह धर्म होगा! विधवा को दो (आटे की) लोई, भूखे को आहार देना, प्यासे को पानी देना, नंगे को वस्त्र देना, बीमार की सेवा करना। धूल भी नहीं करता, सुन न अब। वह मुझे कहे डॉक्टर को, वह डॉक्टर दाँत निकाले। डॉक्टर भी स्वयं मर जाते हैं न! भावनगर में तुम्हारे नहीं था? हेमन्तकुमार। यहाँ दो-तीन बार आया था। वह भी बेचारा हॉस्पीटल में ऑपरेशन करते-करते उड़ गया। एक बार दाँत के लिये बुलाया था। आया था। और दूसरा एक सर्जन था। ...गये थे न! उसका लड़का मर गया था, तब गये थे। तुरन्त ही खबर पड़ गयी कि, महाराज आते हैं। इसलिए फिर आये थे। कि क्या है इसमें? कुछ लगता नहीं, कहा। तुम्हारी भाषा में क्या कहलाता है? सीरियस नहीं। यह उपचार करते हैं, उसकी क्या भाषा? ट्रीटमेंट।

वह हीराभाई का पुत्र था, वह बहुत जवान, बीमार। चुन्नीभाई का लड़का। बेचारा बीस वर्ष का जवान था। उसे वह मोटरसाईकिल है न, उसमें से उड़कर वह हो गया। फिर डॉक्टर आया। डॉक्टर ने कहा, मेरे घर में चरण करो। वहाँ कलोल में बँगला है न। नरम व्यक्ति है, यहाँ आ गया है। परन्तु डॉक्टर किसका? उसके शरीर में होवे तो कुछ कर सकता है? ऐं...ऐं... हो जाता है। लो, वह डॉक्टर, नहीं? जामनगर का डॉक्टर क्या कहलाता है? प्राणजीवन डॉक्टर। ढाई हजार वेतन। प्राणजीवन डॉक्टर है न? जब उसे किसी ने काट खाया तो मुँह ऐसा फट गया था। मैं नहीं कर सकता... मैं नहीं कर सकता... दूसरा तुम करो। क्योंकि उसे दिखाव ही उड़ गया कि इसमें कुछ होता नहीं लगता। प्राणजीवन डॉक्टर। सोलेरियम है न?

श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब बहुत है। (संवत्) १९७७ में भावनगर में एक डॉक्टर था न? कैसा? .....कहा भाई! मुझे कुछ विचार नहीं लगता। .... १९७७ के वर्ष की बात है। वह तो परमाणु-जड़ की अवस्था है, भाई! वह करने का तुझसे नहीं होगा, भाई! अरे! उसका ज्ञान भी तेरा नहीं, उस सम्बन्धी का ज्ञान हो, तेरा तेरे अस्तित्व में जानने का हो, वह क्रिया तेरी है। आहाहा! वह जड़ की क्रिया तो तेरी नहीं, तुझसे हुई नहीं परन्तु उस समय में राग हुआ, वह क्रिया तेरी नहीं, तुझसे हुई नहीं परन्तु राग का ज्ञान हुआ, वह

राग से हुआ नहीं, तुझसे हुआ है। आहाहा! बहुत कठिन काम। शशीभाई! इतना सब... और जाना है कहाँ? विशाल मेरु उठाने जाए। भाई! तेरे घर की चीज़ ही ऐसी है। तुझे तेरे सत्य की खबर नहीं है।

कहते हैं, **वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जाननेयोग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है।** योगफल ले लिया। **इस प्रकार...** यह पद्धति कही, उस प्रकार से जो ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ वे पर में रहे, जाननेवाला जानने में रहा, वह जाननेवाला स्वयं ज्ञानरूप हो, उसे स्वयं जानता है, वह ज्ञात होनेयोग्य चीज़ आत्मा को है। पर ज्ञात होने योग्य है, वह कहना सब व्यवहार है। आहाहा! **जाननेयोग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है।** लो, ठीक। ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञेयरूप है। पूरा ज्ञेय है। परिणमन से बात करनी है। बाकी तो आत्मा वस्तु, उसका ज्ञानभाव और उसका परिणमन अर्थात् वर्तमान दशा-अवस्था, वही ज्ञेय है। आहाहा! वह ज्ञेय और ज्ञान यह क्या लगायी है? यह लगायी है तेरे घर में क्या होता है उसकी। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है। इस पृष्ट-वृष्ट में अपने आप सब समझ में आये, ऐसा नहीं है, हों! डॉक्टर! एक बार गोंडल में नहीं हुआ था अपने व्याख्यान में। जे.सी. दीवान थे। व्याख्यान में आवे। ओहो! इसमें सब लिखा होगा? है, उसमें भी तुम्हें कातना नहीं आता। पुस्तक ले जाना। पुस्तक ले गये थे। केशवलाल प्रोफेसर है न? गोंडल के प्रोफेसर हैं। केशवलालभाई! यह महाराज पड़ते हैं, वह पुस्तक देना और ले आना अपने घर में। भगवतीसूत्र था। सम्यक्त्व अधिकार चलता था। (संवत्) १९८८ के वर्ष की बात है। १९८८। (पुस्तक) ले गये। महाराज! इसमें कुछ समझ में नहीं आता। तुम बोलते हो न...

श्रोता : था वह साधारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : दरबार की कृपा। बाकी बुद्धि ऐसी नहीं थी। ...व्याख्यान में आवे। समझ बिना के होते हैं न बहुत तो। आहाहा!

कहते हैं, स्वयं ज्ञानभाववाला आत्मा, वह ज्ञानरूप हो, वह उसे ज्ञेय अर्थात् ज्ञात होनेयोग्य चीज़ है। परचीज़ ज्ञात होनेयोग्य है। करनेयोग्य तो नहीं, उसकी क्रिया नहीं, राग

की क्रिया उसकी नहीं, शरीर की क्रिया उसकी नहीं। उसका अस्तित्व भिन्न परन्तु उस अस्तित्व का यहाँ ज्ञान होता है, उस अस्तित्व के कारण ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। अपने ज्ञान के अस्तित्व के कारण उसका ज्ञान होता है। अरे! भाई! ऐसा वह होगा? वीतराग का मार्ग ऐसा होगा? कभी सुना था? कलकत्ता-बलकत्ता में सुना नहीं था?

और स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। लो, जाननेवाला स्वयं अपने को जाने, ज्ञात हो परन्तु वह जानने की क्रिया अपना ज्ञेय और ज्ञाता जाननेवाला और ज्ञान जाने और ज्ञेय स्वयं। तीनों एक ही चीज़ है। जाननेवाला ज्ञाता आत्मा, उसका ज्ञानभाव वह ज्ञान और उसका परिणमन होना, अवस्था होना, पर के विषय को जानने सम्बन्धी अपनी दशा होना, वह स्वयं ज्ञेय, स्वयं ज्ञान और स्वयं ज्ञाता। पर के साथ कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! ऐसा होगा यह?

श्रोता : है ही न। फिर उसमें शंका कैसी? यह शंकारहित बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा? आहाहा! कहो, समझ में आता है या नहीं इसमें? यह समझते हो उसमें नहीं, इसमें समझ में आता है या नहीं? ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे! कभी आत्मा क्या है? क्या गुण है? क्या दशा है? क्या होता है? उसका कभी पता लिया नहीं। ऐसा का ऐसा अनादि से विपरीत शक्त होकर भटकता है। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष के आचरण। चौरासी के अवतार के गोता खाकर अनन्त बार मर गया है। समझ में आया?

यह भगवान आत्मा परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ ने कहा, वह लॉजिक-युक्ति से सिद्ध हो सकता है। कहते हैं, **स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है।** लो। वह ज्ञानमात्र भाव ही जाननेवाला है, ऐसा कहते हैं। ज्ञात होती है, वह भी अपनी दशा, जाननेवाला भी स्वयं और ज्ञान भी अपना। ये तीनों एकरूप हैं। अपने अस्तित्व में जाननेवाला स्वयं, ज्ञान द्वारा जानता है—ऐसा कहना, वह भी नहीं, वह तो ज्ञान स्वयं स्वरूप ही है और ज्ञान की परिणति को जाने, वह भी अपना ज्ञेय है, ऐसा भेद डालना, ऐसा नहीं। वह स्वयं ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप वस्तु है। ऐसी अन्तर में दृष्टि होना, उसे सम्यग्दर्शन और धर्म की शुरुआत कहने में आती है। बाकी सब व्यर्थ-व्यर्थ है। समझ में

आया ? सब साधु होकर मूंडकर मर जाए, मुँडाकर सिर फोड़े, गर्म पानी पीवे... वह सब रण में शोर मचाने जैसी बात है। उसमें कुछ आत्मा का धर्म है नहीं। समझ में आया ? कुछ समझ में आया, ऐसा कहा जाता है न ? सब कहाँ समझ में आता है ? सब समझ में आये, तब तो इसे निहाल हो जाए। परन्तु क्या कहना चाहते हैं ? किस अपेक्षा से, किस प्रकार का, ऐसा कुछ लक्ष्य होता है ? उसका नाम कुछ समझ में आता है। यह... मध्य में। वाक्य का विश्राम होता है न, अमुक बोलने के पश्चात् किसी को ऐसा कहे कि तुम्हें समझ में आता है—यह वाक्य का विश्राम है। समझ में आया ? देखो ! कुछ समझ में आया ? आहाहा !

इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता–इन तीनों भावों से युक्त सामान्य–विशेषस्वरूप वस्तु है। यहाँ सामान्य और विशेष दोनों इकट्ठे ले लिये। भाई ! ज्ञानप्रधान है न ? प्रमाण ज्ञान। वस्तु त्रिकाली सत्, उसकी शक्ति त्रिकाली सत् और उसकी दशा होने पर वर्तमान हालत–दशा, वह तीनों होकर आत्मा कहने में आता है। इस आत्मा में पुण्य और पाप नहीं आता, इसमें शरीर, वाणी की क्रिया नहीं आती और पुण्य–पाप तथा शरीर की क्रिया का ज्ञान भी उनके कारण नहीं आता। आहाहा ! कहो, समझ में आया ?

ऐसी **इन तीनों भावों से युक्त...** देखो ! वापस तीनों को भाव कह दिया। ज्ञाता जाननेवाला, ज्ञान जाने और ज्ञात हो अपना ज्ञेय। आहाहा ! ऐसा तत्त्व। ऐसा भगवान आत्मा तीन भावसहित, तीन भावयुक्त। कौन से तीन ? जाननेवाला आत्मा; ज्ञात हो, वह ज्ञान और ज्ञात हो, वह ज्ञेय। जाननेवाला आत्मा; जाने, वह ज्ञान; ज्ञात हो, वह ज्ञेय। स्वयं का स्वयं। आहाहा ! इस प्रकार जब अन्तर में दृष्टि दे, तब उसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के तीन भेद अपने हैं, वे भी नहीं रहते। समझ में आया ? पर के तो रहते नहीं परन्तु अपने तीन प्रकार भी नहीं रहते।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन, उसकी दृष्टि होने पर अपने अस्तित्व की प्रतीति में उसे ज्ञान और आनन्द की दशा प्रगट होती है। उसे धर्म और धर्म की शुरुआत कहा जाता है। **'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ'...** देखो ! ऐसा कहा वैसा। ज्ञाता भी मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञात भी मैं। **'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव**

करता है। आत्मा को आनन्द के ज्ञान के स्वभाव को अनुभव करता है, वह इस प्रकार अनुभव करता है और वह अनुभव होना, यह धर्म है। समझ में आया? बहुत सरस बात थी। कलश का भावार्थ भरा है। देखो न! पण्डित ने भरा है। आहाहा!

इस प्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष... पुरुष अर्थात् आत्मा। फिर स्त्री का आत्मा अलग, ऐसा नहीं। आत्मा अर्थात्? आत्मा तो आत्मा ही है। शरीर अलग। हड्डियों के फेर से कहीं आत्मा स्त्री नहीं हो जाता। पुरुष के आकार कहीं आत्मा नहीं हुआ। वह तो जड़ है। चैतन्य ज्ञानभाववाला आत्मा, शरीर के आकार-इन्द्रिय पुरुष के या नपुंसक के उस आकार हुआ नहीं। अज्ञानी ने जड़ के आकार में आकर माना है कि मैं पुरुष हूँ और स्त्री हूँ। समझ में आया? सोने की ईंट, उसे चाहे जैसे चमड़ी के, कपड़े के नये ताजा टुकड़े पर लिपटावे, तो वह सोने की, ईंट लिपटे हुए वस्त्र जैसी हो जाती है? उसी प्रकार भगवान चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा है। वह इस चमड़े का... है। पुरुष के, स्त्री के, नपुंसक के, ढोर के, देव के। उस लिपटनरूप नहीं होता, नहीं हुआ, होगा नहीं। अरे रे! गजब बात! पण्डितजी!

ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाला। अनुभव—अनु अर्थात् अनुसरकर। ऐसा आत्मा, उसे अनुसरकर होना। अनादि से तो पुण्य-पाप और राग-द्वेष को अनुसरकर विकाररूप होता है, वह दु:खरूप और भटकने का संसार है। ऐसा **अनुभव करनेवाला पुरुष...** ऐसा अनुभव करता है कि जाननेवाला मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञेय अर्थात् ज्ञात होनेयोग्य चीज़ भी मैं ही हूँ। ऐसे तीन के अभेद की दृष्टि होने पर, उसे अनुभव अर्थात् आनन्द का स्वाद आता है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, उसे समकित और उसे धर्म कहने में आता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २७२

आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेक प्रकार से दिखायी देता है, तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मल ज्ञान को नहीं भूलता–इस अर्थ का काव्य कहते हैं–

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं,
क्वचित्पुन–रमेचकं सहज–मेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमल–मेधसां तन्मनः,
परस्पर–सुसंहत–प्रकट–शक्ति–चक्रं स्फुरत्।।२७२।।

श्लोकार्थ : (ज्ञानी कहता है–) [मम तत्त्वं सहजम् एव] मेरे तत्त्व का ऐसा स्वभाव ही है कि [क्वचित् मेचकं लसति] कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध) दिखायी देता है, [क्वचित् मेचक–अमेचकं] कभी मेचक–अमेचक (दोनोंरूप) दिखायी देता है [पुनः क्वचित् अमेचकं] और कभी अमेचक (–एकाकार शुद्ध) दिखायी देता है; [तथापि] तथापि [परस्पर–सुसंहत–प्रगट शक्ति–चक्रं स्फुरत् तत्] परस्पर सुसंहत (–सुमिलित, सुग्रथित) प्रगट शक्तियों के समूहरूप से स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व [अमल मेधसां मनः] निर्मल बुद्धिवालों के मन को [न विमोहयति] विमोहित (–भ्रमित) नहीं करता।

भावार्थ : आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होने से किसी अवस्था में कर्मोदय के निमित्त से अनेकाकार अनुभव में आता है; किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल के कारण भ्रमित नहीं होता; जैसा है, वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता।२७२।

प्रवचन नं. ५७६, श्लोक-२७२, २७३ गुरुवार, पोष कृष्ण ३
दिनांक - १४-०१-१९७१

समयसार, परिशिष्ट। आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेक प्रकार से दिखायी

देता है... मेचक अर्थात् अनेक प्रकार, अमेचक अर्थात् एक प्रकार। ऐसे अनेक प्रकार। **तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मल ज्ञान को नहीं भूलता...** वह वस्तु के स्वरूप में उसे ....

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं,
क्वचित्पुन-रमेचकं सहज-मेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमल-मेधसां तन्मनः,
परस्पर-सुसंहत-प्रकट-शक्ति-चक्रं स्फुरत्।।२७२।।

धर्मी ऐसा मानता है कि **'मम तत्त्वं सहजम् एव' मेरे तत्त्व का ऐसा स्वभाव ही है कि 'क्वचित् मेचकं लसति' कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, भेद, अशुद्ध) दिखायी देता है,...** ऐसा तत्त्व का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। **'मम तत्त्वं सहजम् एव'** पर्याय में देखे तो अनेक प्रकार से दिखता है। अशुद्ध भी दिखता है और भेदरूप है। अनेकाकार, मेचक और भेद। ऐसा भी उसकी स्वपर्याय का स्वभाव है। समझ में आया? **कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध) दिखायी देता है, कभी मेचक-अमेचक (दोनोंरूप) दिखायी देता है...** वस्तु की दृष्टि से शुद्ध है और पर्याय में अनेक प्रकार के भेद और अशुद्धता भी (दिखती है)। एक समय में दोनों दिखते हैं। यहाँ दृष्टि का विषय नहीं, यहाँ तो ज्ञान का विषय है। प्रमाण का है। समझ में आया? ऐसा तत्त्व ही है।

'मम तत्त्वं सहजम् एव' सहज ही ऐसा है। पर के साथ कुछ सम्बन्ध बिना। **'मम तत्त्वं'** कहा है। पर के कारण होता है, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! **'मम तत्त्वं सहजम् एव' मेरे तत्त्व का ऐसा स्वभाव ही है...** सम्यग्ज्ञानी ऐसा जानता है। **कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध)...** पर्याय में लक्ष्य देने से मलिनता और अनेक भेद से भी दिखता है। यह वस्तु की पर्याय का स्वभाव है। ऐई! पण्डितजी! आहाहा! इसमें पर के कारण से है, ऐसा नहीं कहा। वह तो **मेरे तत्त्व का 'सहजम् एव' ऐसा स्वभाव ही है...** समझ में आया? पर पर में रह गया। पर आत्मा में नहीं आता। अब आत्मा जो द्रव्य, गुण और पर्याय है, उसमें उसे पर्याय में देखने से... यहाँ साधक है न? यह कहाँ सिद्ध हुआ है? अनेकरूप, भेदरूप या अशुद्धरूप मलिन दिखता है। समझ में आया?

कभी मेचक-अमेचक (दोनोंरूप) दिखायी देता है... द्रव्य ऐसे देखे तो शुद्ध है, यह भी ज्ञात होता है और पर्याय में अनेक प्रकार से मलिनता और भेद है, यह भी एक समय में दोनों भेद हैं। समझ में आया? पहला मेचक तो उसकी पर्यायदृष्टि से देखने पर उसमें अशुद्धता अनेक प्रकार की दिखती है। प्रमाणदृष्टि से देखने पर द्रव्य का एकपना और अमेचकपना अर्थात् एकपना। उसकी पर्याय में अनेकपना, ऐसा एक साथ ही है। वस्तु, वस्तु ऐसी है, वस्तु ऐसी है। पर के साथ कहाँ? पर तो पर में परिणमता है। उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा तत्त्व ऐसा है, उसका द्रव्य और पर्याय का स्वभाव वह स्वयं के कारण स्वाभाविक ऐसी वस्तु है, ऐसा कहते हैं। यहाँ त्रिकाल द्रव्य शुद्ध है, इतना नहीं लेना। समझ में आया? क्योंकि प्रमाण का विषय... अनेकरूप, भेदरूप, अशुद्धरूप, मलिनरूप भी पर्याय में है, ऐसा ही इसका पर्याय का स्वभाव है, साधक है तब तक (ऐसा है)। वैसे देखे तो मेचक-अमेचक दोनों है। अमेचक अर्थात् एकरूप, अभेदरूप, शुद्धरूप। त्रिकाल वस्तु देखने से अमेचक है, अभेद है, एकरूप है, शुद्ध है, पवित्र है। इस प्रकार दोनों एकसाथ भी दिखते हैं। कहो, समझ में आया?

'पुनः क्वचित् अमेचकं' और कभी... अकेला अनुभव में शुद्ध ही दिखता है। कहो, बराबर है? पण्डितजी! आहाहा! इस चीज़ की वस्तुस्थिति ही ऐसी है, ऐसा कहते हैं। आचार्य स्वयं कहते हैं, देखो न! **'मम तत्त्वं सहजम् एव'** पहला शब्द यह है न? उसमें पहले अर्थ है न? शब्दार्थ में पहला ही है। **'मम तत्त्वं सहजम् एव'** आहाहा! ऐसी बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? किसी समय तो एक, अनेक, एकाकार, अभेद, शुद्ध, एकरूप दिखता है। **तथापि 'तथापि'** ऐसा होने पर भी। यह तो सार में सार अन्तिम कलश हैं।

'परस्पर-सुसंहत-प्रगट शक्ति-चक्रं स्फुरत् तत्' परस्पर... एक, अनेक, शुद्ध, अशुद्ध, भेद, अभेद यह **(-सुमिलित,...)** दोनों के मेलवाला है। **सुग्रथित, भले प्रकार से गुँथी हुई...** बराबर है। भले प्रकार से गुँथा हुआ है। **प्रगट शक्तियों के**

समूहरूप से स्फुरायमान... जो शक्तियाँ हैं, उनकी पर्याय में अनेकपना है। शक्तिरूप से एक है। ऐसा जिसका स्वभाव है। समझ में आया? वास्तविक तत्त्व है, ऐसा उसका ज्ञान होना चाहिए न? जैसा उसका स्वभाव है, वैसा होना चाहिए न? समझ में आया?

(–सुमिलित, सुग्रथित, भले प्रकार से गुँथी हुई...) अनेकपना और वस्तु एकपना, वस्तु से अभेदपना और पर्याय में अनेकाकारपना... इस प्रकार से वस्तु गुँथी हुई है। ऐसी ही वस्तु मेलवाली है, कहते हैं। उसे मेलवाली कहते हैं। मेलवाली समझते हो? मेल? ज्ञान ... ऐसी वस्तु है, ऐसा कहते हैं। ऐसा उसका सुमेल है। गजब, भाई! **प्रगट शक्तियों के समूहरूप से स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व...** है ऐसा। अवस्था में भी और द्रव्य में भी इसी प्रकार से प्रगट है। द्रव्य से एकरूप, अभेदरूप, शुद्धरूप। पर्याय से अनेकरूप, भेदरूप, अशुद्धरूप। इसी प्रकार से स्फुरायमान है। वस्तु ही इस प्रकार से है। समझ में आया? ऐसी वस्तु है, इसलिए अशुद्धपना, वह साधक है—ऐसा सिद्ध नहीं करना। यहाँ तो ऐसा होता है। और वह द्रव्य से एक है, उसमें अनेक है। बस, ऐसा वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया? ऐसा ही आत्मा का सहज, अपने से... देखो न! अशुद्ध **'सहजम् मम तत्त्वं'** मुझसे, ऐसा कहा न?

मुमुक्षु : अपनी जाति को...

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के साथ क्या सम्बन्ध है? आहाहा! यहाँ तो अपने द्रव्य और पर्याय के प्रमाण के ज्ञान के विषय की बात है। आहाहा!

ऐसा होने पर भी। **'अमल मेधसां मनः' निर्मल बुद्धिवालों के मन को विमोहित (–भ्रमित) नहीं करता।** यह क्या? अरे! वस्तु से एकरूप शुद्ध और अवस्था में अनेकरूप अशुद्ध? यह दो विरोध क्या? कहते हैं, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। धर्मी उसमें विरोध नहीं जानता। उसका सुमेल जानता है। समझ में आया? अरे! गजब! आहा! **'अमल मेधसां मनः'** अमल अर्थात् निर्मल जिसकी बुद्धि। **'मेधसां'** अर्थात् बुद्धि। जिसका मन। **निर्मल बुद्धिवालों के मन को विमोहित (–भ्रमित) नहीं करता।** यह क्या? ओहो! उसमें तो अभेद अनुभव में शुद्ध और एक दिखता है, पर्याय में अशुद्धता भूमिका प्रमाण विषय की वासना, रागादि दिखते हैं। यह क्या? ऐसा स्वभाव है। साधक

है, तब तक ऐसी उसकी वस्तु की मर्यादा है। समझ में आया? आहाहा! एक ओर शान्त आनन्दमय दिखता है, एक ओर रौद्रध्यान के परिणामवाला दिखता है। समझ में आया? हो, वह तो वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। वस्तु शुद्ध है और शुद्ध का भान हुआ, इसलिए उसकी दशा में अशुद्धता हो ही नहीं, अनेकता हो ही नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह ज्ञानी के मन को विमोहित नहीं करता, ऐसा कहते हैं। यह क्या? समझ में आया? मेचक का अर्थ मलिन कहा है। अनेकरूप होता है, उसका लक्ष्य करने से विकल्प उठता है, वह मलिन है, ऐसा कहते हैं। वह मैला भी उस पर्याय का उस प्रकार का स्वत: स्वभाव है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

निर्मल बुद्धिवालों के मन को विमोहित (–भ्रमित) नहीं करता। आहाहा! अरे! यह मलिन परिणाम! मेरे निर्मल स्वभाव की दृष्टि कहाँ गयी? ऐसे उलझन में नहीं आता। दास! अरे! यह मलिन परिणाम! फिर निर्मल कहाँ रहा? मलिन परिणाम और वापस पूरा निर्मल, ऐसा ही है। आहाहा! पर्याय में मलिनता, अशुद्धता, अनेकता, भेदता भासित होने पर भी वस्तु तो वस्तु शुद्ध द्रव्य एक ही रूप है। समझ में आया? भाषा देखो न! **'मम तत्त्वं सहजम् एव'** अशुद्धता भी सहज भाव से है। पर्याय का, द्रव्य की पर्याय का ऐसा स्वभाव है। अनेकरूप होना, अशुद्धरूप रहना और भेदरूप होना, यही वस्तु का पर्याय में स्वभाव है। आहाहा! गजब! यह वस्तु सर्वज्ञ के सिवाय द्रव्य-पर्याय ऐसी चीज़ अन्यत्र नहीं होती। समझ में आया?

भावार्थ – कल तो और भावार्थ अच्छा था तथा और वापस मेहमान थे। इसलिए फिर इसे झट जाना है न, दिलीप को जाना है, इसलिए अच्छे-अच्छे श्लोक हैं। वह तो आ गया है। कोई, कोई तो समझे। समझ में आया? .... उसकी महिमा की ... वाले की। ... आत्मा का ... कुछ माल नहीं होता। गप्प मारे। उसमें लिखा था, बहुत ऐसे थे। दिगम्बर -श्वेताम्बर में समन्वय करनेवाले थे। ऐई! चेतनजी! मैंने उनसे पूछा था, कितने ही पण्डित लोग ऐसा कहते हैं। कैसा है? साहेब! वह छोड़कर यहाँ आवे तो। ऐई! रामजीभाई! तुम्हारा चिरंजीवी ऐसा बोलता है। उनका भाव और इसके भाव में मेल खाये, ऐसा बिल्कुल नहीं है। ऐई! सुमनभाई! इनके चिरंजीवी। आहाहा! दूसरे को ऐसा होगा कि मिलान खाये। एक .... समझ में आया? कहीं मिलान नहीं खाता। दो हैं, इतना समन्वय

है। 'है' इतना। दोनों समान हैं, ऐसा किसी प्रकार से मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! बड़ा अन्तर, बापू! पूरा तत्त्व का अन्तर है, भाई! और लोगों को यह अच्छा लगता है। सबमें ऐसा समन्वय करे न, कहे यह विशाल दृष्टिवाले हैं। विपरीत दृष्टि है, भाई! मार्ग ऐसा नहीं है। तो क्या है? वे कहे, कर्म के कारण विकार होता है और स्वयं से होता है, दो माने वह यथार्थ है। अब ऐसा आया। यहाँ कहते हैं कि यह बात ही यहाँ नहीं है अर्थात् दो (से) पति-पत्नी से पुत्र होता है, अकेले से नहीं होता।

मुमुक्षु : यह तो शरीर की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो प्रमाण का ज्ञान कराने की बात है। यह तो निश्चय का तत्त्व ऐसा है, यह सिद्ध करते हैं। समझ में आया? विकार कोई अकेले कर्म से कहता है, कितने ही जीव से कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

यहाँ आचार्य क्या कहते हैं? मेरा भगवान वस्तु से तो निर्मल आनन्द और शुद्ध हूँ। एकरूप अभेद हूँ परन्तु अवस्था में अनेकता, विविधता, मलिनता, अशुद्धता, भेदता है। मेरे तत्त्व का ऐसा स्वभाव है। उसमें कहीं पर की अपेक्षा से बात ही नहीं है। ऐई! वजुभाई! क्या कहा, देखो न! **'मम तत्त्वं सहजम् एव'** आहाहा! आचार्यों की शैली भी कहीं गजब की बात है। वह इसे किस प्रकार से ऐसी प्रसिद्ध करते हैं। सब गड़बड़ उखाड़ डालते हैं। आहाहा! तुझमें तू मलिनतारूप तेरी पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है। आहाहा! पर के कारण मलिनता है, ऐसा है ही नहीं। अकेले आत्मा से मलिनता देखे, वह एकान्तिक है। अरे! भगवान! उसके साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं तो इसके साथ मेल कहाँ से खाये? समझ में आया? वस्तुस्थिति ऐसी, उसका करना क्या? वस्तु का पुकार ही ऐसा है। स्वयं वस्तु ऐसी बड़बड़ करके बोलती है। वस्तु वस्तु से शुद्ध हूँ। वह मेरे तत्त्व का स्वाभाविक भाव है। पर्याय में अनेकपना, अशुद्धपना, वह भी मेरा स्वाभाविक पर्याय में भाव है। यहाँ तो दोनों जगह लेना है न? कहो, पण्डितजी! ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान रुकता है, दर्शनमोहनीय से मिथ्यात्व होता है, चारित्रमोह के कारण राग होता है। यहाँ इनकार करते हैं, देखो! ऐसा गोम्मटसार में यह है। भाई! वह तो सब कथन इस प्रकार से, (यह बताया है)। निमित्त के व्यवहार के कथन। वस्तु की मर्यादा अपने में देखे। साधक हुआ देखता है, हों! यह साधक की बात है। समझ में आया?

वस्तुस्वरूप चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यदल एकरूप वस्तु है। ऐसा भान होने पर भी पर्याय में अनेकपना और विविधता तथा अशुद्धता है, वह भी मेरे तत्त्व का सहज स्वभाव है। आहाहा! सहज कहा न? पण्डितजी! अशुद्धता, अनेकता, भेदता... आहाहा! गजब बात है। ऐसी कथन की पद्धति! दिगम्बर सन्तों की बात केवलियों के पेट अर्थात् द्रव्य का स्वभाव खोलकर रखा है। उसमें कहीं कम, अधिक या विपरीत हो जाये तो दृष्टि विपरीत है। समझ में आया? आहाहा! अब इसका मेल कहाँ करना? वे कहते हैं कि नहीं, कर्म के कारण भटकता है।

मुमुक्षु : नोटिस आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नोटिस आया। रामजीभाई थे। यह हमारे पण्डितजी थे ... ऐसे ... अरे! भगवान! भाई! तुझे खबर नहीं। अरे! तुझे खबर नहीं, ऐसा कहना। अरर! जाननेवाले चैतन्य के द्रव्य को जाने, उसकी अधिकता को जाने, ऐसा वह पुरुष है। आहाहा!

कहते हैं कि तेरा उदयभाव भी सहज मेरे तत्त्व का यह स्वभाव है और त्रिकाली पारिणामिक शुद्धभाव, वह भी मेरे तत्त्व का ही स्वभाव है। आहाहा! दो को डाला तत्त्व के स्वभाव में। समझ में आया? ऐसा होने पर भी साधकजीव को धर्मदृष्टि में भ्रमणा नहीं आती कि परन्तु यह क्या? आहाहा! एक ओर देखे तो भगवान शुद्ध आनन्द का धाम प्रभु है। एक ओर देखे तो रौद्रध्यान और विषय कषाय के परिणाम भी दिखते हैं। आहाहा! हो, दोनों जाननेयोग्य है। समझ में आया? त्रिकाल वस्तु शुद्ध है, वह आदरणीय है। अवस्था में अशुद्धता और अनेकता, वह जाननेयोग्य है कि मेरा ज्ञेय ही ऐसा है। समझ में आया?

भावार्थ – आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होने से किसी अवस्था में कर्मोदय के निमित्त से... यह तो फिर इसमें डाला। **अनेकाकार अनुभव में आता है;...** यह तो निमित्त है। इसका अर्थ कि अनेकपना, अशुद्धपना अपने स्वभाव के लक्ष्य से नहीं होता, इतना। पराश्रय है, इसलिए पर के कारण हुआ है—ऐसा नहीं है। समझ में आया? एक चर्चा आयी है न कि ज्ञान की हीन दशा अपनी योग्यता के कारण से है। नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के कारण से... ऐसा नहीं है। बड़े-बड़े काशी के पढ़नेवाले ने भी गोते खाये हैं। गज गोते खाये हैं। गज समझते हो? हाथी। 'गज गोता खाये वहाँ गाडर की क्या गजा?' गाडर

समझे ? भेडिया। भाषा भी लोगों ने ऐसी रची है न। 'गज गोता खाये वहाँ गाडर की क्या गजा ?' सब ग-गा आये। लोग तो भाषा रच डालते हैं। गज गोता खाये। गोता अर्थात् गुलांटी खाये। पानी में ऐसे-ऐसे उल्टे। हाथी भी जब ऐसे-ऐसे हो, तब भेडिया का क्या कहना ? गाडर की क्या हैसियत ? इसी प्रकार बड़े काशी के पढ़े हुए भी गोते खायें, तो अनपढ़ लोगों को उलझन हो, उसमें क्या आश्चर्य ? समझ में आया ?

अनेकाकार अनुभव में आता है;... देखा। **किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है;...** उसमें दूसरा बोल लिया था, वह इसमें अन्तिम लिया है। समझ में आया ? शुद्धाशुद्ध तीसरा लिया, उसमें दूसरा था। उसमें तीसरे में था। क्या कहा, समझ में आया इसमें ? उसमें पहला डाला था न ? कि **'क्वचित् मेचकं लसति क्वचित् मेचक-अमेचकं'** और क्वचित् अमेचक। अर्थात् वस्तु की स्थिति में शुद्ध और अशुद्धता दोनों भासित होती है। किसी समय अकेली अशुद्धता भासित होती है पर्याय में, किसी समय अकेली शुद्धता भासित होती है। **तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल के कारण...** अपेक्षित ज्ञान को जानता हुआ **भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता।** सम्यग्ज्ञान में सन्देह नहीं पड़ता कि यह मैंने माना और यह क्या ? यह क्या ? वेदान्तवाले को पर्याय कैसी और अशुद्धता कैसी ? या यह क्या ? यह आयेगा।

कलश - २७३

आत्मा का अनेकान्तस्वरूप (-अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (आश्चर्य कारक) है-इस अर्थ का काव्य कहते हैं-

(पृथ्वी)

इतो गत-मनेकतां दध-दितः सदाप्येकता-
मितः क्षण-विभङ्गुरं ध्रुव-मितः सदैवोदयात्।
इतः परम-विस्तृतं धृत-मितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहज-मात्मनस्तदिद-मद्भुतं वैभवम्।।२७३।।

श्लोकार्थ : [अहो आत्मनः तद् इदम् सहजम् अद्भुत वैभवम्] अहो! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि-[इतः अनेकतां गतम्] एक ओर से देखने पर वह अनेकता को प्राप्त है और [इतः सदा अपि एकताम् दधत्] एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है, [इतः क्षण-विभंगुरम्] एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और [इतः सदा एव उदयात् ध्रुवम्] एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, [इतः परम-विस्तृतम्] एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और [इतः निजैः प्रदेशैः धृतम्] एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है।

भावार्थ : पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखायी देता है और द्रव्य दृष्टि से देखने पर एकरूप; क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणभंगुर दिखायी देता है और सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर ध्रुव; ज्ञान की अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टि से देखने पर परम विस्तार को प्राप्त दिखायी देता है और प्रदेशों की अपेक्षावाली दृष्टि से देखने पर अपने प्रदेशों में ही व्याप्त दिखायी देता है। ऐसा द्रव्यपर्यायात्मक अनन्त धर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। वह (स्वभाव) अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भव-सी बात है! यद्यपि ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता, फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है, और इसलिए आश्चर्य भी होता है।२७३।

कलश - २७३ पर प्रवचन

आत्मा का अनेकान्तस्वरूप (-अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (आश्चर्य कारक) है-इस अर्थ का काव्य कहते हैं- २७३।

इतो गत-मनेकतां दध-दितः सदाप्येकता-
मितः क्षण-विभङ्गुरं ध्रुव-मितः सदैवोदयात्।
इतः परम-विस्तृतं धृत-मितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहज-मात्मनस्तदिद-मद्भुतं वैभवम्।।२७३।।

यह सब वैभव। **'अहो आत्मनः तद् इदम् सहजम् अद्भुत वैभवम्'** पहला पद डाला इसमें। **अहो! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है...** स्वाभाविक अद्भुत है। **एक ओर से देखने पर वह अनेकता को प्राप्त है...** पर्याय से अनेकरूप दिखता है और है। पर्याय से अनेकरूप दिखता है और है। यह भी इसका एक अद्भुत वैभव है, ऐसा कहते हैं। लो! उसमें तो दो अद्भुत में लिये थे। अद्भुत दर्शन और ज्ञान। आत्मा को एक समय की दो पर्याय, एक पर्याय सब लोकालोक को अभेद से देखे और एक पर्याय भिन्न... भिन्न... भिन्न... करके एक समय की ज्ञानपर्याय भेद से देखे। आहाहा! दर्शन की पर्याय पूरा सत् पूर्ण। यह जीव और अजीव, ऐसा भी वहाँ नहीं। यह है, ऐसा भी नहीं। आत्मा के दर्शन की पर्याय... दर्शनोपयोग, हों! सब अभेद है, ऐसा देखे। और ज्ञान की पर्याय एक-एक पर्याय में अनन्त भिन्नता, भेदता, गुणभेद, पर्यायभेद, द्रव्यभेद, जीवभेद, अजीवभेद इत्यादि सबको भिन्न-भिन्न करके एक समय की पर्याय जानती है। उसी समय की दर्शन की पर्याय भिन्न बिना देखे, यह उसका अद्भुत रस है। यहाँ उसमें अद्भुत वैभव कहना है। समझ में आया? गजब भाई!

अनेकता को प्राप्त है 'इतः सदा अपि एकताम् दधत्' एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है,... द्रव्यदृष्टि से। वस्तु से देखे तो एकरूप है। पर्याय से देखे तो अनेकरूप है। दोनों इसका अद्भुत सहज वैभव है। लो, यह पैसे का वैभव और सब कहते हैं न बाहर? धूल का वैभव वह कहाँ था? यहाँ कहे परमाणु के वैभव में यह

कहाँ से आया ? ऐई ! इस आत्मा का यह वैभव है। यह मशीन, यह नौकरी, लोग, बीड़ियाँ और मोटरें, यह आत्मा का वैभव होगा ? सेठ !

यहाँ तो आत्मा का वैभव उसे कहते हैं कि अनेक देखने की दृष्टि से देखे तो पर्याय में अनेक दिखता है। अनन्त गुण की अनन्त पर्याय है। अनन्त। आहाहा ! एक ओर अनन्त पर्याय दिखे और एक ओर **'सदा अपि एकताम् दधत्'** ऐसी वस्तु देखने से एकरूप है। द्रव्य से देखने से, वस्तु से देखने से एकरूप है। देखो ! इस एकरूप को द्रव्य में डाला, अनेकरूप को पर्याय में डाला। समझ में आया ?

सदा एकता को धारण करता है,... ऐसा है न ? **'एकताम् दधत्'** धार रखता है। आहाहा ! **'इतः सदा एव उदयात् ध्रुवम्' एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है,... 'इतः क्षण-विभंगुरम्'** यह लिया वापस। **एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है...** तीसरा बोल। अर्थात् ? क्रम-क्रम से होती दशा की दृष्टि से देखे, क्रम-क्रम से होती दशा की दृष्टि से देखें तो क्षणभंगुर दिखता है। क्षणभंगुर आत्मा। अरे ! क्षणभंगुर आत्मा होगा ? नित्य होता है। नहीं। ऐसा मुझे सुनना नहीं। एक बाबा आया था, वह कहे, अनित्य आत्मा ? भाग।... सुनने आया था, तब जैन के साधु अध्यात्म की बहुत ऊँची बात करते हैं। वह वेदान्त नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यह जैन का स्वरूप, जैन अर्थात् वस्तु का ऐसा स्वरूप है।

एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है... क्षण-क्षण में नाशवाली चीज़ दिखती है। स्वयं अपने में, हों ! पर के कारण नहीं, पर में नहीं। उसकी बात नहीं। शरीर क्षणभंगुर है, पैसा क्षणभंगुर है, वह बात यहाँ नहीं। वस्तु की अवस्था एक समय में रहती है और दूसरे क्षण में नाश होती है। ऐसी क्रमवर्ती दशा से देखे तो वह क्षणभंगुर दिखता है। आहाहा ! पहली बात थी, उस पर्यायदृष्टि से देखो तो अनेकरूप दिखती है इतना। और यह क्रमसर पर्याय होती है अर्थात् नाश होकर उत्पन्न हो... नाश होकर उत्पन्न हो। इस दृष्टि से देखे तो उस पर्याय में क्षणभंगुरता है। आत्मा में है। आहाहा ! समझ में आया ?

'अहो आत्मनः तद् इदम् सहजम् अद्भुत वैभवम्' उसे तो अपना स्वाभाविक वैभव कहा है। पर्याय का नाश हो... अर र ! ऐसा आत्मा नहीं होता। अविनाशी आत्मा में

और यह क्या ? पर्याय से नाशवान है, वस्तु से अविनाशी है। यह उसका वैभव है। अनित्य न होवे तो कार्य तो अनित्य में होता है। यह द्रव्य ध्रुव है, यह शुद्ध है—ऐसा कार्य तो पर्याय में होता है। पहले पर्याय में सत्य नहीं माना था और उसे बदलकर माना, यह तो पर्याय में माना है। समझ में आया ? अनित्य, नित्य का निर्णय करता है। नित्य कहीं अनित्य का निर्णय नहीं करता। नित्य तो नित्य है। समझ में आया ? ओहोहो ! अरे ! एक-एक श्लोक में कितना भर दिया है ! शान्ति से अपने आत्मा के लिये जरा स्वाध्याय करे तो देखे तो ऐसी चीज़ अन्यत्र है नहीं। वस्तु ऐसी ही होती है। समझ में आया ?

एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है... पहले कही थी एक ओर से देखने पर अनेकता। और एक ओर से देखने पर एक। बस इतना। यहाँ देखो तो एक ओर से देखने पर क्षण-क्षण में नाशवान। वह अनेकपना था, वह साधारण पर्यायदृष्टि से। अब यह पर्याय क्रमसर पर्याय होती है, क्रमसर पर्याय होती है, इस अपेक्षा से उसे क्षणभंगुर की अपेक्षा से पर्याय क्रम से (होती है), उसे क्षणभंगुर कहा जाता है। वह आत्मा की पर्याय क्षणभंगुर है। समझ में आया ? ऐसे निज आत्मा की ओर के विचार, मनन, मन्थन करे तो उसका शुभभाव भी अलग प्रकार का होता है। यह बाहर में अटके और बाहर में... आहाहा ! ऐसी चीज़ है।

और 'इतः सदा एव उदयात् ध्रुवम्' सदा और ध्रुव दोनों साथ में डाले। **एक ओर से देखने पर सदा...** अर्थात् तीनों काल में उदय होने से। वह है, वह है। तीनों काल ध्रुव है... ध्रुव है... ध्रुव है... ध्रुव। क्षण-क्षण में नाश होना, वह ध्रुव में नहीं है। ध्रुव। समझ में आया ? **'सदा एव उदयात् ध्रुवम्'** त्रिकाल एकरूप रहनेवाला, एकरूप रहनेवाला, उसके सामने क्षणभंगुर है न ? समझ में आया ? लो, यह आत्मा का वैभव बताते हैं। आहाहा ! इस पैसे के कारण अनेक है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। पर्याय में अनेकपना है, इसलिए अनेक है। पैसा और शरीर नाशवान है, इसलिए नाशवान है—ऐसा नहीं। इसकी पर्याय नाशवान है। आहाहा ! समझ में आया ?

एक ओर से देखने पर सदा उसका... एक प्रकार ही रहता है। उदय तो एक प्रकार से ही रहता है। वह बदलता है, यह बदलता नहीं। ऐसा इसका स्वभाव है। यहाँ तो

प्रमाणज्ञान का विषय है न? इसका अपना अस्तित्व कितने में है, उसका ज्ञान (कराते) हैं। आहाहा! भले क्षणभंगुर हो परन्तु है तो तेरा वैभव। पर्याय, पर्याय क्षण में नाश होती है, परन्तु है तो तेरा वैभव, तुझमें, तेरे कारण से; पर के कारण से नहीं। अभी एक व्यक्ति ऐसा कहता था। ... जाये, वह पर्याय। पर से हो, उसे पर्याय कहते हैं। यदि ... नहीं मानो तो आचार्य की बात सिद्ध नहीं होगी। एक व्यक्ति ऐसा कहता था। परमानन्दी था एक? क्या हो? मूल चीज़ को शोधने के लिये तो अनेक प्रकार के पुरुषार्थ की गति वहाँ उग्र होना चाहिए। समझ में आया?

भगवान आत्मा... कहते हैं कि एक ओर से देखे तो त्रिकाल ध्रुव एकरूप है। है.. है... है... है... है... है... एक ओर है, है ऐसा नहीं। है और नाश... है और नाश... है उसका नाश... पर्याय से क्षणभंगुर, ध्रुव से सदा एक ओर सदृश। ऐसी ... क्षण-क्षण में हो जाये... हो जाये... हो जाये... सृष्टि-नाश... सृष्टि-नाश... जन्म और मरण... जन्म और मरण... पर्याय में उत्पत्ति जन्म, ... विनशना मरण। लो, जन्म और मरण पर्याय में। पर के कारण जन्म-मरण नहीं, ऐसा कहते हैं। जन्मना अर्थात् उपजना, सृष्टि होना। सृष्टि—उत्पत्ति होना, मरण अर्थात् नाश होना, उस पर्याय का नाश होना। भंगुर अर्थात् नाश। क्षणभंगुर एक समय की पर्याय का नाश होना। देखो! जन्म-मरण तो पर्याय की... आहाहा! ऐसा तत्त्व का सहज वैभव स्वरूप है। उसे ज्ञान में बराबर दृष्टिपूर्वक लेना चाहिए।

'इतः परम-विस्तृतम्' अब क्षेत्र लिया। पर्याय द्रव्य में अनेकता और क्षणभंगुरता वर्णन की, एकता और ध्रुवता वर्णन की। अब क्षेत्र से वर्णन करते हैं। ओहोहो! **'इतः' एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है...** लोकालोक को एक समय में जाने, इतना व्यापक दिखता है। समझ में आया? एक साथ जाने तीन काल, तीन लोक सर्वगत। तीन काल, तीन लोक को एक समय में व्याप जाता है। अर्थात् उसका ज्ञान सर्वगत हो जाता है—सर्व को जान जाता है, इतना विशाल है। अभी भी, हों! यहाँ तो अभी साधक की बात है। साधक जीव में भी ज्ञान की एक समय की पर्याय लोकालोक को जितने छह द्रव्य, अनन्त सिद्ध सबको जाने। एक ओर ऐसा जाने। इतना क्षेत्र से विस्तार है। इस अपेक्षा से, जानने की अपेक्षा से क्षेत्र से विस्तार। सदा क्षेत्र को जानता है न?

और 'इतः निजैः प्रदेशैः धृतम्' एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही

धारण कर रखा हुआ है। परवस्तु को उसमें धारण किया नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पर्याय में लोकालोक का ज्ञान धारा है न? धार रखा था न? इस अपेक्षा से विस्तृत कहा; और द्रव्य की अपेक्षा से देखो तो अपने क्षेत्र को तो, क्षेत्र को धार रखा है, पर को धारा नहीं। पर्याय में पर का जो ज्ञान व्यापक है, इस अपेक्षा से उसे सर्वगत कहा जाता है। व्यापने के रूप से नहीं, प्रविष्ट होने के रूप से नहीं, परन्तु जानने के रूप से। लोकालोक को जाने इतने क्षेत्र में, अपने प्रदेश में व्याप्त है। **एक ओर से देखने पर अपने प्रदेश...** में ही है वह। स्वक्षेत्र में है, परक्षेत्र में है नहीं। परक्षेत्र के ज्ञान में भी नहीं, ऐसा कहते हैं। अपने क्षेत्र में है। लो।.... लो, यहाँ दो आ गये आज। कहो, समझ में आया? यहाँ तो ज्ञान का सूक्ष्म था न पहले से? .... पहले आये थे न, वे भी बोले थे।... जाननेवाला भी स्वयं... बापू! ऐसा कहते हैं। आहाहा! जाननेवाला भी स्वयं, जो जाने वह ज्ञान भी स्वयं, जो जानने में आये-ज्ञेय वह भी स्वयं। आहाहा! यह श्लोक बहुत ऊँचा था। दो दिन चला। यह एक दिन में दो कलश चल गये। यह तो आनेवाला (हो, वह) आवे न? समझ में आया?

एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही... उसने मानो पर प्रदेश को पर्याय में धारा हो। उस धारे का अर्थ कि लोकालोक के क्षेत्र को जानने का ज्ञान स्वयं व्यापक हो जाता है न? उस पर्याय का। वस्तु से देखने पर स्वक्षेत्र में है। आत्मा स्वक्षेत्र असंख्य प्रदेश में है। देखो! ऐसी बात अन्यत्र नहीं होती। पर्याय के दो भाग लिये। अनेक और क्षणभंगुर। और इस क्षेत्र के दो भाग लिये। वापस इस प्रकार। सर्व को जाने इस अपेक्षा से और वापस अपने निजप्रदेश में ही अनादि से है। आहाहा! ऐसा इसका अद्भुत वैभव है। कहो, समझ में आया? वे कहे, क्या इसका वैभव? ... गया था वहाँ। आया होगा कि ... क्या इसका वैभव है, कहे। ऐसा कहता था।... वहाँ स्विट्जरलैण्ड, अरे! कुछ हुआ नहीं। बेचारा गरीब व्यक्ति... आहाहा!... बाग, बगीचा, बँगला और विशाल बँगला । यह वैभव तेरा है, भाई! आहाहा! और वह भी कैसा? पूर्वापर विरुद्ध जैसा लगे, तथापि अविरुद्ध। पर्याय में अनेकपना दिखाई दे, वस्तुरूप से एक। पर्याय क्रम से क्षणभंगुर होती दिखाई दे, वस्तुरूप से एकरूप। एकरूप। यह तो अनेकरूप नाशवान हुई। लोकालोक को जानने की एक समय की पर्याय व्याप जाती है। मानो लोकालोक को अपने प्रदेश में— ज्ञान में धारा हो। ऐसे देखो तो स्वयं असंख्यप्रदेश में ही है।

ऐसा आत्मतत्त्व ही। जब तक आत्मतत्त्व जाना नहीं, परन्तु ऐसा आत्मा, हों! आत्मा भाषा तो बहुत करते हैं। अब तो बहुत करते हैं। यह सब चला न। आत्मा के ऊपर बातें करते हैं। भाई! आत्मा शब्द आया इसलिए... वस्तु सर्वज्ञ परमेश्वर... यह वस्तु ऐसी देखी है, इस प्रकार से इसकी दृष्टि में आवे, तब आत्मा आत्मा कहलाये। ऐसे आत्मा आत्मा क्या हुआ? आहाहा! समझ में आया? .... वस्तुरूप से कायम रही और अवस्थारूप से बदलती है। क्रम-क्रम से बदलती है, एक साथ अनेकता होती है और एक साथ लोकालोक को धारे और एक ही स्वक्षेत्र में रहा हुआ दिखाई दे। लो, ऐसा आत्मा है, ऐसा उसका वैभव है।

भावार्थ – दोनों में अन्तर डाला है न? **पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखायी देता है...** यह दूसरी पर्यायदृष्टि देखी है वह दूसरी। क्रमभावी पर्याय दूसरे में लेंगे। पहले में अकेली पर्याय। अनेक गुण की अनन्त अवस्था, बस। अनन्त अवस्था से देखो तो अनेकरूप दिखता है, अनन्तरूप दिखता है। अनन्त अर्थात् अनेकरूप दिखता है। अनन्तरूप दिखता है। आहाहा! **और द्रव्य दृष्टि से देखने पर एकरूप;...** वस्तु से देखो तो एकरूप है। त्रिकाल द्रव्य। द्रव्यदृष्टि से कहा है न? दृष्टि का विषय द्रव्य है तो द्रव्यदृष्टि से देखो तो एकरूप त्रिकाल है और अनेकता है नहीं। तो एक भी वह और अनेक भी वह। यह समझण का पिण्ड है। इसके समझने के सब प्रकार उसमें समाहित हो जाते हैं। ऐसे इसके भाव हैं, वह सब समझण में इसे आ जाते हैं। तब आत्मा जाना कहने में आता है। समझ में आया? भगवान... भगवान करो। भगवान की धुन लगाओ। यह धुन लगावे उसमें आया? वह तो विकल्प है, हों, परन्तु उसके सामने एक दूसरा निर्विकल्प शुद्ध है, वह दृष्टि में है या नहीं? है इतनी बात है। अशुद्धता है, इसलिए शुद्धता प्रगट होगी, ऐसी बात यहाँ नहीं है। यह तो दो का अस्तित्व उसमें है। बस। व्यवहार है, ऐसा किसने इनकार किया? समझ में आया? वे कहें, व्यवहार मानते नहीं। परन्तु व्यवहार है, ऐसा किसने इनकार किया? परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात नहीं है। समझ में आया? व्यवहार नहीं तो पर्याय नहीं। पर्याय स्वयं व्यवहार है। ऐई! क्या कहा? कहाँ गये तुम्हारे? शशीभाई नहीं आये? आये हैं। आहाहा! पर्याय, वह व्यवहार है, कहते हैं। शशीभाई! कहा था न उसमें? पर्याय, वह व्यवहार है। गजब! द्रव्य वह निश्चय है। दो

होकर प्रमाण का विषय है। आत्मा है न! वहाँ कहाँ आत्मा को घर चलाना पड़ता है। ...परन्तु जब से ... लगे तब जगे। आहाहा!

पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखायी देता है... पर्यायें अनेक हैं न? **द्रव्यदृष्टि से देखने पर एकरूप;...** अब दूसरे प्रकार से बात। क्षणभंगुर कही न? **क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणभंगुर दिखायी देता है...** यह अनेक नहीं परन्तु क्षणभंगुर। क्षण-क्षण में नाश हो, ऐसा उसका स्वभाव है। कहो, समझ में आया? **क्रमभावी पर्यायदृष्टि से...** वापस वह पर्यायदृष्टि से लिया। अब यह दूसरा क्या...? दूसरे प्रकार की। क्रम से होती अवस्था की दृष्टि से देखें, एक साथ अवस्थादृष्टि से देखें तो पर्यायदृष्टि अनेक है। क्रम-क्रम से होती अवस्थादृष्टि से देखें तो क्षणभंगुर है। आहाहा! अरे! शरीर और वाणी क्षणभंगुर तो कहीं रह गये। समझ में आया? वह सब नाशवान है। स्त्री, पुत्र, संयोग सन्ध्या के रंग जैसे हैं, भाई! घड़ीक में काला अन्धकार हो जायेगा। उसमें ... ये नहीं, यहाँ कहते हैं। यहाँ तो पर्याय नाशवान है। आहाहा! एक समयरूप अस्तिरूप उत्पन्न हुई, रही और गई। पण्डितजी! कितना है! देखो न, कितना है! सत् को सिद्ध करना हो तो उसमें किसी का सहारा या ... लेना नहीं पड़ता। सत्य तो सत्य ही है, इसलिए उसमें सीधा सत्य ही चला आता है। मिथ्या उत्थापन करना हो तो अनेक गड़बड़ी करनी पड़े। आहाहा! वस्तु ही ऐसी है न, भाई! समझ में आया?

सहभावी... भाषा कैसी ली? उसमें द्रव्य और पर्याय ली थी। इसमें पर्याय और गुण लिये। समझ में आया? क्रमभावी और अक्रमभावी, ऐसा इसमें लिया। क्या लिया, समझ में आया? पहले में पर्याय अर्थात् अनेकपना, बस। द्रव्य अर्थात् एकपना। दूसरे में पर्याय अवश्य परन्तु क्रम-क्रम से होती पर्याय से देखो तो क्षणभंगुर है। परन्तु सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर... देखो! उसमें द्रव्य डाला था। यहाँ गुण डाले। आहाहा! अक्रम डालना है न? क्रम और अक्रम। तो गुण अक्रम है। अधिक कहना है न? द्रव्य तो है, परन्तु गुण अनन्त हैं, वे सहभावी एकसाथ हैं। पर्याय एकसाथ नहीं होती। एक समय की एक ही पर्याय होती है। समझ में आया? सूक्ष्म तो है, भाई! मार्ग तो ऐसा सूक्ष्म है। और परम सत्य ही ऐसा है। कठिन लगे, न लगे परन्तु अब इस प्रकार जानना चाहिए।

संसार के दावानल से छूटना हो, तो उसे आत्मा का ऐसा स्वभाव, वह बराबर अन्तर

अनुभव में निर्णय लेना पड़ेगा। प्रिय में प्रिय पुत्र मरे तो पिता पागल हो जाता है। यहाँ जमींदार का पुत्र था। पागल हो गया।... इकलौता लड़का।... पढ़कर यहाँ विवाह किया। छह महीने का विवाहित। शोक लगा, उड़ गया। वह तो एक समय की पर्याय जीव का अन्तर जो था, वह बदलने का ही था। इस भव की पर्याय थी, वह दूसरे भव की पर्याय दूसरे समय होनेवाली थी। पर्याय, हों! शरीर तो ... आहाहा! ... की है, हों! और दूसरे समय में सीधे दूसरा भव। इस ममता में देह छूटी हो, ऐसे बहिर्लक्षी दृष्टि हो, अभी तो बढ़ूँगा, अभी तो ऐसा करूँगा, फिर ऐसा करूँगा। आहाहा! विवाह किया है तो लड़के होंगे, फिर यह वेतन बढ़ेगा। ऐसी ममता में देह छूटे, एकदम पर्याय बदल गयी। आहाहा! यहाँ मनुष्य की पर्याय, वह दूसरे समय में इस पर्याय का नाश होकर दूसरी गति की पर्याय। आहाहा! ऐसा क्षणभंगुर इसकी पर्याय का स्वभाव है।

सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर ध्रुव;... सहभावी अर्थात् सभी गुण एक साथ, ऐसा। पर्याय सब एक साथ नहीं होती। अनन्त गुण की पर्याय एक साथ होती है परन्तु एक गुण की एक पर्याय, एक गुण की दूसरी पर्याय एक साथ नहीं होती। **ज्ञान की अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टि से देखने पर परम विस्तार को प्राप्त दिखायी देता है...** ज्ञान की अपेक्षा से देखो तो सर्वगत सब देखे। लोकालोक मानो ज्ञान की पर्याय में आ गया हो। आहाहा! अलोक का अन्त नहीं, इसे ज्ञान में उसका भान हो गया। लोकालोक का विस्तार ज्ञान की पर्याय में जान जाये। इतना विस्तृत आत्मा है। ऐसा ही उसका अद्भुत वैभव है।

प्रदेशों की अपेक्षावाली दृष्टि से देखने पर अपने प्रदेशों में ही व्याप्त दिखायी देता है। असंख्य प्रदेश में ही है। वह कहीं दूसरे के प्रदेश में दूसरे की पर्याय होकर रही नहीं है। समझ में आया? देखो! यह सब योगफल लिया। **द्रव्यपर्यायात्मक...** लो, ठीक। द्रव्य अर्थात् वस्तु और पर्याय अर्थात् अवस्था। ऐसा आत्मक अर्थात् स्वरूप। अनन्त धर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। समझ में आया? हमारे मूलचन्दजी धर्मास्तिकाय में कहते, अरूपी और गति दो गुण होते हैं। द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण कैसे? लाओ दूसरा-तीसरा... द्रव्य को अनन्त गुण होते हैं। समझ में आया? बैरिस्टर कहलाते थे। धर्मास्तिकाय में दो गुण—एक गति और एक अरूपी। ऐई! ...भाई!

मुमुक्षु : अस्तित्व गुण नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें अस्तित्व का कहाँ भान था?

यहाँ तो **अनन्त धर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। वह (स्वभाव) अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है...** ज्ञानी और अज्ञानी दो की बात करेंगे। अज्ञानियों के ज्ञान में... आहाहा! यह क्या कहते हैं? वह की वह वस्तु अनेक, वह की वह वस्तु एक, वह की वह वस्तु क्षणभंगुर, वह की वह वस्तु ध्रुव, वह की वह वस्तु सर्वव्यापक, वह की वह वस्तु स्वक्षेत्र में रहे। क्या कहते हैं यह? समझे बिना कितने ही शंकराचार्य सबने जैन को नास्तिक ठहराया न? जैन का तो ठिकाना नहीं। अरे! भाई! तुझे खबर नहीं। वेदान्त दृष्टिवाले अद्वैत को माननेवाले जैन को नास्तिक ठहराते हैं। कुछ ठिकाना नहीं। यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है, यह उसका ठिकाना है।

ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है... अज्ञानी को, हों! अरे! **यह तो असम्भव सी बात है!** यह तो ऐसा सम्भव नहीं, हमें कुछ जँचता नहीं। और **ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता...** वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। **फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है,...** लो। आहाहा! उसको अकेला आश्चर्य होता है। ज्ञानी को... आहाहा! यह तो कोई वस्तु! ध्रुवरूप से एक, नाशवान नहीं, पर्यायरूप से नाशवान, पर्याय अनेक, द्रव्य से एक, विस्तार देखो तो लोकालोक को जोड़ दे, एक ओर असंख्य प्रदेश में समाहित है। ऐसा ज्ञानी को आश्चर्य नहीं होता।

फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है,... लो। आहाहा! ऐसे स्वभाव में देखने, स्थिर होने जाता है तो ओहो! अद्भुत अनन्त आनन्द... **और इसलिए आश्चर्य भी होता है।** उस आनन्द के कारण आश्चर्य होता है, ऐसा कहते हैं। उसको ऐसा होगा? ऐसा आश्चर्य होता है। आहाहा! कहाँ से आनन्द आया यह, देखो न! कुछ पर्याय के गन्ध में भी नहीं था। समझ में आया? अकेला दु:ख और आकुलता थी। यह कहाँ से किस खान में से यह आया? ध्रुव की खान में से आनन्द आया। समझ में आया? इसलिए आनन्द भी होता है और आश्चर्य भी होता है। दो ओर से आया। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २७४

पुनः इसी अर्थ का काव्य कहते हैं-

(पृथ्वी)

कषाय-कलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो,
भवोपहति-रेकतः स्पृशति मुक्ति-रप्येकतः।
जगत्त्रितय-मेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभाव-महिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ।।२७४।।

श्लोकार्थ : [एकतः कषाय-कलिः स्खलति] एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखायी देता है और [एकतः शान्तिः अस्ति] एक ओर से देखने पर शान्ति (कषायों के अभावरूप शान्तभाव) है; [एकतः भव-उपहतिः] एक ओर से देखने पर भव की (-सांसारिक) पीड़ा दिखायी देती है और [एकतः मुक्तिः अपि स्पृशति] एक ओर से देखने पर (संसार के अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; [एकतः त्रितयम् जगत् स्फुरति] एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (-प्रकाशित होता है, दिखायी देता है) और [तः चित् चकास्ति] एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। [आत्मनः अद्भूतात् अद्भुतः स्वभाव-महिमा विजयते] (ऐसी) आत्मा की अद्भुत से भी अद्भुत स्वभाव महिमा जयवन्त वर्तती है (-अर्थात् किसी से बाधित नहीं होती)।

भावार्थ : यहाँ भी २७३ वें श्लोक के भावार्थानुसार ही जानना चाहिए। आत्मा का अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियों को भारी आश्चर्य होता है। उन्हें इस बात में विरोध भासित होता है। वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभाव की बात को अपने चित्त में न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं। यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्था में उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि-'अहो! यह जिनवचन महा उपकारी हैं, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतानेवाले हैं, मैंने अनादि काल ऐसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है।'-वे इस प्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं।२७४।

प्रवचन नं. ५७७, श्लोक-२७४, २७५, २७६ शुक्रवार, पोष कृष्ण ४
दिनांक - १५-०१-१९७१

कषाय–कलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो,
भवोपहति–रेकतः स्पृशति मुक्ति–रप्येकतः।
जगत्त्रितय–मेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभाव–महिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः।।२७४।।

श्लोकार्थ – 'एकतः कषाय–कलिः स्खलति' आत्मा की व्याख्या है। आत्मा वस्तु है, उसका द्रव्य और पर्याय का वास्तविक स्वरूप साधकपने में कैसे भासित होता है, उसकी बात है। समझ में आया? **एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखायी देता है...** पर्याय में रागादि कषाय है न? न होवे, तब तो सिद्ध हो जाये। पर्याय में देखने से कषाया की आकुलता दिखती है। **'एकतः शान्तिः अस्ति' 'शान्तिः अस्ति' एक ओर से देखने पर शान्ति (कषायों के अभावरूप शान्तभाव) है;...** वस्तु का स्वभाव अकषाय स्वभाव है, इसलिए पर्याय में शान्ति दिखती है। उसी समय। दो है न? साधक है न? देखो! यह द्रव्य-पर्याय का स्वरूप। भगवान आत्मा अन्तर्मुख देखने से तो अत्यन्त शान्त अकषायस्वभाव है, अर्थात् कि निर्दोष अरागी वीतरागीस्वभाव है। पर्याय में देखने से रागभाव, कषाय की कलुषता (दिखती है)। **'कषाय–कलिः स्खलति'** कषाय का क्लेश **'स्खलति'** दिखता है। आहाहा! समझ में आया?

'एकतः भव–उपहतिः' एक ओर से देखने पर भव की... समीप मानो गति आदि में हूँ, ऐसी **पीड़ा 'उपहतिः'** घात होता है। मुक्ति में कुछ घात होने का नहीं है। यहाँ राग से घात होता है। ऐसा भव दिखता है। गति आदि दिखती है। पर्याय में गति आदि है। समझ में आया? **'एकतः भव–उपहतिः'** भव का समीपपना, राग में मनुष्य गति आदि हो, ऐसा दिखता है।

'एकतः मुक्तिः अपि स्पृशति' ऐसे देखो तो अत्यन्त भव के अभाववाला स्वभाव ऐसा मुक्त है, ऐसा भी दिखता है। देखो! यह जैनदर्शन का तत्त्व। जैन नहीं, वस्तु का तत्त्व ऐसा है। आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप अनेकान्तमय, शान्ति से विचारे तो खबर पड़े। इस

शरीर के दिखाव से देखो तो यह चमड़ी दिखती है, कोमलता दिखती है, चमड़ी के अन्दर का भाग दिखे तो दूसरा दिखता है। है या नहीं? ऊपर का लपेट दिखता है सरीखा और चमड़े का अन्दर का भाग देखो तो दूसरा दिखता है। आहाहा! ऐसे अन्दर के चमड़े बिना का अकेली हड्डियों का भाग देखो तो अत्यन्त... उसमें भरा हुआ मेद देखो तो मानो अन्दर गारा (मिट्टी) भरा हो। ऐसा यह शरीर है। उससे भगवान आत्मा (भिन्न है)। इस शरीर की स्थिति चार प्रकार—हड्डियाँ, चमड़े का बाहर का और अन्दर का भाग तथा हड्डियाँ और मज्जा, चर्बी, चार भाग है न? सेठ! आहाहा! चार को भिन्न करके बड़े तपेले में भरकर डाले हों तो हाय.. हाय... ऐसा शरीर है? उल्टी हो। आहाहा! उस चमड़ी का लपेट का भाग देखो तो दूसरा और अन्दर का भाग देखो तो दूसरा पीछे का। है या नहीं? ऐसे हड्डियों का भाग अलग और हड्डियों का मेद है, वह अलग जाति। उसी प्रकार इस भगवान आत्मा में पर्याय में देखो तो मानो भव है, स्वभाव से देखो तो मुक्ति है। समझ में आया? 'मुक्त एव'। आता है न? भाई! (१९८) कलश में। आहाहा!

वस्तु है, वस्तु। यद्यपि उस पर्याय का लक्ष्य छोड़ दे तो उसकी वस्तु है, वह तो मुक्त ही है। उसकी पर्याय में मुक्ति भासित, हों! मुक्त है, वह अलग बात है। यहाँ तो **'मुक्तिः स्पृशति'** ऐसा है न? वस्तु मुक्त है, वह अलग, परन्तु उसे ऐसे देखने से मुक्तपना अकषाय परिणाम मुक्त है, ऐसा भासित हो। आहाहा! समझ में आया? ऐसा आत्मा का स्वभाव है, अद्भुता अद्भुत है। उसमें अद्भुत डाला था, इसमें अद्भुता अद्भुत। देखो! यह अन्तिम श्लोक ऐसे आते हैं।

मुमुक्षु : आपकी कृपा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का भी भाग्यशाली है। इसे बात बहुत बैठी है।

मुमुक्षु : भाग्यशाली की अपेक्षा भी पुरुषार्थशाली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भाग्यशाली के... इतनी उम्र में बहुत रटा हुआ स्पष्ट बोलता है। हो! आत्मा है, इसे उम्र कहाँ है। आहाहा! अरे! देह की स्थिति पूरी हो जायेगी, देह की स्थिति मरण के सन्मुख हो जायेगी। उस समय कोई इसे शरण और साथ, बाहर की इज्जत, कीर्ति कहीं स्पर्श करे ऐसा है?

कहते हैं कि तू तुझे देख तो ऐसा तुझे तेरा भासित हो, दूसरे का नहीं। धर्म की दृष्टि होने पर वस्तु अखण्ड अभेद चैतन्यज्योति, ऐसी दृष्टि होने पर पर्याय में राग भी दिखता है, भव भी दिखता है, दोनों इकट्ठा दिखता है और इस ओर देखो तो शान्ति दिखती है और मुक्ति दिखती है। आहाहा! समझ में आया? शरीर को और इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। चमड़ी, हड्डियों को कुछ सम्बन्ध नहीं है। उसरूप रहकर होकर रहे परन्तु अपनेरूप होकर रहे तो यह दो भाग है, कहते हैं। यह तो उनरूप हड्डियाँ, शरीर, चमड़ी बाहर की और अन्दर की वह तो उनकेरूप उनके होकर उनमें रहे हैं। तुझमें तू है, यह बात यहाँ करते हैं। सेठ! आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं? मकनभाई! मकनभाई को कहाँ निवृत्ति ... आहाहा! वे ... भाई गुजर गये। छोटी उम्र में हार्ट फेल।

अरे! परन्तु कोई किसी का कहाँ है? मरण की शैय्या में अन्तिम स्थिति देखो और फिर चिता सुलगती देखो इसे। शरीर को। ऐ मोहनभाई! और यह चार प्रकार यह देखो। बाहर चमड़ी और अन्दर हड्डियाँ और क्या है यह? इसे देखना छोड़ दे, कहते हैं। तेरे अस्तित्व के अस्तित्व में क्या-क्या है? यहाँ.... एक ओर (क्लेश) दिखता है, दूसरी ओर मुक्ति दिखती है। एक ओर गति दिखती है, यहाँ गति बिना का स्वभाव दिखता है। कब? अभी। यह साधक की दशा की बात है न? मुक्ति हो, उसकी अभी बात नहीं है। आहाहा! एक ओर देखो तो भव, गति दिखती है, कहते हैं। एक ओर से देखो तो स्त्री, पुत्र और बँगला दिखता है, यह बात तो यहाँ है नहीं। इसके अस्तित्व में नहीं। समकिती के अस्तित्व में नहीं। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी के अस्तित्व में अज्ञान, मिथ्यात्व आदि है परन्तु इस वस्तु के अस्तित्व में भासित नहीं हुआ कि उसकी बात यहाँ नहीं है।

वस्तुरूप से भगवान चैतन्यदल, ज्ञानस्वभावरूप त्रिकाल और अवस्था में भव। कहते हैं कि ऐसा उसका कोई वैभव है। ऐसी अद्भुत उसकी दशा है। अज्ञानी को तो बैठना असम्भवित लगता है। यह तो कैसे होगा? समझ में आया? एक ओर मुक्ति भी स्पर्श करती है। भी है न? **'एकतः भव-उपहतिः'** ऐसे देखो तो **'उपहतिः'** अर्थात् भव है। .... और एक ओर मुक्ति भी स्पर्श करती है। इस पीड़ा के काल में, भव के काल में मुक्ति स्पर्श करती है। आहाहा! देखो! यह भगवान आत्मा का स्वभाव। धर्मी को इस प्रकार भासे, तब धर्म कहलाये। आहाहा! समझ में आया?

'एकतः त्रितयम् जगत् स्फुरति' एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (–प्रकाशित होता है, दिखायी देता है)... तीन काल-तीन लोक मानो ज्ञात होते हैं। इसकी ज्ञान की पर्याय देखने से, इसमें ज्ञात होते हैं। **'एकतः चित् चकास्ति' एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है।** एक ही चैतन्यमात्र, चैतन्यमात्र, चैतन्यमात्र, चैतन्यमात्र, ज्ञानमात्र शोभता है। **'चकास्ति'** आहाहा! समझ में आया? इसकी पर्याय में और द्रव्य में है, वह इसके अस्तित्व में ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं। बाकी दूसरा तो कुछ है नहीं। देखो! यहाँ भव, कर्म दिखते हैं, ऐसा नहीं लिया, भाई! मात्र गति दिखती है। इसकी पर्याय में गतिपना है, वह दिखता है। पण्डितजी! क्योंकि इसकी अपनी पर्याय में है। दूसरे की अवस्था और दूसरा अस्तित्व हो, उसका यहाँ क्या काम है? क्या कहा यह? एक ओर कर्मवाला दिखता है, ऐसा नहीं कहा। यहाँ तो भव की गति अवश्य दिखती है। ऐसे देखो तो मुक्ति स्पर्श करती है। बस, पर्याय और द्रव्य का अस्तित्व ऐसा है। ऐसा ज्ञान में जब ले, तब उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। रतिभाई! आहाहा! एक ओर देखो तो शरीर दिखता है, एक ओर देखो तो आत्मा दिखता है—ऐसा यहाँ नहीं लिया। उसका यहाँ काम नहीं। उसके अस्तित्व में वह रहा है, यहाँ क्या? समझ में आया? क्या होगा यह सब? एक ओर से देखो तो मशीन दिखे, ऐसा नहीं कहा।

मुमुक्षु : एक ओर मशीन दिखे, एक ओर रुपया दिखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ओर इसका कमाने का भाव दिखता है, ऐसा कहते हैं। उसका यहाँ काम ही नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा पूर्ण स्वभाव वस्तु, ऐसा भान होने पर भी प्रमाणज्ञान में वर्तमान भव है, वह भासित होता है, ऐसे भव बिना की चीज़ भासित होती है। इसलिए इसे अन्दर में निश्चित हो जाता है कि यह भव का भाव अब अल्पकाल रहेगा। लम्बे काल रहेगा नहीं। समझ में आया? एक ओर तीन काल ज्ञात होते हैं, पूरा जगत ज्ञात होता है; एक ओर चैतन्यमात्र ज्ञात होता है। अकेला ज्ञानमात्र आत्मा। अकेला ज्ञान। ज्ञेय भेद से ज्ञान में भेद मालूम पड़ना, यह अनन्तानुबन्धी आया है न? १४वीं गाथा के कलश में द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म यह अपने मानना, वह संकल्प मिथ्यात्व है। ज्ञेयभेद से ज्ञान में भेद मालूम

पड़ना। एकरूप ज्ञान है, उसमें भेद मालूम पड़ने (से) ज्ञान खण्ड-खण्ड हो गया? ज्ञान खण्ड-खण्ड होता ही नहीं। समझ में आया? यह ज्ञेयभेद से ज्ञान ... वह मानो मैं खण्ड हो गया। यह अनन्तानुबन्धी का विकल्प है। यहाँ कहते हैं, ज्ञान में तीन काल, जगत दिखता है, वह खण्ड नहीं हुआ। अनेकपना भासित होता है। ऐसे देखो तो ज्ञान एकरूप भासित होता है। बस! यहाँ इतनी बात है। वह बात यहाँ नहीं है।

मुमुक्षु : अज्ञानी की बात नहीं, साधक की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी की बात नहीं। समझ में आया? वीतराग का मार्ग भारी, भाई! उसमें यह कलश तो ... ... परन्तु आ गया है, सार... सार आ गया है। अद्भुता अद्भुत। कहो, समझ में आया?

एक देखने से, केवल एक चैतन्य। **'एकतः चित् चकास्ति'** अकेला ज्ञान ही है, जगत का अनन्तपना नहीं, परन्तु एक ज्ञान, बस। ऐसे उसका चैतन्य का वैभव है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में ऐसा आत्मा का तत्त्व भासित होता है। आहाहा! धर्मी, धर्मी कहे, धर्म करते हैं, बापू! सुन भाई! धर्म करे, उसे ऐसा आत्मा भासित होता है। समझ में आया? हम दया पालते हैं, हमने यह पाला था, इसलिए धर्मी—ऐसा उसे भासित नहीं होता। उसे तो वर्तमान में रागादि हों, वह दुःखस्वरूप भासित होते हैं, स्वभाव देखने से शान्ति भासित होती है। यह बात है। आहाहा! एक ओर भव भासित होते हैं, एक ओर मुक्ति भासित होती है। एक ओर तीन लोक का ज्ञान मानो हुआ हो, ऐसा भासित होता है, यहाँ एक चित्चमत्कार अकेला ज्ञान है, ऐसा भासित होता है। एक फीटीने दो हुआ नहीं। ऐसा ज्ञानस्वरूप है, भगवान आत्मा का। आहाहा!

बड़ा परिवार हो, पच्चीस वर्ष का जवान हो, दो वर्ष का विवाहित हो... यह छह-छह महीने के विवाहित में अभी दो गुजर गये न? अभी छह-छह महीने के विवाहित। वास्तव में तो... इकट्ठे हों और ऐसे देखें तो मानो... अपने भगवानजीभाई नहीं? भाई! उनके भाई बड़े भाई की लड़की का लड़का मर गया। साढ़े तेईस वर्ष का। पचास लाख रुपये और तेईस वर्ष की उम्र, छह महीने का विवाहित।... यहाँ तो दूसरा कहना है... क्या करे? क्या हो? बापू! कौन है कारण? कहाँ है तू? किसमें है तू? अरे! कोई मेरा नहीं। तेरा कब था? तेरा तो तुझमें है। छह महीने का विवाह... आहाहा! वह जमींदार, ... साढ़े तेईस वर्ष

की उम्र, छह महीने का विवाह। इकलौता लड़का, पैसे खर्च किये, अमेरिका में एक सेकेण्ड। अरे! परन्तु यह क्या है यह ? वह तुझमें नहीं होता। वह तो सब देह का संयोग और वियोग देह के अस्तित्व में होता है। तुझमें तो राग... यहाँ तो जाननेवाला लेना है न ? जो जानता नहीं, उसे राग हूँ या यह हूँ, वह कुछ ज्ञात नहीं होता। पण्डितजी! उसे जानता हुआ है, जो जानता हुआ है, जाननेवाला है, वह जानता हुआ है। उस जाननेवाले के ज्ञान में ऐसे दो प्रकार भासित होते हैं। ओहो! तीन काल मानो पूरा जगत यहाँ ज्ञात होता है पर्याय में देखे तो। ऐसे देखो तो चैतन्य चमत्कार एकरूप ही ज्ञान रहा है। ओहो!

'आत्मनः अद्भूतात् अद्भुतः स्वभाव-महिमा विजयते' ऐसा आत्मा का अद्भुत से भी अद्भुत... पण्डितजी! .... **(-किसी से बाधित नहीं होती)**। भव भी स्वयं के कारण से है, किसी से बाधित नहीं हुआ। समझ में आया ? कषाय की कलुषितता भी उस समय की साधक को बाधकरूप से स्वयं के कारण से है, किसी से बाधित नहीं हुआ। यह सब होकर लेना है न ? अद्भुतात् अद्भुत वैभव। .... जीवतत्त्व कहा है न ? तत्त्वार्थसूत्र। जीवतत्त्व है। यह भी प्रमाणज्ञान कराया है... भाई! तू आत्मा है न, प्रभु! तेरा अस्तित्व तुझमें है वस्तु से, और पर्याय से अस्तित्व भी, एक क्षणिकपना तुझमें है। क्षणिकरूप से परिणमना और रागादि, वह भी तुझमें है। दूसरापन तुझमें नहीं है, दूसरे में तू नहीं है। तेरे अस्तित्व में अस्तित्व है। समझ में आया ? आहाहा!

यह मरण की अन्तिम घड़ी हो, हें सुमनभाई! ऐसे सुनमुन हो जाये। हाय... हाय। ... रोवे। देखा है न। हमारे घर में जब बड़े भाई गुजर गये तब। (संवत्) १९५७ की बात है। आठ वर्ष का विवाहित, एक का एक लड़का। घर में कमाऊ एक जगा। मुम्बई में पानी पी गया। अट्ठाईस वर्ष की उम्र। १९५७ के वर्ष में देह छूट गया। एक ओर महिलायें रोवें, एक ओर माँ रोवे, एक ओर हमारे पिताश्री आनेवाले थे तो राह देखे। परदेश में से आज आयेंगे ऐसा। आहाहा! ... शाम को गुजर गये, इसलिए पूरी रात मुर्दा रखना पड़ा। ... क्या कहलाता है ? कोश। सिर पर कोश रखे। मुर्दा ऊँचा न हो। आहाहा! भगवान! अरे! जिसे ऐसी कंपकंपी में बड़ा किया, सम्हाला, वह रहा नहीं तेरा। तेरी सम्हाल से कुछ नहीं रहा। किसका रहे ? वह कहाँ तेरे अस्तित्व में था ? तेरी सम्हाल तेरे स्वभाव की और तेरा ज्ञान तेरी दशा का। आहाहा!

भावार्थ – यहाँ भी २७३ वें श्लोक के भावार्थानुसार ही जानना चाहिए। आत्मा का अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर... अनेकान्त अर्थात् दोनों धर्म। द्रव्यधर्म, पर्यायधर्म। अनेक अन्त अर्थात् बहुत अन्त अर्थात् धर्म। ऐसा **स्वभाव सुनकर अन्यवादियों को भारी आश्चर्य होता है।** ऐसे पागल वे जैन, ऐसा दूसरों को लगता है, हों! समझ में आया? **अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियों को भारी आश्चर्य होता है। उन्हें इस बात में विरोध भासित होता है।** उसे विरोध भासित होता है। आहा! यह क्या पागल जैसी बातें करते हैं? इन शंकराचार्य जैसों को वेदान्तवालों को जैन पागलपन जैसा लगता है। आहाहा! भाई! जैसा है वैसा है, हों! आहा! धर्म समझा नहीं था और समझा, वहाँ क्या अन्तर पड़ गया? देखो न! यह पर्याय में अन्तर पड़ा, अवस्था में अन्तर पड़ा, वस्तु तो वस्तु ही है। पर्याय न माने तो वह वस्तु को समझा नहीं और नहीं समझा था, वह साबित कहाँ होता है? समझ में आया? कहते हैं, यह अज्ञानी को तो विरुद्धता भासित होती है।

वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभाव की बात को अपने चित्त में न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं। तुम्हारी बातें पागल जैसी हैं। **यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्था में उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है...** आहा! ऐसा स्वरूप! **'अहो! यह जिनवचन महा उपकारी हैं,...** श्रद्धा होती है। आहा! ऐसा स्वभाव! ऐसा मार्ग तो वीतराग के वचन में है, अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! वीतराग परमात्मा सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव की वाणी में ऐसा स्वरूप है। मिथ्यादृष्टि को तो ... आहाहा! ऐसी बात गजब बात है! सुनी नहीं थी। **'अहो! यह जिनवचन महा उपकारी हैं,...** जिसमें ऐसे स्वभाव की स्थिति है, उसे वर्णन किया है और हमको समझने में आयी। **वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतानेवाले हैं,...** जैसी वस्तु है, वैसे यथार्थ स्वरूप को बतलानेवाले हैं। कल्पित नहीं कि ऐसा होगा और वैसा होगा।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतानेवाले हैं, मैंने अनादि काल ऐसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है। ऐसा कहते हैं। **आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं।** ऐसे आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करता है। आहाहा! वस्तु की मर्यादा का स्वरूप जैसा जिनवचन में कहा, वैसा अन्यत्र कहीं है नहीं। यह वाड़ावाले गहरा विचार नहीं करते। नहीं

तो इन्हें लगे... वाह! समझ में आया? परन्तु अपने सम्प्रदाय के पक्ष की प्रणालिका को बढ़ाने के मिथ्या प्रयास में लगे हैं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : .... परन्तु न्याय से देख तो सही कि ... जैसी वस्तु हो, वैसी कहे तो शास्त्र। न हो वैसी कहे तो शास्त्र किसे कहना? पर्याय, द्रव्य का अस्तित्व, पलटता अस्तित्व, एकरूप रहता अस्तित्व, ऐसा उसका स्वभाव उसे कहते हैं कि जहाँ अकेली दया पालने का विकल्प, ऐसे देखे तो मानो राग दिखता है। उसे पालन कर सकता हूँ, वह यहाँ बात नहीं है। इतनी बात है। और वह भी किसे दिखता है यह? कि जिसने रागरहित अकषायस्वभाव जाना है, उसे। ऐसा स्वभाव! यह वस्तु! समझ में आया?

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतानेवाले हैं, मैंने अनादि काल ऐसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है।'–वे इस प्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं।

कलश - २७५

अब, टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मंगल के अर्थ इस चित्चमत्कार को ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी–
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ।।२७५।।

श्लोकार्थ : [सहज–तेजः पुञ्ज–मज्जत्–त्रिलोकी–स्खलत्–अखिल–विकल्पः अपि एकः एव स्वरूपः] सहज (–अपने स्वभावरूप) तेजःपुञ्ज में त्रिलोक के पदार्थ

मग्न हो जाते हैं, इसलिए जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं, तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं; इसलिए जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है, तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एकस्वरूप ही है), [स्व-रस-विसर-पूर्ण-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भ:] जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अछिन्न तत्त्वोपलब्धि है (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म का अभाव हो जाने से जिसमें स्वरूपानुभव का अभाव नहीं होता) [प्रसभ-नियमित-अर्चि:] और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्त वीर्य से निष्कम्प रहता है) [एष: चित् चमत्कार: जयति] ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्य चमत्कार जयवन्त वर्तता है। (-किसी से बाधित नहीं किया जा सकता, ऐसा सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है)।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथन में जो चैतन्यचमत्कार का सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मंगल है)।२७५।

कलश - २७५ पर प्रवचन

अब, टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मंगल के अर्थ इस चित्चमत्कार को ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं। २७५

जयति सहजतेज:पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप:।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भ:,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष:।।२७५।।

यह चमत्कार है। आहाहा! अपना क्षेत्र छोड़े नहीं और तीन काल... तीन क्षेत्र (लोक) को जाने, ऐसी चित्चमत्कार वस्तु है। समझ में आया? यह आत्मा की बात छोड़कर दूसरी बातें (करे)। दया पालना और व्रत व्रत पालना और भक्ति करना, पूजा करना, मन्दिर करना, इसमें धर्म। ऐई! सुमनभाई! यह शुभभाव तब होता है परन्तु वस्तु का स्वरूप यह नहीं है। समझ में आया? परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग की वाणी में केवलज्ञान में आया, वैसा वाणी में स्व-परप्रकाशक शक्ति का वर्णन आया है।

अहो! **'सहज-तेजः पुञ्ज-मज्जत्-त्रिलोकी-स्खलत्-अखिल-विकल्पः अपि एकः एव स्वरूपः' सहज (-अपने स्वभावरूप) तेजःपुञ्ज में...** ज्ञान के तेज के पुंज में **त्रिलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं,...** तीन लोक के पदार्थ ज्ञात होने से तीन लोक के पदार्थ कहाँ अन्दर मग्न हो जाते हैं? परन्तु तीन लोक के पदार्थ का ज्ञान यहाँ हुआ; इसलिए मानो तीन लोक के पदार्थ यहाँ ज्ञान में आ गये। प्रवचनसार में आया है न? छह बोल। ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य सूर्य, भरत का सूर्य, अध्यात्म सूर्य। जैसा स्वरूप है, वैसा भाते हैं। देख भाई! ऐसा आत्मा होता है, ऐसा आत्मा होता है।

तेजःपुञ्ज में... यह तो सहज तेज पुंज है। ज्ञानस्वभावभाव की अस्ति में उसका सहज चैतन्य का तेज है। तीन लोक के पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं। **जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं...** मानो तीन काल ज्ञात हो गये, इसलिए मानो अनेक भेद लगते हैं। **तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं...)** झलकते, समझाना है न? **(अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है...)** मानो कि लोकालोक ज्ञेय हो और उसके आकार ज्ञान हुआ हो, ऐसा ज्ञात होता है। उस ज्ञानाकाररूप से, ज्ञेय के आकाररूप से ज्ञान का अपना आकार है। समझ में आया?

(अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखायी देता है, तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एकस्वरूप ही है),... अनन्त जानने से ज्ञानस्वरूप में कहीं दो समय नहीं हुए वहाँ। एक समय में सब ज्ञात हो जाता है। एकरूप ही ज्ञान है। आहाहा! अनेक को जानने पर भी ज्ञान एकरूप है। **(चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में...)** ज्ञेय लोकालोक है, उसकी जानने की पर्याय में स्वयं की पर्याय है, अपना अस्तित्व है। आ गया है न? ज्ञेय जिसमें प्रवेश नहीं करते परन्तु ज्ञेय सम्बन्धी का ज्ञान अपने में अस्तिरूप परिणमता है। उस ज्ञानरूप से देखो तो अनन्त को जानता है, ऐसा लगता है, इस प्रकार ज्ञानाकार की दृष्टि में एकरूप ज्ञान हुआ है। अनेक और एक। समझ में आया? **'मज्जत्-त्रिलोकी'**

'स्व-रस-विसर-पूर्ण-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भः' जिसमें निजरस के विस्तार से... अपने ज्ञान का फैलाव, विस्तार शक्ति में से पर्याय में विकासरूप ज्ञान परिणमा है। **'पूर्ण-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भः'** अब उसे कोई छिन्न करे, ऐसा नहीं है। देखो! इस

स्वरूप के अनुभव का अभाव नहीं होता। जो अनुभव हुआ, वह हुआ–ऐसा कहते हैं। अब उसका अभाव नहीं होता। आता है न? उपयोग का हरण नहीं होता। अलिंगग्रहण का नवाँ बोल है। तत्त्व का उपयोग जो है, उसका कोई हरण कर सके, ऐसा जगत में कोई नहीं है। आहाहा! उपयोग का हरण अर्थात् नाश, नाश। उपयोग है, उसमें ज्ञान को पकड़ा है, उसे उपयोग कहते हैं न? उस उपयोग का हरण—नाश कभी नहीं होता। जिसने द्रव्य के साथ सन्धि की है, तो उस द्रव्य का नाश हो तो उपयोग का नाश हो। आहाहा! देखो! अपना भाव भी अप्रतिहत है, ऐसा बताते हैं। समझ में आया? बात करते हैं, केवलज्ञान की अथवा अकेले आत्मा के स्वभावज्ञान की। ज्ञान में भी केवल अकेला ज्ञान ही है। सब ज्ञात होने पर भी अनेकपना ज्ञात होने पर भी एकरूप मिटकर दो रूप नहीं हुआ। ज्ञान चैतन्य चमत्कार एकरूप ही है।

निजरस के विस्तार से... जैसे कली खिले। **'पूर्ण–अच्छिन्न–तत्त्व–उपलम्भः' (प्रतिपक्षी कर्म का अभाव हो जाने से जिसमें स्वरूपानुभव का अभाव नहीं होता)...** यह तो बात की, परन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है। भगवान शक्तिरूप से पूर्ण, स्वभावरूप से पूर्ण, ऐसी जहाँ दशा में पूर्णता हो गयी, पश्चात् पूर्ण में क्या हो? पूर्ण का अपूर्ण होगा? आहा! पूर्ण हुआ, वह साध्य हुआ, वह अब साधक होगा? तो पूर्ण हुआ, वह विपरीत होगा? आहाहा! पूर्ण को साधकरूप से होना, यह भी नहीं रहता और विपरीत तो हो सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। साधक से सिद्धपद हुआ, परन्तु सिद्धपद से अब साधक हो, ऐसा नहीं होता तो विपरीत हो, यह तो प्रश्न है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

निजरस के विस्तार से... निज स्वभाव के विस्तार से। यह तो अपना रस–शक्ति थी। उसके रस के विस्तार से पूर्ण अछिन्न। पूर्ण और अछिन्न—छेदन न हो ऐसा। ऐसी तत्त्व उपलब्धि हुई। आहाहा! प्राप्ति हुई, उसकी बात है न? तत्त्व तो तत्त्व है, पर्याय में प्राप्ति हुई। बहुत धीर मार्ग, शान्ति से... यह वस्तु तो दुर्धर पुरुषार्थ से प्राप्त हो, ऐसी चीज़ है। समझ में आया? यह अनायास प्राप्त हो जाये, ऐसी यह वस्तु नहीं है।

'प्रसभ–नियमित–अर्चिः' अनुभव का अभाव नहीं होता और अचल **जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्त वीर्य से निष्कम्प रहता है) 'अर्चिः'**

आया है न इसमें? नियमित जिसकी, निश्चय जिसकी ज्योति एकरूप रहती है, ऐसा कहना है। उसमें त्रूटक नहीं होती, ऐसा कहा। अछिन्न उपलब्धि हुई, तूटे नहीं ऐसी उपलब्धि हुई। यहाँ कहते हैं कि उसकी ज्योति नियमित चलती है। ज्ञानधारा जो पूर्ण हुई, नियमित, नियमित, नियमित—निश्चय। निष्कम्प रहती है। नियमित जिसकी ज्योति है अर्थात् अकम्प जिसकी दशा है।

'एषः चित्–चमत्कारः जयति' ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... भगवान। ऐसा कहते हैं। **'एषः'** कहा न? **'एषः'**—यह। जिसके अनुभव के लिये विकल्प की आवश्यकता नहीं, निमित्त की आवश्यकता नहीं। ऐसा भगवान प्रत्यक्ष अनुभवगम्य। ऐसा यह प्रत्यक्ष अनुभवगम्य **चैतन्य चमत्कार जयवन्त वर्तता है। (–किसी से बाधित नहीं किया जा सकता, ऐसा सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है)।** चैतन्य चमत्कार जिसका। महा मांगलिक का मांगलिक किया। अन्तिम कलश है न! ऐसा भगवान आत्मा, पर की दया और हिंसा की तो यहाँ बात भी नहीं। परसम्बन्धी में अपनी निर्बलता के कारण जो रागादि होते हैं, वे अपने अस्तित्व में हैं, ऐसा जान। साधक की बात है न? परन्तु साधक से यह हुआ, पश्चात् तो कुछ रहा नहीं। आहाहा! पूर्ण हो गया। पूर्ण स्वरूप, पूर्ण स्वरूप, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल। अर्चि अन्त में है। निष्कम्प में अनन्त वीर्य डाला। ... ज्ञान डाला।

ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्य चमत्कार... आहाहा! कहते हैं, चैतन्य के चमत्कार के समक्ष जगत में दूसरा चमत्कार नहीं है। जिसके एक समय में तीन काल —तीन लोक ज्ञात हों और वापस ज्ञान एकरूप रहे। ऐसा चैतन्य-चमत्कार, तुझे दूसरा कौन सा चमत्कार चाहिए है? इसे यह लब्धि प्रगट हुई है और उसे यह लब्धि प्रगट हुई है, इसलिए बड़ा। धूल में भी नहीं है, सुन न! आहाहा! यहाँ तो बारह अंग के ज्ञान को विकल्परूप से कहा है। उसका चमत्कार जो है, वह तो पूर्ण प्राप्ति।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तो कहाँ है? नीचे भी नहीं। परन्तु यह तो पूर्ण हुआ, उसमें वापस न्यूनता नहीं और अछिन्न है। पूर्ण है और छेदन हो, ऐसा नहीं है। ऐसा चित्चमत्कार **'जयति'** जय हो... जय हो...! किसी से बाधित नहीं किया जा सके ऐसा है।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथन में जो चैतन्यचमत्कार का सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मंगल है)। यही मांगलिक है। पवित्रता की प्राप्ति और अपवित्रता का नाश, यही मांगलिक है। और आत्मा अपने स्वरूप की अन्तर्दृष्टि करके पर्याय को जाने, द्रव्य को जाने। जानते-जानते आगे बढ़ गया। राग गया और पूर्ण वीतरागता हुई। अल्पज्ञ गया और सर्वज्ञता हुई। वह ऐसा का ऐसा रहेगा। 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में।' उसे यहाँ साध्यपद, सर्वज्ञपद, सिद्धपद कहा जाता है। यह सिद्धपद जयवन्त वर्तो। आहाहा!

पति के पीछे पत्नी मरने जाये, सती होने जाये, ... आहाहा! .... पति के साथ जले। .... विकल्प नहीं होता कि मुझे दु:ख होगा या नहीं होगा। इतना जगत का राग है, वहाँ उसे पीड़ा है या नहीं, इसका ख्याल नहीं है। उसी प्रकार यह आत्मा आनन्द के झरने से होम करके केवलज्ञान में पड़ता है। आहाहा! यह अनुभूति उसकी रानी है। उसका यह आत्मा राजा है। आहाहा! जयवन्त वर्तो, तेरे चैतन्य के चमत्कार। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)।

कलश - २७६

अब इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को आशीर्वाद देते हैं और साथ ही अपना नाम भी प्रगट करते हैं-

(मालिनी)

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरत-निमग्नं धारयद् ध्वस्त-मोहम्।
उदित-ममृतचन्द्र-ज्योति-रेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं नि:सपत्नस्वभावम्।।२७६।।

श्लोकार्थ : [अविचलित-चिदात्मनि आत्मनि आत्मनम् आत्मना अनवरत-निमग्नं धारयत्] जो अचल चेतनास्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती), [ध्वस्तमोहम्]

जिसने मोह का (अज्ञानान्धकार का) नाश किया है, [निःसपत्नस्वभावम्] जिसका स्वभाव निःसपत्न (-प्रतिपक्षी कर्मों से रहित) है, [विमल-पूर्णं] जो निर्मल है और पूर्ण है; ऐसी [एतत् उदितम् अमृतचन्द्र-ज्योतिः] यह उदय को प्राप्त अमृतचन्द्र ज्योति (-अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) [समन्तात् ज्वलतु] सर्वतः जाज्वल्यमान रहो।

भावार्थ : जिसका न तो मरण होता है और न जिससे दूसरे का नाश होता है, वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट (मीठा) होता है, उसे लोग रूढ़ि से अमृत कहते हैं। यहाँ ज्ञान को-आत्मा को-अमृतचन्द्रज्योति (-अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत् का लोप होकर अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है।

(यदि 'वत्' न रखकर 'अमृतचन्द्र ज्योति' अर्थ किया जाए तो भेदरूपक अलंकार होता है। और 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ही आत्मा का नाम कहा जाए तो अभेदरूपक अलंकार होता है।)

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानान्धकार का दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है; 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है, और 'समंतात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्व काल में प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है।

इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव ने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है। समास बदलकर अर्थ करने से 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्रज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं, जो कि यथासम्भव जानना चाहिए।२७६।

कलश - २७६ पर प्रवचन

अब इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को आशीर्वाद देते हैं... आत्मा को आशीर्वाद देते हैं। और साथ ही अपना नाम भी प्रगट करते हैं- अमृतचन्द्राचार्य है न?

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरत-निमग्नं धारयद् ध्वस्त-मोहम्।
उदित-ममृतचन्द्र-ज्योति-रेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम्।।२७६।।

आहाहा! अमृत का रेला चला आता है। अमृतचन्द्र। अमृतचन्द्र आत्मा। कभी मरे नहीं चन्द्र। वैसे चैतन्य का प्रकाश कभी हलका नहीं होता। ऐसी अमृतचन्द्र ज्योति चैतन्य भगवान। देखो! अब यह नाम भी आ गया, भाई! **'अविचलित-चिदात्मनि आत्मनि आत्मनम् आत्मना अनवरत-निमग्नं धारयत्'** भगवान **जो अचल चेतनास्वरूप आत्मा में...** कैसा है आत्मा? **अचल चेतनास्वरूप...** है। **'अविचलित-चिदात्मनि'** अविचलित चेतनास्वरूप ऐसे आत्मा में **आत्मा को अपने आप ही निरन्तर...** विकल्प से, राग से और निमित्त से नहीं, ऐसा कहते हैं।

अचल चेतनास्वरूप आत्मा में... ऐसा भगवान अपने स्वभाव में, अपने स्वभाव को अर्थात् आत्मा को, अपने से ही अर्थात् अपने स्वभाव से ही **निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती),...** उसकी परिणति, ज्योति। चैतन्यज्योति प्राप्त की हुई कभी बुझती नहीं। दीपक जलहल बड़ी ज्योति करे परन्तु वापस तेल समाप्त और समाप्त हो, तेल समाप्त और समाप्त हो जाये। इसी प्रकार यह समाप्त हो, ऐसा नहीं है। जिसे तेल की और बत्ती की आवश्यकता नहीं है। ऐसा चैतन्य-दीपक प्रकाश का पूर, नूर इस आत्मा को निमग्न रखता है। स्वयं अपनी परिणति, चैतन्य ज्योति अपने में निमग्न रखता है, ऐसा कहते हैं। चैतन्य ज्योति कही न? अमृतमयी चन्द्रमा समान ज्योति।

अचल चेतनास्वरूप आत्मा में... आत्मा केवल अचल चेतनास्वरूप ऐसा। रागवाला या विकल्पवाला, ऐसा नहीं। **आत्मा को अपने आप ही निरन्तर...** अपने शुद्ध स्वभाव से अनाकुल ज्ञान और आनन्द के निज स्वभाव से निमग्न रखता है, अपने में मग्न। नि-मग्न। डूब गया, ज्ञानपर्याय उसमें एकाकार हो गयी। **(अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभाव को कभी (चैतन्य ज्योति) नहीं छोड़ती),...** उस ज्योति की बत्ती को

तेल का... क्या कहलाता है ? मिट्टी का दीया, उसकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा अचल दीपक। शरीर की मिट्टी के रजकण से भिन्न। अपने तेज के अन्तर में निमग्न होती ज्योति अपने से शोभ रही है। आहाहा! आचार्य को वस्तु के मूल की दशा का वर्णन करते हुए उसे कहने में शब्द नहीं मिलते। आहाहा! शब्द वहाँ पहुँचते तो नहीं, परन्तु कहने में शब्द कितने रखना उसके लिये.... आहाहा! कितना क्षयोपशम है इनका! मुनि हैं, भावलिंगी सन्त हैं, जंगल में विराजते हैं। 'जंगल वसाव्युं रे जोगीये...'। आत्मा में मस्त हुए योगी।

कहते हैं, क्या कहें हम ? यह अमृत—न मरे, ऐसी चन्द्र के प्रकाश की ज्योति स्वयं अपने में मग्न होकर रही है। देखो! यह मुनिपना और देखो! इस चैतन्य के चमत्कार की दशा! **'ध्वस्तमोहम्' जिसने मोह का (अज्ञानान्धकार का) नाश किया है,...** अज्ञानपना तो है नहीं। अपनी ज्योति में निमग्न है। आहाहा! **'निःसपत्नस्वभावम्' जिसका स्वभाव निःसपत्न (–प्रतिपक्षी कर्मों से रहित) है,...** कोई विरोधी सामने रहा नहीं। निमित्तरूप से विरोधी रहा नहीं, विकार भी विरोधी रहा नहीं। **'निःसपत्नस्वभावम्' जिसका स्वभाव निःसपत्न (–प्रतिपक्षी कर्मों से रहित) है,...**

'विमल–पूर्णं' जो निर्मल है और पूर्ण है;... आहाहा! निर्मल है और निर्मल है तथा वापस पूर्ण है। निर्मल तो नीचे श्रुतज्ञान की दशा में भी होता है, यह तो पूर्ण निर्मल है। **ऐसी 'एतत् उदितम् अमृतचन्द्र–ज्योतिः' 'एतत्' यह उदय को प्राप्त...** प्रगट हुई **अमृतचन्द्र ज्योति (–अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति,...)** अमृतमय चन्द्रमा समान ज्योति **(ज्ञान, आत्मा) 'समन्तात् ज्वलतु' सर्वतः जाज्वल्यमान रहो।** चारों ओर से ज्वाजल्यमान रहो। क्षेत्र से, काल से, भाव से, भव के अभाव से। ऐसा मांगलिक स्वरूप कहा।

मुमुक्षु : आत्मा आत्मा को भाता है। अपूर्व भाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है, ऐसा कहा है। ऐसा तू है, भाई! तुझे इससे न्यून, कम जँचे तो तुझे आत्मा की खबर नहीं है। प्रवचनसार में (कहा), दिव्यज्ञान न हो तो उसे आत्मा—ज्ञान कैसे कहें ? केवलज्ञान। केवलज्ञान न हो तो उसे आत्मा—ज्ञान कैसे कहें ? आहाहा! देखो न! पूर्ण ज्ञान न हो तो उसे दिव्यज्ञान कैसे कहा जाये ? अरे! परमात्मा विराजते हैं,

उनका पूर्ण ज्ञान ऐसा प्रगट हुआ है। साध्य होकर ऐसे सिद्ध हो गये। वह सिद्ध ही है, मोक्ष ही है, भाव मोक्ष ही है।.... ऐसी अमृतमय चन्द्रमा समान ज्योति सर्व ओर से जाज्वल्यमान रहो। मांगलिक किया, भाव मांगलिक। अपने यह सोलहवीं बार पूरा होता है। सोलह कला से पूरा होता है।

भावार्थ – जिसका न तो मरण होता है... अमृत है न? अ-मृत। भगवान आत्मा का द्रव्य से, गुण से और पर्याय से कहीं मरण नहीं, व्यय नहीं। **न जिससे दूसरे का नाश होता है,...** अपना मरण नहीं और जिससे अन्य का मरण नहीं, उसे अमृत (कहते हैं), वह अमृत है। आहाहा! **और जो अत्यन्त स्वादिष्ट (मीठा) होता है, उसे लोग रूढ़ि से अमृत कहते हैं।** बहुत स्वादिष्ट होता है न? पपीता अच्छा हो तो अमृत जैसा कहते हैं, नहीं कहते? पहले में तो अमृत ही कहे। अमृत कहो उसे।.... महाजन में। पपीता को अमृत कहते हैं। कोई हाफुस आम उत्कृष्ट हो, उसे अमृत कहते हैं। ऊँचा हो, जमादार और अमुक.. और अमुक... अमृत है। वह पर्याय भी मर जाती है। यह अमृत तो चैतन्यस्वरूप, जिसका अपना भी घटना नहीं, घात होना नहीं, व्यय नहीं, अन्य को मरण करता नहीं, उसे अमृत कहा जाता है।

यहाँ ज्ञान को–आत्मा को–अमृतचन्द्रज्योति (–अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत् का लोप होकर अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है। उपमा नहीं।... समान ... आहाहा! **(यदि 'वत्' न रखकर 'अमृतचन्द्र ज्योति' अर्थ किया जाए तो भेदरूपक अलंकार होता है। और 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' ही आत्मा का नाम कहा जाए तो अभेदरूपक अलंकार होता है।)** अभेद का अलंकार। भगवान ऐसा ही है। उपमावाचक है, वह तो भेदवाचक है। ऐसा अमृतचन्द्राचार्य ज्योति भगवान आत्मा जाज्वल्यमान ज्योति प्रगट हुई, अब उसे कोई कम करे, ऐसी ताकत नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५७८, श्लोक-२७६, २७७, २७८ शनिवार, पोष कृष्ण ५
दिनांक - १६-०१-१९७१

कहा न ? आत्मा चन्द्रमा समान है। शान्त है, शीतल है, निर्मल है, विमल है। परन्तु कहते हैं, **यहाँ कहे गये विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी है;...** आत्मा तो आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य है। उसे चन्द्रमा के विशेषण के साथ... परन्तु दोनों में भेद भी है। **'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानान्धकार का दूर होना बतलाता है,...** चैतन्यमूर्ति आत्मा अपने निज स्वरूप के भान में मोह का नाश करनेवाला है। **'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता...** है। उसे-चन्द्र को तो लांछन है। इसको लांछन नहीं है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप चन्द्र शीतल स्वरूप, ऐसा भान होकर प्रगट दशा हुई, उसे लांछन नहीं होता। **तथा पूर्णता बतलाता है;...** चन्द्रमा एकरूप नहीं रहता, चन्द्रमा तो दूज, तीज, चौथ आदि होता है। यह तो एकरूप जहाँ प्रगट हुआ, शुद्ध चैतन्यघन आनन्दधाम एकरूप रहता है।

'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है,... चन्द्र तो राहु से भी ढँकता है, बादल से भी ढँकता है। आत्मा के अपने स्वरूप का साधन करके पूर्ण हो, उसे कोई ढाँक नहीं सकता, उसे बादल भी आड़े नहीं आते। **'समंतात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्व काल में प्रकाश करना बतलाता है;...** चन्द्रमा तो अमुक क्षेत्र में ही प्रकाश करता है। आत्मा अन्तर उसका स्वभाव शान्ति और सर्वज्ञस्वभाव है, ऐसा ही अन्तर ध्यान करके साधकरूप होकर साध्य, पूर्ण ज्ञान और शान्ति प्रगट करके, वह सर्व क्षेत्र और सर्व काल को प्रकाशित करता है। चन्द्र सर्व क्षेत्र और सर्व काल को प्रकाशित नहीं करता। ऐसे विशेषणों से दोनों में अन्तर भी है।

इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव ने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है। समास बदलकर अर्थ करने से 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्रज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं जो कि यथासम्भव जानना चाहिए।

अब, श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव दो श्लोक कहकर इस समयसार ग्रन्थ

की आत्मख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं। क्या कहते हैं ? बहुत संक्षिप्त में पूरा श्लोक लिया।

अज्ञानदशा में आत्मा स्वरूप को भूलकर रागद्वेष में प्रवृत्त होता था,... अनादि का आत्मा अपने ज्ञान और आनन्द को भूलकर पुण्य और पाप के विकल्प अर्थात् राग और द्वेष में वर्तता था। वह दु:खदशा, वह अज्ञानदशा (थी)। राग-द्वेष में वर्तता था, शरीर, वाणी, और मन में वर्तता था - ऐसा नहीं। शरीर में वर्तता था- ऐसा नहीं। स्वयं भूलकर अपने विपरीत मिथ्यात्व और राग-द्वेष में वर्तता था, बस इतना। अनादि से अज्ञान में अपने आनन्द और ज्ञातास्वभाव को भूलकर मोह और राग-द्वेष में वर्तता था।... वर्तता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शरीर में वर्तता नहीं। शरीर तो जड़ है, उसकी अवस्था में कहाँ (वर्ते) ?

परद्रव्य की क्रिया का कर्ता बनता था,... यह रागादि क्रिया मेरी है, ऐसा मानता था। क्रिया के फल का भोक्ता होता था। उस विकारी भाव का फल दु:ख, उसका भोक्ता यह अनादि का था। **इत्यादि भाव करता था;...** स्वयं करता था, देखो! इसमें दूसरे के सम्बन्ध की कुछ बात नहीं की। **किन्तु अब ज्ञानदशा में वे भाव कुछ भी नहीं हैं...** सूत की आंट में गाँठ पड़ी, वह गाँठ खोली तो फिर कुछ नहीं, है, ऐसा है। उसी प्रकार आत्मा अपनी जाति को भूलकर विजात जो पुण्य और पाप, राग और द्वेष में वर्तता था और उस क्रिया का कर्ता होता था और क्रिया के फलरूप हर्ष-शोक के दु:ख के भाव को भोगता था, वह संसारदशा है। उस संसारदशा में अनादि का ऐसा करता था। अब ज्ञानदशा (हुई), अरे! मैं तो आत्मा चैतन्यस्वरूप आनन्द हूँ। मेरे अस्तित्व में राग-द्वेष और शरीर आदि है नहीं। ऐसा अपना अकषाय शान्तस्वभाव त्रिकाल, उसमें भान होने पर यह अब कुछ नहीं, कहते हैं। राग-द्वेष में वर्तना नहीं, राग की क्रिया नहीं और राग के भोगने का फल भी नहीं। **ऐसा अनुभव किया जाता है।-इसी अर्थ का प्रथम श्लोक कहते हैं-** २७७। पूरे समयसार का एक कलश में सार (कहते हैं)। ऐसी कोई शैली है।

कलश - २७७

अब, श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव दो श्लोक कहकर इस समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद्द्वैत-मभूत्पुरा स्व-परयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं,
राग-द्वेष-परिग्रहे सति यतो जातं क्रिया-कारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिर-खिलं खिन्ना क्रियायाः फलं,
तद्विज्ञानघनौघ-मग्न-मधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ।।२७७।।

अज्ञानदशा में आत्मा स्वरूप को भूलकर रागद्वेष में प्रवृत्त होता था, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता बनता था, क्रिया के फल का भोक्ता होना था,-इत्यादि भाव करता था; किन्तु अब ज्ञानदशा में वे भाव कुछ भी नहीं हैं, ऐसा अनुभव किया जाता है।-इसी अर्थ का प्रथम श्लोक कहते हैं-

श्लोकार्थ : [यस्मात्] जिससे (अर्थात् जिस पर संयोगरूप बन्धपर्याय जनित अज्ञान से) [पुरा] प्रथम [स्व-परयोः द्वैतम् अभूत्] अपना और पर का द्वैत हुआ (अर्थात् स्व-पर के मिश्रितपनारूप भाव हुआ), [यतः अत्र अन्तरं भूतं] द्वैतभाव होने से जिससे स्वरूप में अन्तर पड़ गया (अर्थात् बन्धपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), [यतः राग-द्वेष-परिग्रहे सति] स्वरूप में अन्तर पड़ने पर जिससे राग-द्वेष का ग्रहण हुआ, [क्रिया-कारकैः जातं] राग-द्वेष का ग्रहण होने पर जिससे क्रिया के कारक उत्पन्न हुए (अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्मादि कारकों का भेद पड़ गया), [यतः च अनुभूतिः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना खिन्ना] कारक उत्पन्न होने पर जिससे अनुभूति क्रिया के समस्त फल को भोगती हुई खिन्न हो गई [तत् विज्ञान-घन-ओघ-मग्नम्] वह अज्ञान अब विज्ञानघन समूह में मग्न हुआ (अर्थात् ज्ञानरूप में परिणमित हुआ) [अधूना किल किञ्चित् न किञ्चित्] इसलिए अब वह सब वास्तव में कुछ भी नहीं है।

भावार्थ : परसंयोग से ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था; इसलिए अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ कि वहाँ वह (अज्ञान)

कुछ भी नहीं रहा। अज्ञान के निमित्त से राग, द्वेष, क्रिया के कर्तृत्व, क्रिया के फल का (–सुखदु:ख का) भोक्तृत्व आदि भाव हुए थे, वे भी विलीन हो गये हैं; एकमात्र ज्ञान ही रह गया है। इसलिए अब आत्मा सव–पर के त्रिकालवर्ती भावों को ज्ञाता–दृष्टा होकर जानते–देखते ही रहो।२७७।

कलश - २७७ पर प्रवचन

यस्माद्द्वैत–मभूत्पुरा स्व–परयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं,
राग–द्वेष–परिग्रहे सति यतो जातं क्रिया–कारकैः।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिर–खिलं खिन्ना क्रियायाः फलं,
तद्विज्ञानघनौघ–मग्न–मधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल।।२७७।।

'यस्मात्' जिससे (अर्थात् जिस पर संयोगरूप बन्धपर्याय जनित अज्ञान से)... अनादि का अपने स्वरूप की खबर नहीं, इसलिए मैं राग–द्वेष और पुण्य–पाप को करूँ और वह क्रिया मेरी और उस क्रिया का फल भोगना। यह संसारदशा, अधर्मदशा अनादि की (चलती है)। यह प्रथम तो **अपना और पर का द्वैत हुआ...** अर्थात् मिलावट हुई, ऐसा कहते हैं। वस्तु तो सच्चिदानन्द ज्ञान सिद्धस्वरूप है, उसे अनादि से भूलकर अज्ञानी पुण्य और पाप के भाव में वर्त कर कर्ता होता था, भोक्ता होकर वर्त रहा था। अर्थात् अपना स्वभाव मानो राग–द्वेषमय है, ऐसी मिलावट कर डाली। भेलसेल समझते हो? मिला डाला। समझ में आया?

आत्मा वस्तु है, वह तो ज्ञान और आनन्द के स्वभाव से भरपूर पदार्थ है। उसमें देहादि, वाणी आदि यह तो उसमें है नहीं, यह तो परवस्तु जड़ है। जड़ के होने में आत्मा नहीं और आत्मा के होने में जड़ नहीं। तो क्या है? अपने आनन्द और ज्ञान स्वभाव की जाति से भूलकर अज्ञान ऐसे राग–द्वेषभाव में वर्ता, यह द्वैतपना हो गया। एक था, यह उसने दो माना। दो बिगड़ा। आहाहा! समझ में आया? पर्यायबुद्धि की व्याख्या करते हैं। वस्तु की बुद्धि नहीं थी। एक समय की दशा के ऊपर जिसका हृदय था, जिसकी दृष्टि एक समय की दशा में और राग–द्वेष में दृष्टि थी। वह राग–द्वेष में वर्तता हुआ एक के दो किये।

स्वभाव में नहीं है, उसके साथ जुड़ गया। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त और संसार और संसार का अभाव दोनों बताते हैं। आहाहा! जहाँ हो वहाँ अभिमान। शरीर के, वाणी के, मन के, पर के मैंने किये, मैंने किये, ऐसे भाव का कर्ता होता है परन्तु पर का कर्ता तो हो नहीं सकता।

मुमुक्षु : पर का कर्ता मैं हूँ, ऐसा मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मानता है। मानता है, उसका तो कर्ता हुआ, परन्तु पर का कर्ता होता है? यह तो मान्यता का कर्ता होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .... दिगम्बर कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और सब एक ओर रहे। आहाहा! अरे रे! ऐसे जन्म-मरण टालने के भाव का भव है। भाई! ऐसा भव तुझे कब मिले? इसे एक भगवान आत्मा, शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द इसका स्वरूप है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वामी और मालिक यह है। परन्तु अनादि से भूलकर यह पुण्य और पाप का स्वामी और मालिक होकर, उनका कर्ता होकर और उसके सुख-दुःख के विकारी भाव को भोगा है। सुख-दुःख के विकारी को, हों! पैसे-वैसे को भोगा, यह कुछ है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ... ऐसा ही कहलाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब क्या कहलाये? मशीन का नहीं कहलाये। वहाँ त्रम्बकभाई! यह सेठ बैठे हैं सामने। यहाँ इनकार करते हो, वहाँ तो हम करते हैं ऐसा मानते है, ऐसा कहते हैं। मानता है न? कर सकता है? आहाहा!अपनी और पर की मिलावट की। मिलावट अर्थात्? एक चिदानन्द प्रभु, पुण्य-पाप के राग और शरीर तथा कर्म से रहित ही आत्मा का स्वरूप है। ऐसे स्वरूप की दृष्टि, द्रव्यदृष्टि, वस्तु की दृष्टि नहीं होने से उसकी वर्तमान पर्यायबुद्धि में राग और द्वेष में वर्तता हुआ एक का दो हुआ। बिगड़ा। एकड़े एक और बिगड़े दो। आहाहा! यह बहुत संक्षिप्त में बात रखी है।

एक स्वरूप चैतन्यघन है, अविनाशी स्वभाव का स्वामी है। अविनाशी स्वभाव, वह इसका स्वरूप और रूप है। ज्ञानानन्दस्वभाव अविनाशी है, उसे भूलकर नाशवान पुण्य और पाप के भाव में, मैंने इसका किया और मैंने इसका दिया और मैंने इसका खाया और

मैंने इसका पीया... ऐसे विकारी भाव किये, द्वैत हो गया, अकेला नहीं रहा। लप उपाधि विकार को अपने में लगाया। कहो, वे विकार के भाव एक करके द्वैत हुआ। कर्म के कारण, शरीर के कारण, अमुक के कारण दो जनें हैं, ऐसा नहीं। क्या कहा ? उसके कारण दोपना हुआ, ऐसा नहीं। उसे तो विकार के परिणाम जो इसमें नहीं है, ऐसे परिणामसहित हुआ, इसलिए द्वैत हो गया। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा मिलावटी भाव हुआ।

'यतः अत्र अन्तरं भूतं' द्वैतभाव होने से जिससे स्वरूप में अन्तर पड़ गया... दोपना होने से स्वरूप आनन्द और ज्ञान है, वह रहा नहीं, उसमें अन्तराल पड़ गया, विघ्न हो गया। आहाहा! बहुत बात... धर्म सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप वस्तु को न जानने से, न देखने से, न मानने से, न अनुभव करने से एक समय की दशा के ऊपर दृष्टि होने से विकार के पुण्य-पाप के भाव, विकार में मिलावट—यह मैं हूँ, ऐसा माना। यह मैं हूँ माना, इसलिए आत्मा का अन्तर पड़ गया। राग और पुण्य मैं हूँ, ऐसा मानकर स्वरूप में विघ्न हो गया। आहाहा! बराबर है ? आहाहा! **'यतः अत्र अन्तरं भूतं'** अन्तर पड़ गया। स्वरूप में दीवार आड़े डाल दी। राग और पुण्य मैं, ऐसा मानकर उसमें स्वरूप में विघ्न किया। स्वरूप में जाने के, प्रवेश करने की इसने आड़ मारी। समझ में आया ? बहुत सादी भाषा में बहुत गहरा तत्त्व है। अन्तिम कलश अमृतचन्द्राचार्य का... आहाहा! पूरे समयसार का निचोड़। पहले रखा था 'नमः समयसाराय'। यह २७७ में पूरा करते हैं। २७८ में तो शब्द की शक्ति से समयसार हुआ, ऐसा कहते हैं।

(अर्थात् बन्धपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई),... अर्थात् क्या ? अबन्धस्वरूप भगवान चैतन्य द्रव्य है, उसे न जानकर, पुण्य और पाप को जानने से बन्धपर्यायरूप—राग का बन्ध है, उस पर्यायरूप आत्मा ज्ञात हुआ। बन्ध के राग के पर्यायरहित है, यह दृष्टि अनादि की नहीं है, इसलिए बन्धपर्यायरूप ज्ञात हुआ। रागरूप हूँ, पुण्यरूप हूँ, पापरूप हूँ। एकरूप में दूसरा विकारीभाव, उसमें द्वैत में प्रवर्तते हुए बन्धपर्याय में वर्ता। पण्डितजी! है सादी (भाषा)। आहाहा!

'यतः राग-द्वेष-परिग्रहे सति' स्वरूप में अन्तर पड़ने पर... भगवान आनन्द का धाम शान्तस्वरूप, ऐसी दृष्टि को नहीं करने से पुण्य-पाप के भाव में अटका, स्वरूप

में अन्तर पड़ा, स्वरूप का दृष्टि में विरह पड़ा। समझ में आया? **जिससे राग-द्वेष का ग्रहण हुआ,...** राग-द्वेष को पकड़ा। क्योंकि बन्धपर्याय को अपनी माना, राग को अपना माना, स्वरूप में अन्तर पड़ा अर्थात् राग-द्वेष को ग्रहण किया। यहाँ वस्तु को ग्रहण करना चाहिए, इसके बदले राग-द्वेष को ग्रहण किया। समझ में आया? अकेले राग-द्वेष को जानने में रुक गया। आहाहा! समझ में आया? **'परिग्रहे'** राग-द्वेष का परिग्रह हुआ, पकड़ा, ऐसा। शुद्ध चैतन्य वस्तु अनाकुल शान्त और आनन्दरस का कन्द आत्मा है, उसे भूलकर बन्धपर्याय अर्थात् रागपर्याय, विकारी पर्याय को अपनी माना। उसरूप ज्ञात हुआ। ऐसा ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए उसरूप ज्ञात हुआ।

'क्रिया-कारकैः जातं' अर्थात् **राग-द्वेष का ग्रहण होने पर जिससे क्रिया के कारक उत्पन्न हुए...** क्रिया अर्थात् राग-द्वेष पलटे, उसके कारक राग-द्वेष का कर्ता, राग-द्वेष का साधन, राग-द्वेष का करण, राग-द्वेष का सम्प्रदान, मुझसे राग-द्वेष हुआ, मेरे आधार से हुआ, ऐसे पुण्य-पाप के भाव की क्रिया, जो पलटता है विकार, उसके षट्कारक उसने खड़े किये। आहाहा! क्रिया अर्थात् राग-द्वेष का पलटा तो होता है। इसलिए उस क्रिया में जुड़ान से उसका कर्ता पुण्य, दया, दान का कर्ता, वह मेरा काय, मेरे साधन से हुआ, मुझसे हुआ, मेरे आधार से हुआ और मैंने रखा। राग को रखा और राग को किया। राग को रखा। पैसे को रखा, ऐसा नहीं, सेठ! पैसे मैंने रखे और पैसे को किया, ऐसा नहीं। अन्दर जो राग-द्वेष की क्रिया पलटी, उसकी क्रिया का कर्ता होने से राग को रखा, इसने विकार को सम्हाल कर रखा। आहाहा! सन्तों ने सहज बात कर डाली है, हों! बहुत सरल। ओहोहो! सादी, सादी और सरल।

कहते हैं, इसने राग-द्वेष **'जातं', 'क्रिया-कारकैः जातं'** राग-द्वेष, पुण्य-पाप के परिणाम, इसे अपनेरूप से ज्ञात हुए तो, उनका यह कर्ता, कर्म और क्रिया उनका कर्ता हुआ। जिसरूप से ज्ञात हुआ, उस क्रिया का स्वयं कर्ता हुआ। समझ में आया? **(अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्मादि कारकों का भेद पड़ गया), 'कारकैः जातं'** यह भेद पड़ा, इसलिए आत्मा से हटकर राग का कर्ता हुआ।

'यतः च अनुभूतिः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना खिन्ना' अरे! पुण्य और

पाप के भाव विकारी राग, उनके **कारक उत्पन्न होने पर जिससे अनुभूति क्रिया के समस्त फल को...** यह अनुभव, इस राग की क्रिया के फल को-दु:ख को **भोगती हुई खिन्न हो गई...** खेद, खेद, खेद दशा में। आहाहा! समझ में आया? **'अनुभूतिः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना खिन्ना'** पूरा फल उसका ही भोगा, ऐसा कहते हैं। पुण्य और पाप, राग और द्वेष, विभाविक विकार के फल को, अनुभूति से उसका अनुभव किया। खेद खिन्न होकर। अनुभूति पर्याय में खेदखिन्न-दु:खी है। समझ में आया? खिन्न होकर।

'तत् विज्ञान-घन-ओघ-मग्नम्' दृष्टि बदले अरे। मैं तो पुण्य-पाप विकल्प नहीं। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ। ऐसे जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ, इसलिए वह भूल गयी और भूल समा गयी अन्दर में । समझ में आया? **'विज्ञान-घन-ओघ-मग्नम्'** विज्ञानघन में ओघ में अज्ञान मग्न हो गया। अर्थात् परिणम गया। गाँठ निकल गयी। अज्ञान था, वह सम्यग्ज्ञानरूप परिणम गया। इस प्रकार अज्ञान का नाश होने से अकेला ज्ञान, चैतन्य प्रभु (रह गया)। सम्यग्दर्शन में धर्म की पहली शुरुआत में वस्तु द्रव्य चैतन्य पदार्थ आनन्द और ज्ञान का घन है, ऐसा भान होने से अज्ञान रहा नहीं। कहो, समझ में आया? **ज्ञानरूप में परिणमित हुआ।**

'अधूना किल किञ्चित् न किञ्चित्' इसलिए अब वह सब वास्तव में कुछ भी नहीं है। वह तो स्वप्न था। आहाहा! पुण्य और पाप, राग और द्वेष, इन विकल्पों में वर्तता था, उनकी क्रिया के दु:ख को भोगता (था)। वस्तु के स्वरूप की दृष्टि होने पर, अरे! यह मैं नहीं। मेरे अस्तित्व में तो आनन्द और ज्ञान है। ऐसा भान होने पर अब कुछ नहीं। इस राग में वर्तना भी नहीं, राग के कर्ता, क्रिया के कारक भी नहीं, इस राग का भोगना दु:ख भी नहीं। समझ में आया? सामने पुस्तक है, किस शब्द का क्या अर्थ होता है। आहाहा! यह तो धर्म की बातें, बापू! बहुत महँगी है। अलौकिक बात है, भाई!

'अधूना किल किञ्चित् न किञ्चित्' इसलिए अब वह सब वास्तव में कुछ भी नहीं है। मैं तो आत्मा ज्ञान और आनन्द हूँ। ऐसे भान में रहकर राग में प्रवर्तना भी नहीं, ऐसा कहते हैं। राग के कर्ता के क्रिया के कारक भी नहीं और राग के फलरूप अनुभूति दु:खी थी, वह भी नहीं। कहो, पण्डितजी! ऐसा श्लोक है। आहाहा! **'अधूना किल'**

समस्त **'किञ्चित्'** कुछ नहीं **'किञ्चित् न किञ्चित्'** ऐसा। कुछ भी नहीं। **वास्तव में कुछ भी नहीं है।** आहा! गजब बात, भाई! समझ में आया? बहुत संक्षिप्त कहा, समयसार का। आहाहा! प्रभु! आत्मा के अस्तित्वरूप से तो वह आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है। ऐसे अस्तित्व के स्वभाव की दृष्टि नहीं होने से, उसका अस्तित्व इसने पुण्य-पाप के राग-द्वेष के पुण्यभाव में माना। माना, वह ज्ञात हुआ। यह माने तो यह ज्ञात हो, वह माने तो वह ज्ञात हो। ज्ञात हुआ ऐसे कर्ता, क्रिया, षट्कारक राग के लागू पड़े। राग के लागू पड़ने पर दु:ख को भोगा, अनुभूति पर्याय दु:ख को अनुभव करती है। यह संसार है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

आठ-आठ वर्ष के राजकुमार ऐसे सम्यग्दर्शन पाते हैं, बदल जाते हैं अन्दर में से। बाहर से दिखे कि यह शरीर और यह स्त्री और पुत्र है।... सम्यक्त्व होने पर व्यवहार से मुक्त आत्मा है। पर से तो मुक्त है ही, परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प जो उठते हैं, उनसे भी विरक्त, समकिती विरक्त अर्थात् उनसे विरक्त है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए इसे राग-द्वेष में वर्तना, राग-द्वेष का करना और राग-द्वेष का अनुभवना, आत्मदृष्टि होने पर नहीं रहता-ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी धर्म की बात आई, भाई! अधर्म भी बताया और धर्म भी बताया, दोनों बात कीं।

भावार्थ – परसंयोग से ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था,... संयोग के लक्ष्य से चैतन्य को भूलकर ज्ञान ही राग-द्वेष और विकाररूप होता था। **अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था;...** डोरी में जैसे गाँठ पड़ी हो, वह गाँठ कोई अलग चीज़ नहीं है। गाँठ बल खायी हुई पड़ी है, उसी प्रकार आत्मा अपने आनन्दस्वभाव को भूलकर राग के बल में गया है, वह अज्ञानरूप हुआ। आहाहा! झुकाव इसका राग में गया। अज्ञान कोई अलग चीज़ नहीं है। **इसलिए अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ...** वस्तु हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। आत्मा है, वह तो आनन्द और ज्ञान का कन्द है। ऐसी जहाँ धर्मबुद्धि, सम्यक्बुद्धि, सम्यग्दृष्टि बुद्धि, स्वरूप में एकाकार की दशा जहाँ प्रगट हुई, वहाँ अज्ञान कुछ नहीं रहा।

अज्ञान के निमित्त से राग, द्वेष, क्रिया के कर्तृत्व,... देखो! अज्ञान के कारण से। यह पुण्य और पाप के राग-द्वेष के भाव; उनकी परिणति का कर्तापना। इस **क्रिया के**

फल का (–सुखदुःख का) भोक्तृत्व आदि भाव हुए थे, वे भी विलीन हो गये हैं;... आहाहा! ऐसे श्लोक तो सन्तों की वाणी (ही कह सकती है)। चोट मारी है ऐसे। यह वाणी, ऐसी वाणी कहीं नहीं है। आहाहा! दिगम्बर सन्त केवलज्ञान के पथानुगामी हैं। भाई! प्रभु! तू भूला तो तेरे कारण से, हों! ऐसा कहा न? या कर्म के कारण से भूला है, ऐसा कहा? तो वे कहे, अरे! त्रिलोकनाथ कहते हैं कि कर्म के कारण भटका है। तुम कहते हो कि नहीं, नहीं। (संवत्) २००६ के वर्ष में पालीताना में रामविजय के साथ बड़ी चर्चा (हुई थी)।

मुमुक्षु : अनन्त तीर्थंकरों ने....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त तीर्थंकरों ने (कहा है)। तब तुम कहाँ थे? ... यह बात सत्य। उपकारी है, ऐसा कहा। परम उपकारी तीर्थंकरदेव ने ऐसा कहा है कि कर्म के कारण भटकता है। तुम कहते हो कि अपनी भूल के कारण भटकता है। सेठ! यह सब विवाद अज्ञानी के। वह रामविजय कहता है। कर्म का दोष... कर्म को .... देता है। जड़ को दो, भाई! उसे उपदेश कहाँ (देना है)? सुननेवाला भूला हो, उसे उपदेश हो या जड़ भूला है? जड़ में भी क्या भूल पड़े? पढ़े वह भूले, ऐसा नहीं कहते हैं? जाने वह भूले, न जाने वह भूले? जाननेवाला ऐसे न जाने और ऐसे जाने वह भूला है। आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। तूने अज्ञान किया, इसलिए तूने राग में प्रवृत्ति की है। आहाहा! स्वरूप का भान होवे कि मैं आत्मा हूँ। इसलिए अज्ञान के कारण राग में प्रवृत्ति की है। और उसके कर्ता, क्रिया के कारक तुझे सब उल्टे लागू पड़े हैं और उसके फलरूप से दुःख और सुख, सुख अर्थात् यह कल्पना का, हों! इस सुख-दुःख की कल्पना का तू भोक्ता हुआ। दुःख का। वह मानता है कि अभी मुझे पैसे हुए, अभी समरूपता हुई, धूल भी नहीं वहाँ।

मुमुक्षु : विपरीत मान्यता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मान्यता है।

एकमात्र ज्ञान ही रह गया है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप (रह गया)। कितना स्पष्टीकरण किया! **'विज्ञान–घन–ओघ–मग्नम्'** इसका बहुत संक्षिप्त कर डाला। ऐसा जो था और जहाँ विज्ञानघन आत्मा है, ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ अज्ञान समा गया। अज्ञान का बुदबुदा जैसे पानी में बुदबुदा बोले, वह फूटा, समा गया। आहाहा! इसी प्रकार भगवान

आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने (कहा कि) ज्ञानमूर्ति आनन्द का धाम है, विज्ञान का घन है, ऐसा अन्दर में भान होने पर अज्ञान विलय हो गया। कर्म का नाश होने से अज्ञान विलय हो गया, ऐसा यहाँ नहीं कहा।

मुमुक्षु : शास्त्र में से कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो शास्त्र में व्यवहार की बातें कही हो। अरे! भगवान! बापू! जब तू थके, तब यह सब तुझे स्वीकार करना पड़ेगा। समझ में आया? वाद-विवाद से रास्ता नहीं निकलेगा। पण्डितजी! वाद-विवाद करो, ऐसा करो। आहाहा! यह तो जैसे गुफा में सिंह शोर मचाकर दहाड़ पाड़ते हुए निकलता है, हिरण-फिरण भगे। ऐसा कहते हैं, मैं विज्ञानघन चैतन्य हूँ। मेरा स्वभाव राग और पुण्य नहीं है। मेरा स्वरूप और स्व-रूप और स्व-भाव वह ज्ञान और आनन्द का धाम, वह मेरा स्वरूप है। ऐसे विज्ञानघन की दृष्टि होने से सब विकल्प विलय पा गया।

इसलिए अब आत्मा सव-पर के त्रिकालवर्ती भावों को ज्ञाता-दृष्टा होकर जानते-देखते ही रहो। लो, ठीक। अब आत्मा ज्ञान ही रह गया। अकेला ज्ञानस्वरूप था, भान होने पर ज्ञान रहा। था, वह रहा। था, उसे प्राप्त किया। नहीं था, वह छूट गया। आहाहा! समझ में आया? श्वेताम्बर के हजारों शास्त्र पढ़-पढ़कर ठड निकले परन्तु इस एक कलश में कहा, वैसा कहीं नहीं है, लो! आहाहा! उसे ऐसा कि ज्ञानावरणीय से यह होता है, दर्शनवरणीय से यह होता है। अब सुन न, भगवान! यह तो तेरे विकार के समय निमित्त कौन था, ऐसा सिद्ध किया। परन्तु विकार करनेवाला तो तू है, स्वरूप को भूलनेवाला तू, भूल तूने की है और भूल को तुझे तोड़ना है। भगवानस्वरूप आत्मा होकर भूल तोड़नेवाला भी तू है। भूल तोड़नेवाला कोई है नहीं। आहाहा!

ज्ञाता-दृष्टा होकर जानते-देखते ही रहो। आहाहा! जगत का अकेला जाननेवाला रह गया। जगतरूप माना था। जगत अर्थात् रागादि जगत है न सब? वह माना था, वह छूटा, अकेला ज्ञान रह गया। आहाहा! कहो, समझ में आया? छह कारक कहे, देखो! क्रिया कारक में ली है। विकारी परिणति को वह जाननेवाला रह गया, जाननेवाला हो गया। जाननेवाला हो गया अर्थात् उसे जाननेवाला रहा। अर्थात् विकारी परिणाम के कर्ता, कर्म,

करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण तूने खड़े किये। आत्मा गुलाँट खाता है। द्रव्यदृष्टि होती है। जिसके ज्ञान और आनन्द के स्थल का तल नहीं। ऐसा विज्ञानघन जिसका स्वभाव है, जिसे ज्ञानघन में परिमितता नहीं। अपरिमित अनन्त... अनन्त.. अनन्त... ज्ञानघन है। ऐसी वस्तु की दृष्टि होने से अज्ञान विलय हो गया। कारक रहे नहीं। उपाधि के विकार का अनुभव भी रहा नहीं। एक निरुपाधि आत्मा के ज्ञान का अनुभव रह गया। आहाहा! इसका नाम धर्म। आहाहा! पूरे दिन शान्तियज्ञ और यह करो और यह करो, सिद्धचक्र का अमुक और पूजा और... यह शान्तियज्ञ है, बापू! देख तो सही। वह कलश रखा है, हों! आत्मानन्दी... द्रव्यसंग्रह (गाथा ३५ में) अशुचिभावना है। बारह भावना में से अशुचि भावना। उसमें कलश रखा है। वह कल नहीं कहा था? दोपहर में फिर हाथ में (आया था)। बारह भावना है न? बारह भावना का अर्थ है कहीं। कितने में है? ९८ पृष्ठ में है, लो। उसमें बताया था। अशुचिभावना है।

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।।

(संयमरूपी जल से भरी हुई, सत्यरूपी प्रवाहवाली, शीलरूपी किनारेवाली और दयारूपी तरंगों से भरी हुई जो आत्मनदी है, उसमें हे पाण्डुपुत्र!) हे युधिष्ठिर! नारायण कहते हैं। श्री कृष्ण नारायण युधिष्ठिर को कहते हैं। समझ में आया? **'नारायणेन युधिष्ठिरं प्रति विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं, न च लौकिकगंगादितीर्थे-स्नानादिकम्।'** संस्कृत है। नारायण श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को कहा, हे युधिष्ठिर! ऐसी संयमरूपी जल से भरपूर, सत्य को धारण करनेवाली और शीलरूपी तट—दो किनारे, दयारूपी तरंगों को धारण करनेवाली, आत्मारूपी नदी में हे पाण्डुपुत्र! स्नान कर। **अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता।** अशुचिभावना है न? अशुचिभावना। अन्दर ऊपर इसका संस्कृत है। **'तोय' 'तोय'** अर्थात् पानी।

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।।

पानी से आत्मा शुद्ध नहीं होता। उस समय हाथ में नहीं आया था। इसे हाथ आना हो, तब आवे न! कहो, समझ में आया? २७७ कलश हुआ।

कलश - २७८

'पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानदशा में पर की क्रिया अपनी भासित न होने से, इस समयसार की व्याख्या करने की क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है'-इस अर्थ का, समयसार की व्याख्या करने की अभिमानरूप कषाय के त्याग का सूचक श्लोक अब कहते हैं-

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ।।२७८।।

श्लोकार्थ : [स्व-शक्ति-संसूचित-वस्तु-तत्त्वैः शब्दैः] जिनने अपनी शक्ति से वस्तु तत्त्व (-यथार्थस्वरूप) को भलीभाँति कहा है, ऐसे शब्दों ने [इयं समयस्य व्याख्या] इस समय की व्याख्या (आत्मवस्तु का व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्र की टीका) [कृता] की है; [स्वरूप-गुप्तस्य अमृतचन्द्रसूरैः] स्वरूप गुप्त (अमूर्तिक ज्ञान मात्र स्वरूप गुप्त) अमृतचन्द्रसूरि का (इसमें) [किञ्चित् एव कर्तव्यम् न अस्ति] कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है।

भावार्थ : शब्द तो पुद्गल हैं। वे पुरुष के निमित्त से वर्ण-पद-वाक्यरूप से परिणमित होते हैं; इसलिए उनमें वस्तुस्वरूप को कहने की शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्द का और अर्थ का वाच्यवाचक सम्बन्ध है। इस प्रकार द्रव्यश्रुत की रचना शब्दों ने की है, यही बात यथार्थ है। आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप है; इसलिए वह मूर्तिक पुद्गल की रचना कैसे कर सकता है? इसीलिए आचार्यदेव ने कहा है कि 'इस समय प्राभृत की टीका शब्दों ने की है, मैं तो स्वरूप में लीन हूँ, उसमें (टीका करने में) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है।' यह कथन आचार्यदेव की निरभिमानता को भी सूचित करता है। अब यदि निमित्तनैमित्तिक व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुष ने यह अमुक कार्य किया है। इस न्याय से यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही। इसलिए पढ़ने-सुननेवालों को उनका उपकार मानना भी युक्त

है; क्योंकि इसके पढ़ने-सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्या ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।२७८।

कलश - २७८ पर प्रवचन

पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानदशा में पर की क्रिया अपनी भासित न होने से,... अब जरा स्पष्टीकरण करते हैं। ज्ञान आत्मा का भान हुआ, अब शब्दादि की क्रिया कहीं आत्मा की नहीं है। शब्द कहीं आत्मा ने नहीं रचे हैं। शास्त्र की रचना आत्मा ने नहीं की है। सेठ! शब्द की रचना आत्मा ने नहीं की। तो और तुम्हारी बीड़ी और तम्बाकू की (रचना करे)? ऐई! यह तो सामने हों, उनका नाम दिया जाए न! कहो। इसे पाटा। क्या कहलाता है इसे? मोटर पार्टस। आहाहा! कहते हैं कि यह सब शब्द की रचना जो समयसार शास्त्र की हुई, वह मुझसे नहीं हुई। मैं तो निमित्त हूँ। निमित्त का अर्थ (यह कि) मुझसे नहीं हुई। आहाहा! अपने से हुई हो तो निमित्त कहाँ से कहलाये? यह **क्रिया अपनी भासित न होने से, इस समयसार की व्याख्या करने की क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है...** इन शब्दों में से समयसार बन गया है। आत्मा में से और आत्मा के ज्ञान में से समयसार की वाणी नहीं बनती। आहाहा! यह वाणी निकलती है, वह रचना शब्द की है, आत्मा की नहीं। आहाहा! ऐसी वस्तु की स्थिति। उसे इस दुनिया के काम कितने शीघ्रता से करना। मोटे बाँधकाम और यह काम और वह काम। नामा लिखना, जयन्तीभाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा काम नहीं। यहाँ तो हो नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। विपरीत काम नहीं, उल्टा काम तो उल्टा किया, ऐसा हो। समझ में आया? ऐसा नहीं। उल्टा काम ही नहीं। उल्टा काम तो इसके राग-द्वेष के उल्टे काम हैं। यह काम तो इसके हैं ही नहीं। आहाहा! **क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है'-इस अर्थ का, समयसार की व्याख्या करने की अभिमानरूप कषाय के त्याग का सूचक श्लोक अब कहते हैं-**

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ।।२७८।।

आहाहा! समयसार शब्द से रचा गया है, हमारे से नहीं। **'स्व-शक्ति-संसूचित-वस्तु-तत्त्वैः' जिनने अपनी शक्ति से वस्तु तत्त्व (-यथार्थस्वरूप) को भलीभाँति कहा है...** ऐसे शब्दों ने। लो, शब्दों ने भलीभाँति वस्तु का स्वरूप कहा है, मैंने नहीं। आहाहा! शब्दों में स्व-पर को कहने की शक्ति है, कहने की शक्ति है। आत्मा में स्व-पर जानने की शक्ति है। आहाहा! शब्द की रचना शब्द ने की है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! उसके बदले यह तो पूरे दिन मानो ऐसे... फूला। मैं करूँ, मैं करता हूँ, मैं करता हूँ। धूल का। मर गया उसमें कर-करके मान्यता में। मूर्खाई के तो कहीं गाँव अलग होंगे? आहाहा! अरे!

कहते हैं, **जिनने अपनी शक्ति से वस्तु तत्त्व...** देखो! जैसी वस्तु है, वैसा उसका स्वरूप शब्द ने अपनी शक्ति से कहा है। आहाहा! तुम्हें ऐसा लगे कि आचार्य ऐसी वस्तु की व्यवस्था ऐसी अलौकिक करते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! मैं शब्द को स्पर्शा भी नहीं, शब्द मुझे स्पर्श नहीं करते। शब्द में वस्तु के स्वरूप को कहने की ताकत से शब्द से वह रचना हुई है। आहाहा! पण्डितजी!

मुमुक्षु : बोध पाहुड में ऐसा आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सबमें ऐसा है। शब्दविकार, वह तो शब्द का विकार है। सूत्र, वह तो पुद्गल है। प्रवचनसार ३४-३५ (में) आया—उपाधिकारक। सूत्र, वह उपाधि है। सूत्र पुद्गल पर्याय है। उसे निकाल डालो तो वह तो ज्ञान ही आत्मा है, सूत्र उपाधि उसमें है ही नहीं। प्रवचनसार। आहाहा! ऐसे अनन्त तत्त्व भिन्न-भिन्न जहाँ है, वहाँ कहते हैं कि शब्द में अपनी शक्ति, वापस अपनी शक्ति, शब्द की शक्ति, शब्द की शक्ति से जिन्होंने अर्थात् शब्दों ने वस्तु का स्वरूप बहुत लिखा हुआ हो और बहुत स्पष्ट हुआ हो तो भी वह पर्याय जड़ से हुई है, मुझसे नहीं —ऐसा कहते हैं। आहाहा! उस प्रकार का ज्ञान

काम करे, तब शब्द निकले न ? शब्दों में तो जड़ का भाव है, आत्मा का भाव उनमें जरा भी नहीं है। सेठ! तुम्हारे उसमें बहुत विवाद है। जिनवाणी में वीतराग के भाव भरे हैं, इसलिए पूज्य है, मूर्ति पूज्य नहीं, ऐसे तुम्हारे वे कहते हैं। अमृत को क्या कहा जाता है ? अमृतलाल और चंचल और....

मुमुक्षु : शरीर में असाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ? अच्छा। यह खबर नहीं। शब्द पूज्य क्यों है ? कि उसमें भगवान के भाव भरे हैं। मूर्ति में कहाँ भगवान के भाव हैं ? अरे! वहाँ भी नहीं और यहाँ भी नहीं। सुन!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह कहाँ वाणी निकली ? केवलज्ञान में तीन काल—तीन लोक को जाना वह। कहते हैं कि वस्तु के स्वरूप को (कहने की) परमाणु में ऐसी ताकत है, स्वयं ताकत है। अपनी शक्ति से। भगवान निमित्त थे, इसलिए वचन का परिणमन हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! तू वहाँ कहाँ है कि शब्द में घुसकर शब्द को परिणमावे ? वह तो जड़ की भाषा है। आहाहा! ऐ... कान्तिभाई! प्लेन-ब्लेन को हिला डाला। पहले गये थे। आहाहा!

'स्व-शक्ति' परमाणु में, शब्द में स्व-शक्ति से **'संसूचित'** अर्थात् कि भलीभाँति कहा। क्या ? **'वस्तु-तत्त्वैः'** वस्तु का स्वरूप। तुम्हें ऐसा लगता हो कि ओहोहो! क्या व्याख्या! यह तो ज्ञान ऐसा हो, वही ऐसी व्याख्या कर सके। ऐसा यदि तुझे लगता हो तो कहते हैं, तुझे मोह-भ्रम है। आहाहा! गजब बात है न! शब्द में जड़ में स्व और पर को वस्तु के स्वरूप को कहने की ताकत है। मेरे कारण से नहीं, ज्ञान के कारण से नहीं। ज्ञान का बहुत क्षयोपशम है, इसलिए वाणी की ऐसी पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! और उस वाणी के जड़ के भाव हैं, आत्मा के भाव नहीं। आहाहा! कितनी स्पष्ट बात है! समझ में आया ?

'इयं समयस्य व्याख्या' इस समय की व्याख्या (आत्मवस्तु का व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्र की टीका)... अमृतचन्द्राचार्य की टीका है न ? वह शब्द

ने की है। आहाहा! जहाँ विकल्प भी जिसमें नहीं, विकल्प का कर्ता आत्मा नहीं, वहाँ फिर वाणी का कर्ता कहाँ से होगा? आहाहा! **'स्व-शक्ति-संसूचित'** सं अर्थात् भलीभाँति कहना, ऐसा। भलीभाँति अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही कहा। परन्तु वह तो शब्द की शक्ति से कहा गया है। आहाहा! यह विवाद लेते हैं, लो! अपन आत्मा न हों तो यह वाणी निकले? दीवार में से क्यों नहीं निकलती? इस अलमारी में से क्यों नहीं निकलती? यह सब पुस्तकें पड़ी हैं इसमें, देखो! चिमनभाई!

आचार्य कहते हैं, **'स्व-शक्ति-संसूचित'** शब्दों में उनमें शक्ति के कारण उसने बराबर वस्तु का स्वरूप कहा। आहाहा! कहो, वजुभाई! कितने पत्थर उठाये होंगे? इसने दस-दस लाख के बड़े मकान बनाये हैं। वीतरागी सन्त जैसा है, वैसा कहते हैं। कोई ऐसा कहता है कि वे तो स्वयं निरभिमानी हैं, इसलिए कहा है, बनाया तो उन्होंने है। आहाहा! बापू! ऐसा जड़ और चैतन्य का पृथक्पना। वह पृथक् आत्मा पृथक् शब्द की वाणी को कैसे रचे? कैसे करे? समझ में आया? यह समयसार की टीका शब्द में शक्ति थी और इससे सम्यक् प्रकार से सूचितपना, वस्तु के स्वरूप का उसने सूचन किया है, मैंने सूचन किया है—ऐसा नहीं है।

'स्वरूप-गुप्तस्य अमृतचन्द्रसूरैः' स्वरूप गुप्त... कहते हैं कि मैं तो शरीर की पर्याय से भिन्न मेरी दशा मुझमें है। शब्द को स्पर्शा भी नहीं, मैं तो मुझमें हूँ। मैं तो मेरे ज्ञानस्वभाव में हूँ। इस वाणी की पर्याय को स्पर्शा भी नहीं। यह वाणी की पर्याय इसके परमाणु में हुई, वह मुझे स्पर्शकर हुई है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! यह तो कौन उसमें निमित्त था, यह ज्ञान कराने के लिये भाषा ऐसी बोली जाती है कि यह कुन्दकुन्दाचार्य ने किया, अमृतचन्द्राचार्य ने किया। यह बनने के काल में निमित्त कौन था, उसका ज्ञान करने के लिये (कहा)। बाकी रचा है तो शब्द की शक्ति से उस काल में। आहाहा! समयसार... समयसार!

'स्वरूप-गुप्तस्य' अर्थात् मैं तो अमूर्तिक चीज़ हैं, वाणी तो मूर्त है। मैं चैतन्य हूँ, वह जड़ है। मैं जीव हूँ, वह अजीव है। मैं अरूपी हूँ, वह रूपी है। मैं अमूर्त हूँ, वह मूर्त है। **(अमूर्तिक ज्ञान मात्र स्वरूप गुप्त)...** हूँ। स्वयं कहते हैं, मैं तो वहाँ हूँ, मैं कहीं वाणी में आया नहीं। आहाहा! इतना अधिक स्पष्ट किया न समयसार! यदि ऐसी स्पष्ट टीका न

होती तो (नहीं समझते), मूल गाथा का भावार्थ खोलकर रखा। मैंने नहीं, हों! आहाहा! यह तो वाणी में शक्ति थी, उसने वस्तु के अपने भाव को, जड़ का उसका भाव है और पर के भाव को, पर के आनन्द और केवलज्ञान ऐसा, इत्यादि (उसने कहा)। आत्मा निर्विकल्प स्वरूप है, शुद्ध आनन्दकन्द है, ऐसे तत्त्व के स्वरूप को और जड़ वाणी स्वयं मैं जड़ हूँ, मुझमें जानने का कुछ नहीं है, ऐसा भी स्वरूप शब्द ने स्वयं अपनी शक्ति से सूचित किया है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो जहाँ हो वहाँ मैं करूँ, मैं करूँ।

अमृतचन्द्रसूरि का 'किञ्चित् एव कर्तव्यम् न अस्ति' थोड़ा-बहुत कुछ कहो, थोड़ा कहो। पच्चीस प्रतिशत इनके रखो और पिचहत्तर प्रतिशत भाषा के रखो। उनचास रखो। सेठ कहते, इक्यावन प्रतिशत पुरुषार्थ के रखो, उनचास प्रतिशत कर्म के उदय के रखो। कर्म का कुछ रखो सही। मैंने कहा, हराम है कुछ रखना हो तो। विकार होता है, उसमें इक्यावन प्रतिशत पुरुषार्थ के रखो, उनचास प्रतिशत कर्म के रखो। दामोदर सेठ थे। गृहस्थ। एक भी प्रतिशत कर्म का नहीं, सौ में सौ प्रतिशत विकार के अपने। कर्म के उदय के सौ के सौ प्रतिशत उसमें।

यहाँ कहते हैं, **'कर्तव्यम् न अस्ति'** कुछ मेरा नहीं। **'न अस्ति'** अर्थात् नहीं। इस वाणी की रचना में मेरा कुछ कर्तव्य नहीं, हों! इस समयसार की टीका में। आहाहा! देखो! वस्तु की स्थिति ऐसी है। समझ में आया? यहाँ तो एक-दो पुस्तक बनावे और लिखे वहाँ बस, हमने लिखा, हमने यह किया, देखो! चेतनजी! आहाहा! हमने लिखा है, तुम हमारी कीमत करो। तेरी कीमत हो गयी। जड़ का कर्ता हुआ, तेरी कीमत हो गयी। आहाहा! चिमनभाई! क्या है यह? देखो न! बात तो देखो! ऐसा समयसार। भाद्र कृष्ण एकम से चलता है। (संवत्) १९२४ के वर्ष से। यह अब पूरा होगा। कल दोपहर में पूरा होगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब न समझे, उसका कुछ नहीं। यहाँ तो ऐसा है। समझे, न समझे उसकी योग्यता। थोड़ा है। कल रविवार है, दोपहर में पूरा होगा। समयसार नाटक शुरु होगा। दोनों एक दिन में इकट्ठे होंगे। कल रविवार है न? यहाँ पूरा होने आया है। नवनीतभाई की उपस्थिति में। यह है न? .... आहाहा! यह हो गया। दो श्लोक हो गये। समाप्त। सहज है।

भावार्थ – शब्द तो पुद्गल हैं। या आत्मा है ? **वे पुरुष के निमित्त से वर्ण–पद–वाक्यरूप से परिणमित होते हैं;...** इसका अर्थ क्या हुआ ? उससे होता है। यह तो निमित्त है। निमित्त का अर्थ ही ऐसा है। निमित्त से होता नहीं, उसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात सरल है। वर्ण, पद। जैसे आत्मा शुद्ध है, यह पूरा पद हुआ। और वाक्यरूप पूरा। आत्मा आनन्दस्वरूप है, इस वाक्यरूप शब्द परिणमते हैं। **इसलिए उनमें वस्तुस्वरूप को कहने की शक्ति स्वयमेव है,...** स्वयमेव है। अपने में कहा था न अभी ? **क्योंकि शब्द का और अर्थ का वाच्यवाचक सम्बन्ध है।** शब्द वाचक है, वस्तु वाच्य है। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। परन्तु वाचक शब्द वाच्य के कारण निकला है या कहनेवाला होशियार है, इसलिए निकला है, दिव्यध्वनि केवली को निकलती है, इसलिए केवलज्ञान के अंश का कुछ भी असर उसमें है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ...वाणी स्वयं... वाणी को कहते हैं न ? वाणी वाचक है और वाच्य है और वाणी... दोनों है। मैं जड़ हूँ, ऐसा कहते हैं या नहीं ? आहाहा! कहते हैं, **इस प्रकार द्रव्यश्रुत की रचना शब्दों ने की है, यही बात यथार्थ है।** यह बात यथार्थ है। यह बात ही यथार्थ है। **आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप है; इसलिए वह मूर्तिक पुद्गल की रचना कैसे कर सकता है? इसीलिए आचार्यदेव ने कहा है कि 'इस समयप्राभृत की टीका शब्दों ने की है, मैं तो स्वरूप में लीन हूँ,...** अर्थात् मैं तो मुझमें हूँ। **उसमें (टीका करने में) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है।' यह कथन आचार्यदेव की निरभिमानता को भी सूचित करता है।**

अब यदि निमित्तनैमित्तिक व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुष ने यह अमुक कार्य किया है। यह तो निमित्त कौन था, यह बतलाने को (कहा है)। कार्य उससे हुआ है, ऐसा नहीं है। **इस न्याय से यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही।** निमित्तरूप से। **इसलिए पढ़ने–सुननेवालों को उनका...** यहाँ सब विवाद है। देखो! निमित्त से कहा, निमित्त से कहा। परन्तु निमित्त का अर्थ क्या हुआ ? कि उसका रचनेवाला मैं नहीं हूँ, तब मैं निमित्त कहलाऊँ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका समाप्त हुई।

* * *

(अब पण्डित जयचन्द्रजी भाषा टीका पूर्ण करते हुए कहते हैं-)

(सवैया)

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं;
देश की वचनिका में लिखि जयचन्द्र पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्प बुद्धिकूं पावनूं,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानन्द दरसावनूं।१।

- दोहा -

समयसार अविकार का, वर्णन कर्ण सुनन्त;
द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखन्त।।२।।

इस प्रकार इस समयप्राभृत (अथवा समयसार) नामक शास्त्र की आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसमें संस्कृत टीका का अर्थ लिखा है और अति संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है। संस्कृत टीका में न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं। यदि उनका विस्तार किया जाए तो अनुमान प्रमाण के पाँच अंगपूर्वक-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनपूर्वक-स्पष्टता से व्याख्या करने पर ग्रन्थ बहुत बढ़ जाए; इसलिए आयु, बुद्धि, बल और स्थिरता की अल्पता के कारण, जितना बन सका है उतना, संक्षेप से प्रयोजनमात्र लिखा है। इसे पढ़कर भव्यजन पदार्थ को समझना। किसी अर्थ में हीनाधिकता हो तो बुद्धिमानजन मूल ग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थ के गुरुसम्प्रदाय का (गुरु-परम्परागत उपदेश का) व्युच्छेद हो गया है, इसलिए जितना हो सके, उतना-यथाशक्ति अभ्यास हो सकता है। तथापि जो स्याद्वादमय जिनमत की आज्ञा मानते हैं; उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि कहीं अर्थ को अन्यथा समझना भी हो जाए तो विशेष बुद्धिमान का निमित्त मिलने पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमत के श्रद्धालु हठग्राही नहीं होते।

अब, अन्तिम मंगल के लिए पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करके ग्रन्थ को समाप्त करते हैं–

मंगल श्री अरहन्त घातिया कर्म निवारे,
मंगल सिद्ध महन्त कर्म आठों परजारे,
आचारज उवज्झाय मुनि मंगलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे;
अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं,
मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं मंगल हेतु करार हैं।।१।।

जैपुर नगर माँही तेरापंथ शैली बड़ी
बड़े बड़े गुनी जहां पढ़ैं ग्रन्थ सार है,
जयचन्द्र नाम मैं हूँ तिनिमें अभ्यास किछू
कियो बुद्धिसारू धर्मरागतें विचार है;
समयसार ग्रन्थ ताको देश के वचनरूप
भाषा करी पढ़ो सुनौ करो निरधार है,
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय
गहो शुद्ध आतमकूं, यहै बात सार है।।२।।

(दोहा)

संवत्सर विक्रम तण, अष्टादश शत और;
चौसठि कातिक बदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर।३।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत समयप्राभृत नामक प्राकृत-गाथाबद्ध परमागम की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका अनुसार पण्डित जयचन्द्रजीकृत संक्षेप भावार्थमात्र देशभाषामय वचनिका के आधार से श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रवचन नं. ५७९, श्लोक-२७८ रविवार, पोष कृष्ण ६
दिनांक - १७-०१-१९७१

अन्तिम कलश है। कहते हैं, कि यह समयसार मेरा किया हुआ नहीं है। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। यह तो शब्द से बना है। अब कहते हैं कि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार से कहें.... शब्द की रचना से शास्त्र बना है। क्योंकि शब्द की रचना परमाणु की पर्याय, रजकणों की अवस्था है। वे परमाणु जड़ हैं। उनकी अवस्था अक्षररूप से होती है। आत्मा उसे नहीं कर सकता। उस समय में उसी प्रकार से भाषा के परमाणु उस रीति से अक्षररूप परिणमनेवाले होते हैं, उस प्रकार से परिणमते हैं। आत्मा वह भाषा कर सके, ऐसा नहीं है। यह तो पहले कल कहा था। धूली निशाल (धूली पाठशाला) में आता था। **'सिद्धो वर्णम् समाम्नाय'** पाठशाला में सत्तर वर्ष पहले की बात है। धूली पाठशाला में यह शब्द पहला देखा हुआ। **'सिद्धो वर्णम् समाम्नाय'** अक्षर की आम्नाय अनादि की है। ऐसा इसका अर्थ है। ....पण्डितजी! .... हमारे धूली पाठशाला में आया था, धूली पाठशाला। अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में यह शब्द है। अक्षर के रजकण हैं, उनकी जो अवस्था है, वह तो अनादि की निश्चित हो गयी है। वह अक्षर से बनती है। आत्मा वाणी को बनावे, ऐसा है नहीं। ऐसे पहले बात हो गयी।

अब कहते हैं कि निमित्त-निमित्त से व्यवहार से कहें अर्थात् रचना काल में किसका निमित्त था? विकल्प और ज्ञान किसका उपस्थित था? उससे यदि बात करें तो ऐसा भी कहा जाता है कि यह कार्य अमुक पुरुष ने किया। कहा जाता है, हों! किया है नहीं। क्योंकि निमित्त था, ऐसा गिनकर, परमाणु की पर्याय तो परमाणु से ही हुई है। उसमें तीन काल में कोई उसका कर्ता-हर्ता नहीं है, परन्तु निमित्त किसका था, उससे कहें तो ऐसा भी कहा जाता है कि यह कार्य अमुक पुरुष ने किया। **इस न्याय से...** वापस इसका अर्थ ऐसा करे कि निमित्त से व्यवहार से तो किया जा सकता है या नहीं? झूठ बात है। परमाणु उसके कारण से परिणमते हैं और फिर व्यवहार से आत्मा करे, इसका अर्थ क्या हुआ?

मुमुक्षु : अनेकान्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनेकान्त अर्थात् क्या ? इसकी व्याख्या फुदड़ीवाद है कहीं ? जड़ की अवस्था जड़ भी करे और आत्मा भी करे, ऐसी दो बातें हैं ? ऐसा नहीं है। परन्तु निमित्तपने का ज्ञान कराने के लिये शास्त्र की रचना हमने की है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। ऐसा नहीं होने पर भी कहना, इसका नाम व्यवहार है।

इस न्याय से यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही। इस हिसाब से, व्यवहार। **इसलिए पढ़ने-सुननेवालों को उनका उपकार...** मानना। अपेक्षा से बात है। सुननेवालों को उनका उपकार मानना भी उचित है। जिनके शब्दों में जिनका निमित्त था, उनका उपकार मानना भी व्यवहार से यथार्थ है। **क्योंकि इसके पढ़ने-सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है,...** भगवान आत्मा, जैसा स्वरूप है, वैसा इस वाँचन से, अन्तर की योग्यता से वह समझने में आता है। **उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है,...** वास्तविक आत्मा का ज्ञान होने से, उसकी श्रद्धा होने से, उसमें आचरण अर्थात् रमणता का चारित्र भी प्रगट होता है। **मिथ्या ज्ञान, (मिथ्या) श्रद्धान तथा (मिथ्या) आचरण दूर होता है...** अस्ति-नास्ति की। सत्य समझने से मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या राग-द्वेष आचरण का नाश होता है। **परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका समाप्त हुई।**

मुमुक्षु : निरन्तर अभ्यास करे तो दूसरा काम कब करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी रटन लगाना चाहिए, इसका नाम निरन्तर अभ्यास। वकालत का अभ्यास करते होंगे, तब वहाँ कैसी लगती होगी ? ऐसी की ऐसी लगन लगी हो, यह का यह रटना और यह का यह करना और यह का यह करना। ... आहाहा! बारम्बार इसके अभ्यास की... वस्तु स्वरूप है, ऐसा तत्त्व है, सर्वज्ञों ने देखा हुआ, सर्वज्ञों ने कहा हुआ ऐसा ही स्वरूप वेदन में आवे, ऐसी जाति है। उसे इस अभ्यास द्वारा समझकर श्रद्धा करके आदरना चाहिए।

(अब पण्डित जयचन्द्रजी भाषा टीका पूर्ण करते हुए कहते हैं-)

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं;
देश की वचनिका में लिखि जयचन्द्र पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्प बुद्धिकूं पावनूं,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानन्द दरसावनूं।१।

यह सोलहवीं बार यह समयसार सभा में पूरा होता है। बत्तीस वर्ष हुए। सोलहवीं बार, पहले से यह (संवत्) २०२४ में भाद्र कृष्ण एकम को शुरु किया था। वह आज ढाई वर्ष में पूरा होता है। उसमें यह सोलहवीं बार यह पूरा होता है। ... समयसार नाटक की शुरुआत... नवनीतभाई की माँग थी, इसलिए हुई है, हों! .... बहुत बार आ गया, इसलिए यह समयसार नाटक....

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध... कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में सन्त मुनि आनन्दकन्द के अनुभव करनेवाले थे। उन्होंने प्राकृत गाथायें रचीं। **प्राभृतसमय...** समय ... सार—समयसार **शुद्ध आतम दिखावनूं।** पुण्य-पापरहित वस्तु का जो स्वभाव, उसे दिखाने के लिये समयसार कहा। **सुधाचन्द्रसूरि...** सुधा अर्थात् अमृत। अमृतचन्द्रसूरि ने यह टीका बनायी। **संस्कृत टीका वर...** यह भी प्रधान टीका, अलौकिक टीका। आहाहा! **आत्मख्याति नाम...** इसका नाम, टीका का नाम आत्मख्याति दिया। आत्मख्याति—आत्मप्रसिद्धि। ऐसा आत्मा है, ऐसा वाणी द्वारा वस्तु को—वाच्य को प्रसिद्ध किया है। **यथातथ्य भावनूं;...** जैसा है, वैसी इसकी भावना की है।

देश की वचनिका में लिखि जयचन्द्र... जयपुर के जयचन्द्र थे, उन्होंने प्रचलित भाषा में, देश अर्थात् प्रचलित वचनिका में लिखी। **पढ़ै संक्षेप अर्थ...** बहुत संक्षिप्त अर्थ लिखा है, कहते हैं। **अल्प बुद्धिकूं पावनूं,...** अल्पबुद्धिवाले को भी यह प्राप्त किया जा सकता है। महा गहन वस्तु है, अलौकिक वस्तु है। आत्मा अर्थात् क्या! उसने बताने के लिये ... है। साधारण बुद्धिवाले को समझने के लिये भी थोड़ा लिखा है। **पढ़ो सुनो मन लाय...** मन को उसमें रखकर, लगाकर **शुद्ध आतमा लखाय...** शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अकेला ज्ञाता-दृष्टा के सत्त्व-तत्त्व से लखाय अर्थात् ज्ञात होता है। **ज्ञानरूप गहौ...** वह तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यबिम्ब है। उसमें दूसरा विकल्प या शरीर, वाणी

कुछ है नहीं। ऐसा लखो, **गहौ चिदानन्द दरसावनूं।** ज्ञानानन्द को देखने के लिये ज्ञानरूप हूँ, ऐसा अनुभव करो।

समयसार अविकार का, वर्णन कर्ण सुनन्त;
द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखन्त।।२।।

समयसार का अविकारी समयसार अर्थात् आत्मा। सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण आनन्द का नाथ ऐसा निर्दोष आत्मा, उसका **वर्णन कर्ण सुनन्त...** वर्णन करनेवाले और सुननेवाले। **द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि,...** द्रव्यकर्म जड़, भावकर्म पुण्य-पाप के विकल्प, नोकर्म शरीर। तीनों को तजकर **आतमतत्त्व लखन्त।** भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य है, ऐसा लखन्त अर्थात् जानता है।

इस प्रकार इस समयप्राभृत (अथवा समयसार) नामक शास्त्र की आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसमें संस्कृत टीका का अर्थ लिखा है और अति संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है संस्कृत टीका में न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं। यदि उनका विस्तार किया जाए तो अनुमान प्रमाण के पाँच अंग... है। बहुत न्याय का विषय है। प्रतिज्ञा करना, हेतु बताना, उदाहरण—दृष्टान्त देना, उसके साथ उपनय रखना और अन्तिम योगफल करना। एक-एक बात में पाँच-पाँच... प्रतिज्ञा अर्थात् हम यह कहना चाहते हैं, उसका हेतु यह है, दृष्टान्त यह है, मेल यह है और योगफल यह है। ये पाँच बोल हैं। बहुत लम्बी बात है। साधारण जीवों को मस्तिष्क में (नहीं बैठती)। समझ में आया?

इन पाँच अंगों की **स्पष्टता से व्याख्या करने पर ग्रन्थ बहुत बढ़ जाए; इसलिए आयु,...** थोड़ी **बुद्धि,...** थोड़ी, **बल...** थोड़ा **और स्थिरता...** थोड़ी। ऐसी **अल्पता के कारण, जितना बन सका है उतना, संक्षेप से प्रयोजनमात्र लिखा है।** आवश्यकता आत्मा को समझने की और आत्मा का अनुभव करने की है, इतना प्रयोजनमात्र लिखा है। **इसे पढ़कर भव्यजन...** हे लायक आत्माओं! **पदार्थ को समझना। किसी अर्थ में हीनाधिकता...** हीन और अधिक दिखे तो **तो बुद्धिमानजन मूल ग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थ के गुरुसम्प्रदाय का (गुरु-परम्परागत उपदेश का)**

व्युच्छेद हो गया है,... महा अध्यात्मस्वरूप अलौकिक चीज़ है, उसकी परम्परा टूट गयी है। **इसलिए जितना हो सके, उतना–यथाशक्ति अभ्यास हो सकता है। तथापि जो स्याद्वादमय जिनमत की आज्ञा मानते हैं;...** वीतराग की आज्ञा माने, **उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि कहीं अर्थ को अन्यथा समझना भी हो जाए तो विशेष बुद्धिमान का निमित्त मिलने पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमत के श्रद्धालु हठग्राही नहीं होते।** जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा समझने के लिये वे जिज्ञासा रखते हैं।

अब, अन्तिम मंगल के लिए पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करके ग्रन्थ को समाप्त करते हैं–

मंगल श्री अरहन्त घातिया कर्म निवारे,
मंगल सिद्ध महन्त कर्म आठों परजारे,
आचारज उवज्झाय मुनि मंगलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे।

मंगल अरिहन्त भगवान चार कर्म का नाश करके परमात्मपद प्रगट किया सदेह, उन्हें अरिहन्त कहते हैं। **घातिया कर्म निवारे,...** उन्होंने घातिकर्म जो आत्मा की दशा में हीन करने में निमित्तपने के जो कर्म हैं, वे उन्होंने टाले हैं। **मंगल सिद्ध महन्त...** सिद्ध परमात्मा, उन्होंने तो शरीररहित होकर अकेला आत्मा आनन्दमूर्ति हुए हैं। महन्त अर्थात् मोटा आत्मा। सिद्ध ... हो गये हैं। **कर्म आठों परजारे,...** उन्होंने आठ कर्म का नाश किया है। परजारे अर्थात् जलाया है।

आचारज उवज्झाय... वीतरागी सन्त आत्मा के आनन्द के वीतरागपने के साधक, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और सच्चे तत्त्व के (ज्ञाता) मुनि अर्थात् स्वरूप के साधनेवाले। मंगल—तीन **मंगलमय सारे,...** तीनों मंगलमय हैं। **दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे।** आचार्य हैं, वे दीक्षा-शिक्षा देते हैं। **देय भव्यजीवनिकूं तारे।**

अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं,
मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं मंगल हेतु करार हैं।।१।।

अट्ठाईस मूलगुण के धारक, पंच महाव्रत, सामायिक इत्यादि अट्ठाईस (मूलगुण),

सर्वसाधु अनगार हैं,... जितने सन्त आत्मा के आनन्द के साधक हैं, वे सब ऐसे होते हैं। **मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं...** अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के चरणकमल को नमता हूँ। **मंगल हेतु करार हैं।** निश्चित वे मंगल के कारण हैं। मंगल हेतु करार है। मांगलिक के हेतु, पाप के नाश और पवित्रता की प्राप्ति में निमित्त हैं, ऐसा मंगल हेतु करार—निश्चित है। अब लिखनेवाले जरा अपनी बात करते हैं।

जैपुर नगर माँही तेरापंथ शैली बड़ी.. जयपुर विशाल नगर है, जैन की आबादी बहुत है, दो सौ तो मन्दिर हैं, दो सौ मन्दिर। दो बार गये हैं, यह तीसरी बार... **तेरापंथ शैली बड़ी...** बीसपंथ और तेरापंथी दो भाग है न? तेरापंथी शैली बड़ी। **बड़े बड़े गुनी जहां पढ़ैं ग्रन्थ सार है,...** महा बड़े-बड़े धर्मात्मा हैं, **जहां पढ़ैं ग्रन्थ सार है,...** ग्रन्थ का सार पढ़ते हैं।

जयचन्द्र नाम मैं हूँ... उसमें जयचन्द्र नाम का मैं एक हुआ, **तिनिमें अभ्यास किछू...** मुझे थोड़ा कुछ अभ्यास था। **कियो बुद्धिसारू...** मेरी बुद्धि प्रमाण। बुद्धिसारु अर्थात् बुद्धि प्रमाण मैंने शास्त्र का अभ्यास किया। **धर्मरागतें विचार है;...** धर्म के प्रेम से मैंने विचारकर **समयसार ग्रन्थ ताको देश के वचनरूप...** यह समयसार ग्रन्थ की प्रचलित भाषा में... **पढ़ो सुनौ करो निरधार,...** पढ़ो, नहीं तो सुनो, करो निर्धार भगवान आत्मा का, कैसा है यह आत्मा?

मुमुक्षु : सुनने से कुछ होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब व्यवहावर से ऐसा ही आता है। ऐई! सुना उसे कहा जाता है कि जो है, वैसा समझा तब उसने सुना कहा जाता है। यह सब बातें लम्बी करते हुए... पूरा नहीं होगा। वह शुरु करना है न? नहीं तो एक-एक में बहुत है। समझ में आया?

भाषा करी पढ़ो सुनौ करो निरधार... यह सुनकर, इन्होंने जो कहा है, वैसा अन्तर स्वसंवेदन आनन्द का भान होता है, तब यह पढ़ा और सुना—ऐसा कहने में आता है। ऐसी बात है। नहीं तो सुनकर ऊपर से निकाल डाला, ऐसा तो अनन्त बार किया। **आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय...** आपा अर्थात् स्वयं भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का धाम और पर अर्थात् पुण्य-पाप विकल्प से लेकर सब पर। **भेद जानि...**

दोनों की भिन्नता जानकर अन्तर में दोनों को पृथक्-पृथक् जानकर हेय—पुण्य-पाप आदि भाव हेय हैं, उन्हें त्यागकर **उपादेय गहो शुद्ध आतमकूं,...** शुद्ध चिदानन्द आत्मा को ग्रहण करो। देखो! **उपादेय गहो शुद्ध आतमकूं, यहै बात सार है।** कहो, सेठ! यह सार है।

संवत्सर विक्रम तण, अष्टादश शत और;
चौसठि कातिक बदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर।३।।

(संवत्) १८६४। कार्तिक कृष्ण दसमीं को यह ग्रन्थ पूरा हुआ। **इस प्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत समयप्राभृत नामक प्राकृत-गाथाबद्ध परमागम की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका अनुसार पण्डित जयचन्द्रजीकृत संक्षेप भावार्थमात्र देशभाषामय वचनिका के आधार से श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।**

मुमुक्षु : ... आना चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्होंने तो नाम भी नहीं डाला था। और किसी ने कहा, एक तो डालो। यह हिम्मतलाल पण्डित। पीछे से बहुत कहा। क्या करे? हिम्मतलाल जेठालाल शाह से बनाया हुआ यह गुजराती अनुवाद समाप्त हुआ। लो, अन्तिम।